

* श्रीकृष्णचैतन्यः शरणम् *

सवृत्तिकं

श्रीश्रीहरिनामामृत-त्याकरणम्

प्रथम-खण्डम्

संज्ञा-सन्धि-विष्णुपद-आख्यात प्रकरणात्-

‘अमृता’ ‘बालतोषणी’ टीकाद्वयोपेतम्

[धातुगणपाठादि परिशिष्ट सहितम्]

श्रीमन्माधवगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायाचार्य वर्येण वेद-षड्दर्शनेतिहास-पुराण-
शब्दानुशासन-ज्योतिष-काव्यालङ्कार-सङ्गीत-छन्दः-शास्त्रादि-

पारावारपारीणेन महामहोपाध्यायाध्यापकनिकरैः

परमबृहत्तमसिद्धसङ्क्षेप निषेवितपदपद्धतेन

वैष्णवसिद्धान्त राज्यरक्षणैक सेनापतिना

श्रीश्रील-सनातन-रूपानुगवरेण

परमहंसकुल मुकुट मणिना

श्रीश्रील-श्रीजीवगोस्वामि-चरणेन

विरचितम्

Amita-Krishna das

प्रकाशक

डालमिया जैन ट्रस्ट
नई दिल्ली



प्रकाशन तिथि

दीपमालिका, संवत् २०३१



मूल्य

प्रथम-खण्ड : ८) रु०
द्वितीय-खण्ड : १२) रु०
दोनों खण्ड एकसाथ : २०) रु०



प्रथम संस्करण

ग्यारह सौ प्रति

[सर्वस्वत्वं सुरक्षितम्]



मुद्रक

हरीनाथ सारस्वत

श्री प्रेम हरी प्रेस, वृन्दावन ।

प्रकाशकीय

श्री श्रीहरिनामामृत-व्याकरण नामक इस महान् ग्रन्थ के रचयिता श्री मन्माधवगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायाचार्य वेद-षड्दर्शन-इतिहास-पुराण-शब्दानुशासन ज्योतिष-काव्यालंकार-संगीत-छन्दः-शास्त्रादि विशारद, वैष्णव सिद्धान्त राज्य-रक्षणैक-कुशल एवं विश्व-वैष्णव-राज-सभा-सभाजन, श्रीश्री रूप-सनातनानुग, परमहंसकुल-चूडामणि श्रील श्रीजीव-गोस्वामी-चरण हैं ।

इस ग्रन्थ का बंगाक्षर में कई स्थानों से प्रकाशन हो चुका है । परन्तु देव-नागरी लिपिमें यह अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाया था । इस गुरुतर अभाव की ओर अनेक प्राचीन एवं अप्रकाशित गौड़ीय ग्रन्थों को देवनागरी लिपि में प्रकाशित करने वाले प्रकाण्ड विद्वान् गुरुपादपद्म कनिष्ठ, त्याग एवं तपोमूर्ति, कुमुम सरोवर निवासी (अधुना नित्यलीला प्रविष्ट) वावा श्रीकृष्णदास जी महाराज का ध्यान गया और वे अशक्त, जीर्ण-शीर्ण कलेवर होते हुए भी प्रकाशन के लिये इसकी पाण्डुलिपि तैयार करने में जुट गये ।

बाबा श्रीकृष्णदासजी महाराज उड़ीसा के कटक जिले के निवासी थे । उनका जन्म एक संभ्रान्त परिवार में हुआ था । बहुत चेष्टा करने पर भी उनके माता-पिता आदि का कोई परिचय प्राप्त नहीं हो सका है । वे बाल्यकाल से ही विद्यानुरागी, विरक्त-स्वभाव एवं भजन-निष्ठ थे । अपने ग्राम में छात्रवृत्ति-परीक्षा में उत्तीर्ण होकर वे कटक गये जहाँ उन्हें परम भागवत, वैष्णवाचार्य, कीर्तन-सम्राट श्रील श्रीमद रामदास बाबाजी महाराज के दुर्लभ दर्शन एवं उनकी अहैतुकी कृपालाभ का सौभाग्य प्राप्त हुआ । इसके पश्चात वे घर पर न रह सके । पन्द्रह वर्ष की आयु में ही अपने प्रिय स्वजन एवं घर-बार का सदा के लिये परित्याग कर सीधे नवद्वीप पहुँचे । वहाँ गुरुदेव के श्रीचरणों में आत्म-समर्पण कर समाज-बाड़ी में उन्हें स्वनाम धन्या श्रीश्रीललिता सखीजी (सखी माँ) का स्नेहासिक्त संरक्षण प्राप्त हुआ और वे उनके आदेशानुसार आश्रम के नाना प्रकार के सेवाकार्यों में संलग्न रहने लगे । नाम संकीर्तन में उनकी विशेष रुचि थी । वे संकीर्तन करते-करते भाव-विभोर हो जाते और उद्धाम नृत्य करने लगते ।

समाजबाड़ी में वेषाश्रम ग्रहण कर वे अपने गुरुदेव के आदेशानुसार वीस वर्ष की आयु में ब्रजमंडल चले गये । वहाँ अनेक स्थानों में धूम-फिर लेने के पश्चात कुमुम-सरोवर पर रहने लगे । इन्हों दिनों उन्होंने किसी विद्वान महात्मा से संस्कृत एवं भक्ति-ग्रन्थों का अध्ययन किया । बहुत प्रयत्न करने पर भी पता नहीं चल सका है कि उनके शिक्षा-गुरु कौन थे । वे अपने गुरु-आता रसिक चूड़ामणि श्रील गौरांग दास बाबाजी महाराज एवं श्रील राधाचरण दास बाबा जी महाराज (श्री रजनीदास बाबाजी महाशय) के बड़े कृपापात्र थे । उन्हीं के चरण-प्रान्त में रहकर उन्होंने भजन-साधन सम्बन्धी शिक्षा प्राप्त की ।

श्री बाबा कृष्णदासजी महाराज बड़े उदारचेता एवं परोपकार-निष्ठ महात्मा थे । वे यह देखकर बड़े दुःखी थे कि देवनागरी लिपि में गोड़ीय वैष्णव साहित्य का नितान्त अभाव है और ब्रजभाषा में लिखित अनेकों ग्रन्थ एवं वाणियां या तो अनुपलब्ध हैं या अप्रकाशित हैं । अतः वे प्राणपण से इस अभाव की पूर्ति में जुट गये ।

उन्होंने बड़ी लगन से अथक परिश्रम कर अनेक गोस्वामी-ग्रन्थों को देव-नागरी लिपि में और अधिकतर हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित किया । साथ ही ब्रजभाषा के अनेकानेक ग्रन्थों एवं वाणियों का संग्रह और सम्पादन कर उन्हें प्रकाशित किया । इस प्रकार उन्होंने गोड़ीय-वैष्णव सम्प्रदाय की अनुपमसेवा की । जीवन की शेष दशा में उन्होंने श्रीश्रीहरिनामामृत व्याकरण को दो टीकाओं के पाण्डुलिपि तैयार कर इसके मुद्रण की व्यवस्था की । इन दिनों वे बृन्दावन में

रमणरेतो स्थित श्रीजयदयालजी डालमिया के बगीचे में निवास कर मुद्रण कार्य का निरीक्षण करते रहे। परन्तु दुर्देववश अपने इस महान कार्य को पूरा होता न देख सके। घोर परिश्रम और कार्य करने की अपनी धुन में शरीर की आवश्यकताओं की ओर से उदासीनता के कारण उनका स्वास्थ्य बिगड़ता चला गया। इस ग्रन्थ के कुछ ही पृष्ठ छप पाये थे कि वे लगभग ६८ वर्ष की आयु में नित्यलीला में प्रविष्ट हो गये।

हर्ष की बात है कि श्रीगौरांग चन्द्र के अनुग्रह से आज बाबा श्रीकृष्णदास जी द्वारा संकलित एवं संपादित, 'अमृता' और 'बालतोषणी' नामक दो टीकाओं सहित इस ग्रन्थ के देवनागरी लिपि में प्रकाशन के साथ उनका संकल्प पूरा हो रहा है। इस अद्वितीय व्याकरण ग्रन्थ का उचित सम्मान करना तथा इसके प्रचार एवं अध्ययनादि कार्य में विद्यार्थीवृन्द को प्रोत्साहित करना सभी धर्मचार्यों, संस्कृताध्यापकों एवं विद्यानुरागी सज्जनों का परम कर्तव्य है। इन सभी महानुभावों से सविनय निवेदन है कि इस पवित्र नाममाला सहश व्याकरण ग्रन्थ के प्रचार में सहायक बनें और इसे भारत सरकार, राजकीय सरकारों, विश्व विद्यालयों आदि संस्थानों से मान्यता दिलवाने में अपना सहयोग प्रदान कर नित्य-लीला प्रविष्ट बाबा श्रीकृष्णदासजी के महान् परिश्रम को सार्थक बनायें।

हम आभारी हैं डालमिया-जैन-ट्रस्ट के जिनके अर्थानुकूल्य से इस विशाल ग्रन्थ का प्रकाशन संभव हो सका है, श्री फूलचन्द जी गुप्त के जिन्होंने ग्रन्थ के मुद्रण का भार अपने ऊपर लेकर प्रकाशन में सहायता की है, और वैष्णव-सम्प्रदायाचार्य श्रीरास बिहारी शास्त्री, एम. ए. व्याकरणाचार्य तथा श्रीहरिदास शास्त्री, न्यायाचार्य, काव्य-व्याकरण-सांख्य-मीमांसा वेदान्त तर्क-तर्क-तर्क-वैष्णव दर्शन-तीर्थ के जिन्होंने ग्रन्थ के प्रूफ देखने में अथक परिश्रम किया है। श्री हरिदास जी शास्त्री के हम ग्रन्थ की भूमिका लिखने और शुद्धि-पत्र तैयार करने के लिये भी विशेष रूप से आभारी हैं।

ग्रन्थ के मुद्रण में, विशेष रूप से प्रथम खंड के मुद्रण में जो अशुद्धियाँ रह गयी हैं उनके लिये क्षमा-प्रार्थना करते हुये हम पाठकों से अनुरोध करते हैं कि शुद्धि-पत्र की सहायता से उन्हें सुधार कर ही ग्रन्थ का उपयोग करनेकी कृपा करें।

विनीत
प्रकाशक



भूमिका



संस्कृत वाङ्मय तथा भारतीय दर्शन से किंचित् मात्र भी सम्बन्ध रखनेवाला ऐसा कीन होगा जो श्रीजीव गोस्वामी से भली भांति परिचित न हो ? सभी जानते हैं कि वे उन छः गोस्वामियों में से थे, जिन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभु के आदेश से व्रज के लुप्तीयों का उद्धार तथा विशाल और मूलभूत वैष्णव साहित्य का निर्माण कर वैष्णव धर्म की नींव को सुहृद् बनाया ।

श्रीजीव, रूप-सनातन के छोटे भाई श्रीबहुभ (अनुपम) के पुत्र थे । उनका जन्म गौड़ीय-वैष्णवाचायं स्वर्गीय श्रीबनमाली लाल गोस्वामी के ग्रन्थागार में सुरक्षित प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार संवत् १५८० में और अप्राकृत्य संवत् १६३५ में हुआ ।* अल्पावस्था में ही काव्य, व्याकरण, न्याय, दर्शनादि में पाइर्दृशिता लाभ कर वे वृन्दावन चले गये और श्री रूप-सनातन के आनुगत्य में पूर्ण वैराग्यमय और भजनशील जीवन विताने लगे । लगभग ६५ वर्ष वृन्दावन में रह कर उन्होंने जो महत्वपूर्ण कार्य किये, उनमें भागवत-सन्दर्भ, सर्व-सम्वादिनी, गोपाल चम्पू, माधव-महोत्सव और हरिनामामृत व्याकरणादि महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना प्रधान हैं ।

पंडित समाज में व्याकरण को बालशास्त्र कहते हैं । प्रश्न हो सकता है कि भागवत-सन्दर्भ जैसे दार्शनिक ग्रन्थों के प्रणेता पंडित-अग्रगण्य श्रीजीव गोस्वामी ने बाल-शास्त्र-विषयक “हरिनामामृत व्याकरण” की रचना क्यों की ? उत्तर यह है कि अन्य व्याकरणों को “बाल-शास्त्र” की संज्ञा भले ही दी जाय, पर हरिनामामृत व्याकरण के उद्देश्य और उसकी रचना-कौशल को देख इसे बाल-शास्त्र नहीं कह सकता । इसका महान उद्देश्य है व्याकरण अध्ययन-अध्यापन के बहाने शिक्षकों और छात्रों को कौशल पूर्वक हरिनामामृत का पान कराना । श्रीमद्भागवत में कहा है कि भगवन्नाम का उच्चारण किसी अन्य अभिप्राय से किया जाय तो भी सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ।

* कुछ लोगों का मत है कि उनका जन्म संवत् १५६८ में और अप्राकृत्य संवत् १६५३ में हुआ ।

संकेतं पारिहास्यं वा स्तोत्रं हेतनमेव वा ।

वैकृण्ठनामप्रहणभशेषाधहरं विदुः ॥

पतितः स्खलितो भग्नः संदृष्टस्तप्त आहतः ।

हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम् ॥

(श्रीमद्भाग ६. २. १४-१५)

इसलिये इस व्याकरण में पाणिनि - प्रणीत व्याकरण की संज्ञाओं के भगवान् के नामों पर इस प्रकार रखा गया है कि व्याकरण पढ़ते समय भगवन्नाम का आवृत्ति और भगवद् रूप, गुण, लीला आदि का स्मरण स्वतः ही होता रहे । उदाहरण स्वरूप इसमें 'स्वर' वर्ण को 'सर्वेश्वर' की ओर 'व्यञ्जन' वर्ण को 'विष्णुजन' की संज्ञा दी गयी है; क्योंकि जिस प्रकार भगवान् विष्णु सर्वेश्वर है और अन्यान्य देवी-देवता उनके अधीन रह कर विभिन्न प्रकार से उनका वैभव बढ़ाते हैं, उसी प्रकार 'स्वर' वर्ण वर्णों के ईश्वर हैं और 'व्यञ्जन' वर्ण उनके अधीन रह कर उनके ऐश्वर्य की वृद्धि करते हैं । 'व्यञ्जन' वर्ण न तो 'स्वर' वर्ण की सहायता के बिना उच्चारित होते हैं और न विभिन्न प्रकार के शब्दों की सृष्टि ही कर सकते हैं । इसी प्रकार 'ुरुलिंग', 'स्त्रीलिंग' और 'नपुंसक लिंग' का क्रमशः 'पुरुषोत्तम', 'लक्ष्मी' और 'ब्रह्म' लिंग की संज्ञा दी गयी है, 'विभक्ति' और 'पद' को क्रमशः 'विष्णु भक्ति' और 'विष्णु पद' की, 'बहुव्रीही' (समास) और 'द्वन्द्व' (समास) को क्रमशः 'पीताम्बर' और 'रामकृष्ण' की, तथा अन्य सभी संज्ञाओं को कोई न कोई ऐसी संज्ञा दी गयी है, जिससे उन संज्ञाओं के स्वरूप के संकेत के साथ भगवन्नाम का उच्चारण हो और भगवान् के रूप, गुण, लीला आदि से मन का संयोग हो ।

मनुष्य जीवन का महानतम उद्देश्य है भगवत्-प्रेम की प्राप्ति । भागवतादि शास्त्रों का अनुशीलन इस उद्देश्य की प्राप्ति में विशेष रूप से सहायक है, और शास्त्रानुशीलन का प्रथम सोपान है व्याकरण । हरिनामामृत व्याकरण के अध्ययन से प्रारम्भ से ही मनुष्य में भगवत्-प्रेम का बीजारोपण और तदनुकूल संस्कारों की सृष्टि होती है । इसी उद्देश्य से इस ग्रंथ की रचना की गयी है । ग्रंथ के मंगलाचरण में अपने इस उद्देश्य को व्यक्त करते हुए श्री जीव गोस्वामी ने कहा है -

"मक्तगण जिस प्रकार तुलसी की माला के सहारे कृष्ण-नाम जप करते हैं, उसी प्रकार वे व्याकरण के सूचों के सहारे नाम-जप कर सकें, इस उद्देश्य से मैं श्रीकृष्ण-नामाबलि का सूचों से ग्रन्थन कर रहा हूँ । इस माला के जप से श्रीकृष्ण-संग-जनित आनन्द की उपलब्धि होगी और व्याकरण शास्त्र में व्युत्पत्ति के साथ-साथ भागवतादि अप्राकृत शास्त्रों के अनुशीलन का अधिकार प्राप्त होगा ।

कलापादि व्याकरण को निरर्थक और वागाडम्बर पूर्ण देखकर ही मैं वैष्णवों के लिये इस हरिनामावलि-सम्पुटित व्याकरण की रचना कर रहा हूँ, जिससे व्याकरणरूप मरुप्रदेश में प्रकृत जीवनरूप जल की आशा से व्यर्थ भटकने वाले लोग हरिनामामृतरूप सुधा का स्वच्छंद पान कर तृप्त हो सकें ।”

परन्तु इस व्याकरण का अबलोकन करने पर समझने में देर न लगेगी कि यह केवल वैष्णवों के लिये ही नहीं, अध्ययन परामुख सभी व्यक्तियों के लिये, कितनी उपयोगी है । इसकी प्रक्रिया इतनी सरल है कि व्याकरण जैसे शुष्क और जटिल विषय को अति सरस और सुगम बना देती है । सूत्रार्थ समझने के लिये इसमें विवृति की आवश्यकता नहीं है । स्वल्पकाल में ही यह व्याकरण-शास्त्र में प्रीढ़ पांडित्य और अन्य व्याकरणों के सिद्धान्त, संज्ञा आदि का पूर्ण ज्ञान उपलब्ध करा देती है, क्योंकि इसमें सभी व्याकरणों का मन्थन कर, सबके सिद्धान्तों का सार लेकर, जो पद जिस प्रकार निष्पन्न होना चाहिये उस-प्रकार किया गया है ।

सरल होने के साथ-साथ हरिनामामृत व्याकरण की प्रक्रिया स्वाभाविक भी है । पाणिनि ने अ, इ, उ, ण, आदि चतुर्दश सूत्रों को गिंवजी के डमरू से उद्घोषित माना है । पर श्रीजीव गोस्वामी ने वर्णक्रम को स्वयं नारायण से उद्भूत होकर ब्रह्मा-नारद-व्यासादि क्रम से प्राप्त माना है । पाणिनि के अनुसार वर्णों का संगठन सूत्रों की संरचना के अनुसार होने के कारण मातृका क्रम या उच्चारण के स्थानानुसार नहीं है । पर हरिनामामृत व्याकरण के अनुसार वर्ण नारायण से उद्भूत होने के कारण स्वाभाविक उच्चारण के अनुसार संगठित हैं । श्रीमद्भागवत के “तेने ब्रह्महृदा य आदि कवये” (भा. १।१।१) और “प्रचोदिता येन” (भा. २।४।२२) इत्यादि वाक्यों से प्रामाणित है कि नारायण ने ही स्वनाभिकमलज ब्रह्मा के मुख से शब्द-ब्रह्म प्रकट किया है । यह भी श्रीमद्भागवत १२।६।४३ से प्रामाणित है कि नारायण से प्राप्त नादब्रह्म से ही ब्रह्मा ने अन्तःस्थ और उष्मादि अक्षरों को प्रकट किया है । श्रीजीव गोस्वामी ने इस प्रकार वर्णक्रम को नारायण से उद्घोषित मानकर व्याकरण में पाणिनि की आरोहवाद की पद्धति की जगह अवरोहवाद की पद्धति को स्थान दिया है, जो आस्तिकवाद का मूल है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के साथ ‘बाल-तोषणी’ ‘तद्वितोदीपनी’ और ‘अमृता’ टीकाएँ प्रकाशित हुई हैं । बाल-तोषणी टीका श्रीहरेकृष्ण आचार्य द्वारा लिखी गयी है । पर यह समास प्रकरण के २५८ सूत्र तक ही है । अवशिष्ट समास प्रकरण की टीका की पूर्ति श्रीगोपी-चरण दास ने ‘बाल-तोषणी’ के नाम से की है । तद्वित-प्रकरण की ‘तद्वितोदीपनी’ टीका

भी उन्होंने ही लिखी है। 'अमृता' टीका श्री गोपालदास द्वारा की गयी है। इनके अतिरिक्त एक अप्रकाशित टीका श्रीगोविन्ददेव-प्रस्त्यागार जयपुर में है। श्री भरत मल्लिक-कृत कारकोल्लास ग्रन्थ भी प्रस्तुत ग्रन्थ के काइक-प्रकरण पर अवस्थित है।

टीकाकार श्रीहुरेकृष्ण आचार्य का कहना है कि हरिनामामृत व्याकरण का आधार "लघु हरिनामामृत" नाम की एक संक्षिप्त व्याकरण है, जिसकी रचना श्री सनातन गोस्वामी ने की थी। पर इस संक्षिप्त व्याकरण को अन्य व्याकरणों की अपेक्षा रहती थी, हसलिये श्रीगीव गोस्वामी ने वृहदायतन "हरिनामामृत व्याकरण" का प्रणयन किया। हरिनामामृत के गोड़ीयमठ से प्रकाशित संस्करण में लघु-हरिनामामृत का मुद्रण परिशिष्ट के रूप में किया गया है।

संस्कृत भाषा के प्रचार और प्रसार के लिये हरिनामामृत व्याकरण एक बेजोड़ ग्रन्थ है। देवनागरी अक्षरों में इसका यह संस्करण विश्वविद्यालयों को अवसर प्रदान करेगा कि वे वाठ्य-पुस्तक के रूप में इसे अपना कर व्याकरण के अध्ययन-अध्यापन को सरल और रुचिकर बनायें।

—हरिदास शान्ति



श्रीश्रीहरिनामामृत-व्याकरणस्य

विषय-सूची



विषयः

पत्राङ्काः

मञ्जलाचरणम्
[ग्रन्थ प्रयोजनं,
ग्रन्थ फलं, भञ्ज्या
ग्रन्थनाम-निर्देशश्च]

१—७

१	संज्ञा-सन्धि-प्रकरणम् संज्ञा-प्रकरणम् सूत्रस्य षड् विधत्वम्	८—८१ ८—३० २८
	सन्धि-प्रकरणम् सर्वेश्वरसन्धिः विष्णुजनसन्धिः विष्णुसर्गसन्धिः	३१—८१ ३१—५७ ५८—७३ ७४—८१
२	विष्णुपद-प्रकरणम् नाम, नाम भेदाश्च सर्वेश्वरान्तः पुरुषोत्तमलिङ्गाः सर्वेश्वरान्तः लक्ष्मीलिङ्गाः सर्वेश्वरान्तः ब्रह्मलिङ्गाः विष्णुजनान्तः पुरुषोत्तमलिङ्गाः विष्णुजनान्तः लक्ष्मीलिङ्गाः विष्णुजनान्तः ब्रह्मलिङ्गाः विशेषण-लिङ्गाः कृष्णनाम-प्रकरणम् अव्ययशब्दाः	८२—११३ ८२—८७ ८७—११३ ११४—१२५ १२६—१३५ १३६—१७० १७१—१७२ १७३—१७६ १७७—१८१ १८१—२०३ २०२—२०३

३ आख्यात-प्रकरणम्	२०४—
अच्युतादि-संज्ञाः	२०५—
भावादि-परपद प्रक्रिया	२१२—
उपेन्द्राः	
अनिटो धातवः	२४८—
भवादि आत्मपद प्रक्रिया	२५८—
भवादि-मिथ प्रक्रिया	२६८—
अदादिः	३०७—
ह्वादिः	३३२—
दिवादिः	३३८—
स्वादिः	३४७—
तुदादिः	३५०—
रुद्धादिः	३५७—
तनादिः	३६०—
क्रथादिः	३६५—
चुरादिः	३७१—
णि-प्रत्ययान्ताः	३७६—
सनन्ताः	३८८—
यङ्गन्तां	४००—
चकपाणयः	
विभुः (नामधातुः)	४०८—
उपेन्द्र विद्यौ कश्चिद्विशेषः	४२२—
	४४७—



४५५
२११
२६७
२१६
२५१
२८७
३०६
३३१
३३७
३४६
३४८
३५६
३५८
३६४
३७०
३७५
३८७
३८८
४०८
४२१
४४६
४५५

श्रीश्रीहरिनामामृत-व्याकरणस्य (उत्तरार्द्धस्य)

ऋ विषय-सूची *

पत्राङ्काः

४५७—२२२

विषयाः

४. कारक-प्रकरणम्

वचनप्रयोग विधिः, सम्बन्धः,	४५७—४७५
कारकलक्षणं च	४७६—३४
कर्तृकर्मणी	३४—५४
द्विकर्मक-धातवः	५४—८८
यन्त्रप्रयोगेकर्तृकर्मविवेकः	८८—१४
अधिकरणम्	१४—१०४
अपादानम्	१०५—११२
सम्प्रदानम्	११३—११६
करणम्	११७
कारकानां परस्पर सन्देहे व्यवस्था	११८—१५८
उपर्युक्त विष्णु भक्तयः	१५८—१८८
अच्युताद्यर्थाः	१८८—२२२
आत्मपद-परपद-प्रक्रिया विशेषौ	

५. कुदन्त-प्रकरणम्

२२३—४५३

२२४—२३८

२४३

अच्युताभावाधोक्षजाम-प्रत्ययाः

२६१—२७८

२८१—२८२

३०८

विष्णुनिष्ठाः

कृत्वा-यप्

खमुण्-नमू

तु मु-ण कौ

अण्-खल्-यत्-यत्-वयपः

३१०—३१३

३४४

केलिम-णक-तुन-अन-णिनि-अत्-क-श-णाः

विषयः	पत्राङ्काः
अत्-ट-खश्-खनट्-खिणु-खुकण्-क-विष्-	
सक्-णिव-मनिप्-वनिप्-वनिप्-वयः	३७६
असि-खश्-णिनि-विष्-वनिप-	
अच्-ड-वनिप्-तृन्-इणु-स्तु-वनु-घिणुनः	३८६
णक-अन-उकण्-आकट्-आलु-वमर-घुर-कुर-वरप्-अक-	
र-ह-कि-नजिड्-आरु-वर-विष्-उच्-त्र-इत्राः	४०८
उणादयः	४०९
निय-ग्र-घण्-अल्-ण-द्य-विष्-अथु-न त्ति-	
डाप्-इक्-श्-तिप्-इण्-अन-टनाः	४४८
कुदन्ते पत्वानि	४५१
 ६. समास-प्रकरणम्	
समासप्रकारास्तत् संज्ञाश्च	४५४—६७१
श्यामरामः	४५५—४५६
दिक्-कृष्णपुरुषः	४५६—४८०
त्रिरामी-कृष्णपुरुषः	४८०—४८१
नन्दकृष्णपुरुषः	४८१
द्वितीयादि-कृष्णपुरुषाः	५०५
अन्यपदार्थप्रधानः कृष्णपुरुषः	५०५—५१०
पीताम्बरः	५१०—५२१
रामकृष्णनिर्णयस्तदादिलिङ्गनिर्णयश्च	५२१—५४१
अव्ययीभावः	५४१—५४६
समाससाङ्कर्य व्यवस्था, केवलसमासाश्च	५४७—५६०
पूर्वपरनिपाताः	
एकशेषः	५६०—५६५
अलुक् त्रिविक्रम विविश्च	५६६—५७४
वामन विधानं पुंवद्भावश्च	५७४—५८८
सहस्र सः, समानस्य सः, समासाश्रयविविश्च	
समासेषत्व णत्व-विधानम्	६००—६२८

विषयः	पत्राङ्काः
विष्णुसर्गस्य ष-स-विधानम्	६२८—६३०
उत्तर पदादेशः	६३०—६५०
अपरस्पर-पृष्ठोदरादि-साधुशब्दाः	६५०—६५१
द्विरुक्ति-प्रकरणम्	६५१—६७१
७. तद्वित-प्रकरणम्	६७२—११२५
तद्वित-कार्याणि	६७३
समासान्ताः (अरामादिः)	७४७
केशवारामः	७४७—७५६
अरामः	७५६—८०५
कप् प्रत्ययो लक्ष्मीप्रकरणञ्च	८०५—८०६
प्रत्ययपरिभाषा	८१२—८४६
अपत्य-गोत्रापत्यादि-तद्विताः	८४६—८८१
रक्त-देवता-समूह तद्विताः	८८२—८७०
तदधीते वेद, दृष्टं साम, परिवृतः	८७८
युक्तःकाल इत्यादि-तद्विताः	८८६—८८७
स्मरहर-चातुर्थिका स्तद्विताः	८८८—८८९
शेषार्थ-तद्विताः	८८९—८९०
तत्र जातः, स्थितः, कालादित्यादि	८९०—९०६
तत्र भवस्तस्य व्याख्यानञ्च, तत्र आगतः,	९०६—९०७
भक्तिः तेन प्रोक्तम्, तस्येदमित्यादि	९०७—९२८
विकारार्थस्तद्विताः	९२८—९३२
तेन द्विव्यति संस्कृतमित्यादि	९३२—९४०
तस्याबै त्वतापौ, निमनिर्यश्च	९४०—९०१२
स्वार्थिका भवन क्षेत्राद्यर्थस्तद्विताः साधुशब्दाश्च	९०१२—९०४४
पूरणार्थी अजादयस्तद्विताः	९०४४—९०४५
क-इनि-मतु-ल-प्रभृति-प्रत्ययाः,	९०४५—९०५८
आमयावि-प्रभृति-साधुशब्दाश्च	९०५८—९०६८
आ-आहि-धा-पाश-चर-रूप्य-	९०६८—९०७८

विषया:

तराम्-तमाम्-क-प्रभृति-प्रत्ययाः
 तरद्, इवार्थे क-प्रभृतयः, कृत्वसुः-मयडादयः
 स्वार्थ-प्रत्ययाः, तस्-शस्-आचश्च
 कृद्योगे आन्, अभूततदभावे विः, सति प्रयोगश्च
 ग्रन्थोपसंहारः

पत्राङ्काः

१०९४

१०९८

११०५—१११३

१११३—११२०

११२१—११२५



श्रीश्रीहरिनामामृत व्याकरण (प्रथम-खण्ड)

✽ शुद्धिपत्रम् ✽

१०	४०	अशुद्धः	शुद्धः
१	१३	शब्दा	शब्दा
२	२	कषणं	कषणं
३	१८	गण	गुण
४	७	नुदिश्य	नुदिश्य
४	२८	बहूनि	बहूनि
५	२८	पारानम्	पारानाम्
६	३१	भूयार्णं	भूतार्णं
६	३१	भूतार्णं	भूतार्णं
८	४	ब्रह्म	ब्रह्म
९	१८	उभयाश्वा	उभयश्वा
११	२२	“अत्र क-ष-संयोगेक्ष-—दशितः”	इत्यंशः सम्पातायातः
१२	”	स्वरश्व	स्वरश्व
”	”	शब्द	शब्द
”	”	बृहद्	बृहद्
”	२६	संज्ञामाह	संज्ञामाह
१३	१८	बोध्यम्	बोध्यम्
”	२३	बलशामो	बलशामो
१४	१५	बहु	बहु
”	१६	बल	बल
”	२३	बले	बले
१५	१०	बले	बले
”	११	बृहद्	बृहद्
”	१७	ग्रन्थ कृचिः	ग्रन्थ कृदभिः
१६	८	अनश्च	अणश्च
”	८	इनश्च	इणश्च
”	२८	बृहद्	बृहद्
”	२०	बलदेवादि	बलदेवादिः
”	२२	बलदेवः	बलदेवः
१७	८	बलात्	बलात्

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
	२०	वन्धा	वन्धा
"	२५	वक्ष्यामाण	वक्ष्यमाण
"	२२	व्यव्यन्नेति	लवेष्यव्यव्यन्वेति
१८	१३	ब्रह्म	ब्रह्म
२०	१६	बल-बलराम-बल	बल
२१	४	छफश्च	छवश्च
"	१७	छिनतीति	छिनतीति
२२	१२	हरिवेणः	हरिवेणुः
"	१८	यवरलाः	यवरलाः
२५	१३	समष	समीप
"	१८	सामन्यतो	सामान्यतो
"	२०	कथम्भूतस्थ	कथम्भूतस्थ
२६	२२	विट्पुपदीदो	विष्णुपदादौ
२७	१५	ग्रन्थकृदिः	ग्रन्थकृदिः
"	२३	अदेशो	आदेशो
३६	१७	सूज्जे	सूत्रे
५१	६	तमालोनु	तमालोनूइ
५३	७	ईशस्यानेकात्मके	ईशस्यान्यैकात्मके
६०	२४	बलरामस्येत्यर्थः	बलरामस्येत्यर्थः
६१	३३	उत्युदाहरणम्	इत्युदाहरणम्
६३	१६	प्रपूर्वाति	प्रपूर्वाति
६४	१८	युज्यने	युज्यते
६५	६	मशापो	मरामो
"	२४	विष्णुजनत्वा	विष्णुजनत्व
६६	१५	नभिप्रेतः	नाभिप्रेतः
६७	८	आङ्ग्यां नित्यम्	आङ्गमाङ्ग्यां नित्यम्
"	१२	दपिपदान्ताच्च	दपिपदान्ताच्च
६८	२	वामनात् डणवाः सर्वेष्वरे	वामनात् डणनाद्विः सर्वेष्व
"	३३	ररामाविति	ररामाविति
६९	१८	ब्रह्मोति वृहि	ब्रह्मोति वृहि
७०	२	ब्रह्मा ब्रह्मा	ब्रह्मा ब्रह्मा
७२	२	पटत् पटेति	पटत् पटदिति पटतपटेति
"	३८	विष्णुचक्र विष्णुचार्जे	विष्णुचक्र पूर्वो विष्णुचार्जः
७५	२८	इयनेन	इत्यनेन
७६	२७	विष्णुसगः	विष्णुसगः

३०	४०	अशुद्धः	शुद्धः
७७	१५	स्पष्टीकृतम्	स्पष्टीकृतम्
"	"	इत्यसान्धः	इत्यसन्धिः
८१	२७	समापियति	समापयति
८२	१८	समानत्वं	समानत्वं
"	२८	उक्तपिति	उक्तपिति
"	३४	इत्यने	इत्यनेन
"	५	तेषा	तेषां
"	६	विधु	विष्णु
"	३३	वर्जयित्वेति	वर्जयित्वेति
"	३५	धातुविष्णुशक्तिः	धातुविष्णुमत्तिः
"	"	संख्यातः	संख्यातः
८४	१३	असन्मत	अस्मस्मले
"	२४	व्यवहारात्	व्यवहारात्
८५	४	शब्दस्पर्शादिको	शब्दस्पर्शादिको
"	१०	नामः	नामः
"	१३	विष्णु प्रत्येकं	विष्णुमत्तयः
"	३०	लक्षणमिदं	लक्षणमिदं
८६	२	जशद्	जशट
"	३	अनुवन्धश्च	अनुवन्धश्च
"	५	इस	इत्
"	३४	स्वादिनामात्	स्वादिनामात्
८७	२	जट्याः	जटणाः
८८	१३	ऊठादीदां	ऊठादीनां
"	१७	इती भवन्ति	इद् भवन्ति
"	२८	अन्त्यो	अन्त्यो
"	३०	मुराम्यदिश्च	मुरामादिश्च
८९	१५	पूर्वनिमित्तं	पूर्वनिमित्तं
९१	२१	शस्त्राभाव	शस्त्राभावात्
"	३१	सूच्यते	सूच्यते
९२	५	कृत-	कृत-
१००	११	रामपराः	रामहरा
१०१	८	नेस्त्रयो	त्रेस्त्रयो
"	२३	परभ	परम
१०२	२६	बहुवचनश्चेत्यर्थः	बहुवचनश्चेत्यर्थः
१०३	१८	मदे	मेदे

पू०	५०	अशुद्धः	शुद्धः
१०६	२	बहुलम्	बहुलम्
"	१०	सवश्वरे	सवश्वरे
"	२६	विषेशणम्	विशेषणम्
"	२७	अपूर्व विधानम्	अपूर्व विधानम्
१०७	१६	सवश्वरत्वाभाव इतिम्,	सवश्वरत्वाभाव इति भावः
"	२२	पुनभूः	पुनभूः
१०८	७	सखिभ्यात्यादि	सखिभ्यामित्यादि
१११	२८	रसम्भवात्	रसम्भवात्
११३	६	पुलिङ्गाः	पुरुषोत्तम लिङ्गाः
"	१०	"	"
"	१८	"	"
११४	१	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
"	७	राधाया एः	राधाया ए
"	१२	याधयति	राधयति
"	२४	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
११५	१	"	"
"	३	सम्बोधने	सम्बोधने
"	४	बहिरङ्गः	बहिरङ्गः
"	६	बलवानिति	बलवानिति
११६	४	निर्जर	निर्जर
११७	१	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
११८	३	भक्तये	भक्तये
११९	१	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
"	१६	कोमुद्याः	कोमुद्याः
१२१	१	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
"	२४	उणादिनो	उणादिनो
१२३	१	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
"	१०	ग्रन्थकृन्मतं	ग्रन्थकृन्मतं
"	२१	तदेवोपन्यस्यति	तदेवोपन्यस्यति
"	"	गतिकारकेतर	गतिकारकेतर
१२४	३	बह्वेवं	बह्वेवं
१२५	१	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
"	१३	"	"
"	२४	"	"
"	२७	तिलक्ष्मीदिति	अतिलक्ष्मीरिति

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
१२५	६	अनितुवामिति	अनियुवामिति
"	३३	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
१२६	१	नपुंसकलिङ्गाः	ब्रह्मलिङ्गाः
"	२१	"	"
१२७	१	सर्वेश्वराणां नपुंसकलिङ्गाः	सर्वेश्वरान्ता ब्रह्मलिङ्गाः
१२९	१	नपुंसकलिङ्गाः	ब्रह्मलिङ्गाः
"	३	ब्रह्मे	ब्रह्मे
"	१८	तस्येद	तस्येदं
१३०	१५	षष्ठा	षष्ठां
१३१	१	नपुंसकलिङ्गा	ब्रह्मलिङ्गाः
"	२२	यतोऽतिवोपिना	यतोऽतिगोपिना
"	२८	भवती	भगवती
१३२	२	मौशान्तं ब्रह्म	मोशान्तं ब्रह्म
"	१६	पुरुषोत्तमवच्य	पुरुषोत्तमवद्रूपं
१३३	१	सर्वेश्वरान्ता नपुंसकलिङ्गाः	सर्वेश्वरान्ता ब्रह्मलिङ्गाः
"	२	विष्णुभक्ति	विष्णुभक्ति
"	२१	प्रत्यान्तवद	प्रत्ययान्तवद
"	२८	विष्णु	विष्णु
१३५	१	नपुंसकलिङ्गाः	ब्रह्मलिङ्गाः
"	२	षब्दानां	शब्दानां
"	५	नपुंसकलिङ्गाः	ब्रह्मलिङ्गाः
"	१५	"	"
"	२०	"	"
"	१६	हेतुस्तु उच्चवाधपरः	नास्त्येवपाठः
१३७	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
"	७	भवगाच्चशूरः	भगवाच्चशूरः
"	११	त्यादौ	इत्यादौ
१३८	५	रुदग	रुदव
"	२२	ररामेस्य	ररामस्य
१४०	२	गो विष्णुपदान्ते	गो विष्णुपदान्ते
१४१	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
"	८	राधा	राधा
१४३		नामन्तस्येति	नामान्तस्येति
"	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
१४४	३	महातम्भ	महान्तम्

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
१४५	१	पुलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
"	२१	प्रभृतीसां	प्रभृतीनां
१४६	५	निक्षु	निच्छु
"	८	सध्वोश्च	सध्वोश्च
१४७	१	पुलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
"	३	पुण्ड्रप्	पुण्ड्रप्
"	३३	पर्वतम्	पूर्वमत्
१४८	२०	मयतेदिति	मापतेदिति
"	३०	वेतमाह	हेतुमाह
१४९	१	पुलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
"	२०	रननिति	निति
१५०	१४	भावो	भावो
"	२३	रिदतोः परस्यः	रिदुतो परस्य
"	२५	ताराम निर्देशः	साराम निर्देशः
१५१	१	पुलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
"	१५	निमित्तत्य	निमित्तत्व
"	१६	वर्त्तन	वर्त्तन
"	"	त्रिथिकम्	त्रिविकम्
१५२	१५	परे	परे
१५३	१	पुलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
"	१२	रघणान्त	रघनान्त
१५४	१३	तस्मादद्वाते	तस्मादुद्ववस्य
"	१६	रघणान्तेति	रघनान्तेति
"	२५	विष्णुभक्तिस्विति	विष्णुभक्तिष्विति
१५५	१	पुलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
"	१०	रघणान्तेति	रघनान्तेति
"	१७	प्रियाष्टु	प्रियाष्टः
१५६	४	भवयोश्च	मवयोश्च
"	५	फलि	ज्ञलि
"	३०	अविष्णु	अविष्णु
१५७	१	पुलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
"	४	रघणान्तति	रघनान्तेति
१५८	६	दधृषौ	दधृषौ दधृषौ
"	१२	रघणान्तेति	रघनान्तेति
"	३०	हरे कृष्ण-प्राशिति	हरे ॥ कृष्णप्राशिति ।

१०	५०	अशुद्धः	शुद्धः
१५८	१	पुलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
"	३	मयदयेवेति	‘मयदयेव’ इति
"	६	षणदति	षणदति
"	१८	हतिवेणुविधिः	हरिवेणुविधिः
"	२१	हरियेणुविधिः	हरिवेणुविधिः
"	३०	भृतस्य	युक्तस्य
"	३१	नयति	नवति
१६०	७	सपि	सपि
"	११	मतीनां	मतीनां
"	३४	प्रियदषामिति	प्रियषामिति
१६१	१	पुलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
१६२	१३	शेषस्व	शेषस्व
१६३	१	पुलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
"	१०	दादेस्व	दादेस्तु
१६४	८	कंसहिसौ	कंसहिसौ
"	१५	जान्त	सान्त
"	१६	स्यादिति	स्यादिति
"	२०	राम	अराम
१६५	१	पुलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
"	२५	हह	इह
"	३१	ॄवस्त	ॄवस्त
१६७	१	पुलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
"	३	ओणादिकसस्यास्य ... तत्व	ओणादिकसस्यास्य ... षत्व-
"	५	दिष्णुसर्गत्वच्च	विष्णुसर्गत्वच्च
"	८	विष्णुपदान्त	विष्णुपदान्त
१६८	१०	कंसद्विदसु	कंसद्विदसु
"	११	राधाविष्णुजताम्यालिति	राधाविष्णुजनाम्यामिति
"	२२	वासुदेवः	वासुदेवः
१६९	१	पुलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
१७०	११	"	"
"	२०	"	"
"	२८	"	"
१७१	१	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
"	१५	प्रियवर्तसौ	प्रियचरत्सौ
"	२३	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः

१३०	४०	अशुद्धः	शुद्धः
१३१	२५	प्रियचत्तस्येति	प्रियचत्तस्येति
१३२	२१	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
"	२४	"	"
१३३	१	नपुंसकलिङ्गाः	ब्रह्मलिङ्गाः
"	२४	"	"
"	२८	सुम्	नुम्
"	५	कंसहिसो	कंसहिसो
१३५	१	नपुंसकलिङ्गाः	ब्रह्मलिङ्गाः
"	१७	सुपन्थासीति	सुपन्थासीति
"	२८	दीघार्हेदि	दीघार्हेति
१३६	७	अपुंसकलिङ्गाः	ब्रह्मलिङ्गाः
"	१८	इतिन पुंसकालिङ्गाः	इति ब्रह्मलिङ्गाः
१३७	२	संज्ञाविषेषादौ	संज्ञाविषेषादौ
"	२०	पायश	प्रायशः
"	१७	विष्णुभक्तिः	विष्णुभक्तिः
१३८	२	विशेषणाम्	विशेषणम्
"	७	मुदाहृतमिति	मुदाहृतमिति
१३९	६	स्वलिङ्ग	स्वलिङ्गः
"	१०	द्वैविद्यतात्	द्वैविद्यात्
१४०	३	बहूनां	बहूनां
"	१७	द्विवनादिकं	द्विवेनादिकं
"	२०	पदैते	पदैते
"	३३	व्ययस्था	व्यवस्था
१४१	१२	पठितानामधिक	पठितानामधिक
१४२	५	सप्तकं	सप्तकं
"	१४	विधेरभ्युपगमात्	विधेरभ्युपगमात्
"	१५	दर्शयति	दर्शयति
"	२१	कलस्यपदायांवेत्यर्थः	कालस्यपदायायेत्यर्थः
१४४	२०	स्फुर्यति	स्फुर्यति
१४५	२५	हेत्वात्	हेत्वर्थात्
१४७	२८	जातीयाऽरयववतीयस्या	जातीयावयवतीयस्यार्थः
१४८	१८	अनुपश्चत्	अनु पश्चात्
१४९	५	इदमक्	इदमकम्
"	१९	संसारस्यारामः	संसारस्यारामः
१५०	५	अम्	अम्

पृ०	प०	अगुद्धः	शुद्धः
१८१	५	नद्रेमः	नद्रेमः
"	२६	भांवात्	भावात्
१८२	१२	पुमरौ	पुनरौ
"	२७	आवात्	आत्माम
"	३१	एवमतिययमित्यादि	एवमतियूयमित्यादि
१८३	८	युष्मस्यं	युष्मस्यं
"	१०	अस्माकं मित्येषां	अस्माकमित्येषां
१८४	१७	स्फटम्	स्फुटम्
"	२०	नित्य	नित्य
१८५	२३	पदादौ	पादादौ
१८६	५	कथं "मुचितं	कथमुचितं
१८७	२	तौ हौ	तौ हौ
"	१३	पर सप्तम्येय	परसप्तम्येव
१८८	१६	प्रतिसिद्धे	प्रतिसिद्धे
"	३२	वभति	भवति
२००	१६	उत्तर पूर्वा	उत्तर पूर्वा
"	२८	पूर्वादिय	पूर्वादिय
२०१	२	अथनपुंसके	अथब्रह्मणि
२०२	४	स्व	स्वः
"	१०	सदृशांत्रषु	सदृशं त्रिषु
२०३	२	प्रायदश्च	प्रायदश्च
"	४	एषामित्यर्थवत्वात्	एषाम्' इत्यर्थत्वात्
"	७	— — — —	इति कृष्णनाम प्रकरणम् ॥
"	१२	प्रादिष्यश्च	प्रादिष्यश्च
२०४	११	अकाशात्	सकाशात्
"	२२	निखिलाम्नायवेद्यस्य	निखिलाम्नाय वेद्यस्य
"	३१	भू सन्नतौ, भूसन्नतौ	भूसन्नतौ, भूसन्नतौ
२०५	८	व्याधिकार	व्याधिकार
"	१२	अधिकार भेदः	अधिकार भेदः
"	२१	पीताम्बो	पीताम्बरो
"	२५	विधि	विधि
"	२७	द्विविधिस्य	द्विविधिस्य
२०७	१५	मद भिन्नो	तद भिन्नो
"	२०	नपपत्तेः	नुपपत्तेः
२०८	३	यास्म	यास्म

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
२०८	६	बाल	बाल
"	८	श्वस्ती	श्वस्तनौ
२०९	१०	भगवदतार	भगवदवतार
२१०	८	ईत	ईत
"	१८	प्रथम	प्रथम
"	१९	भगवन्नामत्वम्	भगवन्नामत्वम्
"	२१	भगवन्नामता	भगवन्नामता
२१२	१८	भ्वादे श्वरादेश्वशप्	भ्वादेश्वशप्
२१३	१३	३पीति	३पीति
२१४	३२	हिनि	हिनु
२१५	२०	उपसगति	उपसर्गति
२२१	८	महाहरेहि	महाहरेपि
२२२	२३	नेद्य	नेट्य
२२३	४	अभाविषताम्, अभविषताम्	अभाविषताम्, अभविषताम्
"	२७	वृष्णीन्द्रादिकमेष	वृष्णीन्द्रादिकमेव
"	३२	अरामन्य	अरामान्य
२२४	२४	३ल०	बाल०—
"	३०	ननेति	विनेति
२२६	७	वद्वव्युः	वभूव्युः
"	३४	अधोज्ञ सर्वेषर परत्वाभावादिति	अधोज्ञ सर्वेश्वर परत्वाभावादिति
२२७	३	निर्गुणः	निर्गुणः
"	२५	अभविष्यतेत्यादि	अभविष्यतेत्यादि
२२८	७	वेत्तिम्यो	वेत्तिम्यो
२३०	३२	नस्कुटति	नस्कुटति
२३१	३	विद्यादी	विद्यादी
"	३	स्काटनु	स्फोटनु
"	४	अस्फाटनु	अस्फोटत्
२३२	३	अम्यो	अन्यो
"	२	स्फोटिषीष्ट	स्फोटिषीष्ट
"	२५	कपिशत्वान्नरामहरः	कपिलत्वान्नरामहरः
२३३	१२	सतृपताराद्	सतृपतापाद्
२३४	५	हरिकयलम्	हरिकमलम्
"	८	वस्यापि	वस्यापि
२३५	८	मध्यस्या	मध्यस्या
२३६	२	तफल	तृफल

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
२३६	६	तस्मद	तस्माद
"	३१	नैत्वादी	नैत्यादी
२४३	४	यादयश्वादय	यादयश्वायादयश्व
"	१०	उवीरवेत्यत्र	उवोरेत्यत्र
२४७	१०	घन् पपी	घनयपी
२४८	६	युजिभृज्ञि	युजिभृज्ञि
"	१०	स्वजिरुद्धवो	स्वजिरुद्धवन
२५०	४	यम	जमि-यमयो
२५२	१४	इत्युक्ता	इत्युक्तत्वादादिरेवगृहीतः
२५३	७	र, वः	र-व-प्राक'
"	११	पुररिह	पुनरिह
"	२१	द्विवंत	द्विवंचन
"	३३	मन्थत्र	मन्थत्र
२५५	१०	ज्ञेयम्	ज्ञेयम्
"	२६	इत्येताभ्याच्चौरे	इत्येताभ्याच्चोत्तरे
२५६	३	परपदै	परपदे
"	१७	प्रप्ते	प्राप्ते
२५७	४	आय इयङ्	आय ईयङ्
"	११	सामध्यादेवात्र	सामध्यदिवात्र
२५८	३	गोपाल्यादित्यादौ	गोपाल्यादित्यादौ
"	१४	कर्मणि	कर्मणि
२५९	५	षिव्वाचमुक्तमा	षिव्वाचमुक्तमां
"	१६	वेष्णवत्वा	वेष्णवत्वा
"	१७	भवेन	भावेन
"	२१	ग्रहणम्	ग्रहणम्
२६०	२	चम्यामि	चम्यमि
"	२८	सहचर्यति	सहचर्यति
"	३२	क्रमस्त्रिक्रमो	क्रमस्त्रिविक्रमो
२६२	१५	रित्यत्मपदं	रित्यात्मपदं
"	१८	हमस्यान्ते	हमस्यान्ते
२६३	२	र-वः	र-वः
२६५	४	वर्देति	अवार्देति
"	२६	मानियमि"	मनियमि
२६६	६	सकोऽन्तरहरः	सकोऽन्तरहरः
"	७	ननु वहुवम्	ननु बहुत्वे

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
२६८	१	श्रीश्रीहरिनाममृत-	श्रीश्रीहरिनामामृत-
"	८	परत्थाम् गत्वं	परत्वान्नत्वं
२६९	६	व्यावाये	व्यवाये
"	२२	कुत्त्वाडिति	कुप्याडिति
"	३१	सवैश्वर	सवैश्वर
२७१	२	द्विवचनम्	द्विर्वचनम्
"	३४	सहस्रवैश्वरान्त	सहज सवैश्वरान्त
२७२	१	व्याकरणम्	व्याकरणम्
"	८	कर्त्तरि	कर्त्तंशि
"	२२	कान्तिक्षलः	कान्तिक्षयः
२७३	३	द्विवचनम्	द्विर्वचनम्
"	५	आरामादान	आरामादन
"	१३	द्विवचनम्	द्विर्वचनम्
"	"	"	"
"	३१	नरये	नरस्य
२७४	१०	सामर्थ्यदिव	सामर्थ्यदिव
२७५	८	पनिमित्तस्य	पनिमित्तस्य
"	७	वर्गज	वर्गज
"	२५	सिद्धर्थमिष्यि	सिद्धर्थमिति
२७६	८	दृश्यदृश्यतयो	दृश्यदृश्यतयो
"	"	यथो	ययो
"	१०	अस्मार्पीत्	अस्मार्पीत्
"	१३	स्थानित्वात्	स्थानिवत्त्वात्
"	१३	सात्व	सात्वतः
"	१७	सत्सङ्गाद्यदन्त	सत्सङ्गाद्यदन्त
"	१८	कापालस्य	कामपालस्य
"	१८	वृष्णीन्द्रा	वृष्णीन्द्रा
"	१८	निषद्गो	निषिद्गो
२७७	८	नियतान्नि	नियमान्नि
"	१०	हरिम्यामिट्	हनिम्यामिट्
"	१२	द्युदन्ताच्च	दृश्यदन्ताच्च
"	१७	दृथदन्त	दृथदन्त
"	२१	विधिताल	विहित कपिल
"	"	दृथदन्त	दृथदन्त
"	२२	यग्रहणेनात्म	यग्रहणेनात्म

पू०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
२७७	२७	मिथि	मिति
,,	२८	दित्यादनविति	दित्यादाविति
,,	३०	लणणे	लक्षणे
,,	३१	सत्तवि	सत्यपि
२७८	८	ऋद्वयान्त	ऋद्वयान्त
,,	,,	दृश्योगोविन्दो	दृश्योगोविन्दो
,,	८	ऋरमान्तानां	ऋरमान्तानां
,,	१२	प्रत्यये	प्रत्यये
,,	१३	चिविक्रमः	चिविक्रमः
,,	१४	प्रतिषेधति	प्रतिषेधति
,,	१५	शास्त्र्य	शास्त्र्य
,,	२६	भवति	भवति
,,	२८	त्रिविक्रमः	त्रिविक्रमः
,,	,,	धानुके	धानुके
२७९	७	दृचदन्तदो	दृचदन्तयो
,,	९	तदुत्	तदेतत्
,,	१५	प्रासोयो—निषेधः	प्रासोयो—निषेधः
,,	२०	नामधातौ	नामधातौ
,,	२४	आत्मपदं	आत्मपदं
,,	३२	उपेन्द्र	उपेन्द्र
,,	३५	निषेध	निषेध
२८०	४	उश्वनो	उश्वनो
,,	६	निर्गुणे	निर्गुण—
,,	८	शृणुयात्, शृणुयात्,	शृणुयात्
,,	,,	शृणोतु	शृणोतु
,,	५	श्रुवणे	श्रवणे
,,	,,	स्फाने	स्थाने
,,	१२	हस्तवान्त	हस्तवान्त
,,	,,	कथ	कथ
,,	१४	रुवादेः	रुधादेः
,,	१५	शृणुते	शृणुते
,,	२०	उराभस्य	उरामस्य
,,	,,	छरो	हरो
,,	२४	कमदीश्वरादतस्तु	कमदीश्वरादयस्तु
२८१	३	शृणवानि	शृणवानि

पृ०	४०	अशुद्धः	शुद्धः
२८१	४	क्रादि नियमे	क्रादि नियमे
„	३	शृणोत्	अशृणोत्
„	३	शृश्रुवतु	शृश्रुवतु
„	७	धूग्रस्य	धूग्रस्य
„	८		स्तुगतो
„	१४	असंयोगपूर्वादिति	असंयोगपूर्वादिति
„	२१	द्रु	द्रु
„	२२	द्विवचनम्	द्विवचनम्
„	”	”	”
„	२३	कर्त्तरीति	कर्त्तरीति
„	२५	रेष्यवातः	रेष्यवादः
„	२६	छुन्	छुन्
२८२	१	व्यकरणम्	व्याकरणम्
„	१०	अनिरामेतिमिति	अनिरामेतां
„	१२	तृप्लवन तरणयोः	तृप्लवन तरणयोः
„	१३	क्याद्यन्तर्गणोवा	क्याद्यन्तर्गतोवा
„	१५	उद्धारवमस्यादर्मनं	उद्धवारामस्यादर्शनं
„	२४	मूतेष्परपदेपरे	भूतेष परपदे
„	३०	लहजा	सहजा
२८३	१०	तीर्षीद्वयम्	तीर्षीद्वयं
„	८	सत्सङ्गावयदन्तस्येति	सत्सङ्गावयदन्तस्येति
„	१३	काम	इति अधिकं
„	२०	द्वयदा	द्वयद
„	२३	यलाय	कलाय
„	३३	जसङ्गति	जसङ्गति
२८४	१	नाममृत	नामामृत
„	६	अभाङ्ग्कीर्त अभाङ्ग्काम्	असाङ्ग्कीर्त असाङ्ग्काम्
„	७	धातोरन्तः	धातोरन्तः
„	८	अदर्थत्	अदर्शत्
„	१०	सृसि	सृजि
„	११	मद्दस्	मद्दस्
„	१	नाममृत	नामामृत
„	१३	आदर्शयिषाताम्	आदर्शयिषातां
२८५	२	द्वक्षषीषी दर्शिषीषीष	द्वक्षीषी दर्शिषीष
„	८	समीमाद्	समीपाद्

४०	४०	अशुद्धः	शुद्धः
२८५	११	धात्रः	धात्रः
"	१३	विकित सति	विचिकित्र सति
"	२३	कपिलत्वलघु	कपिलत्वालघु
२८६	१६	देति	वेति
"	२३	ऽनन्तक्त्वेऽपि	ऽनन्तर्गत्त्वेऽपि
"	२४	दिवा	दिका
"	२५	त्यादितः	त्यादितः
"	२७	कषिलो	कपिलो
"	२८	पस्पदादि	परपदादि
"	३०	परपदित्वमेव	परपदित्वमेव
"	३२	पाठस्तु	पाठस्तु
"	३४	सौवा	सौत्रा
२८७	२	एजाञ्चकर	एजाञ्चकार
"	४	द्विवचने	द्विवचने
"	६	रित्य	रित्य
"	६	भावत्	भावात्
"	८	दिश्यत	दिश्यत
"	११	तणा	तथा
"	१३	रिस्यरामहरः	र रामहरः
"	१८	द्विवचन	द्विवचनं
"	१८	स्तारामः	स्यारामः
"	२१	भात्	भावात्
"	२५	माहिका	महिका
२८८	४	तेजते:	तेजते
"	४	विनामो	विनामे मात्र विनामो
"	१८	मूर्द्धन्यन्तात्	मूर्द्धन्यन्तात्
"	२०	डित्त्वेऽपि	डित्त्वेऽपि
"	२०	स्यादेव	स्यादेव
"	२६	डाप डापा	डाप् डापा
"	२८	व्यवपारे	व्यवहारे
२८९	३	इड्वदिच्चिव	इण्वदिच्चिव
"	१५	इण्	इण्
२९०	८	परीणा	परीणा
"	१५	द्विवचनम्	द्विवचनम्
"	२१	प्रत्यये	प्रत्यये

४०	४०	अशुद्धः	शुद्धः
२८१	४	रामदितौ	रामादितौ
"	८	इणस्त	इणस्तौ
२८२	११	द्विवचनम्	द्विवचनम्
"	१६	रिव	रेव
"	१८	वकल्प	विकल्प
२८३	३२	मांदित्वात्	मादित्वात्
२८४	६	दीसो	दीप्तौ
२८५	४७	निषेधः	निषेधः
"	२०	द्यते	द्युते
२८६	४	सरामोदि	सरामादि
"	१४	र्थत्	र्थत्
"	१६	भावन्नेह	भावान्नेह
"	१७	सङ्कर्षणः	सङ्कर्षणः
२८७	४	इत्यात्मपद प्रक्रिया	इतिभ्वादि-आत्मपद प्रक्रिया
"	७	"	"
"	१२	"	"
२८८	१	अथ मिथ्यप्रक्रिया	अथ भ्वादि-मिथ्यप्रक्रिया
"	८	फकणतुः	फकणतुः
"	२०	अथ-मिथ्य	अथ भ्वादि-
"	२७	शातनम्	शातनम्
२८९	२	भ्रजू	भ्राजू
"	१२	व्रयाणां	व्रयाणा
"	१७	नित्यमिद्वत्वात्	नित्यमिद्वत्वात्
"	२१	लघूद्ववस्त्र	लघूद्ववस्त्र
"	२७	दु भ्राज	दु भ्राजू
३००	१४	प्रयूरणे	प्रपूरणे
"	१६	जकी	सकी
"	१७	तस्यधः	तस्यधः
"	२२	द्विवचन	द्विवचन
३०१	२	वयो	वयो
"	१७	द्विवचनम्	द्विवचनम्
"	३०	अधोक्षजे	अधोक्षजे
"	३३	विष्णुजनान्तानानाम्	विष्णुजनान्तानाम्
३०२	१	व्यकरणम्	व्यकरणम्
"	८	निषेधात्ययताथंम्	निषेधात्ययाथंम्

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
३०२	२६	नपस्य	नरस्य
"	१	अयकरणम्	व्याकरणम्
३०३	२	नित्यत्व-	इति पाठः सम्पातायातः
३०४	१३	वृत्तं	वृत्ते
"	१५	सामर्थ्यांत्	सामर्थ्यात्
"	१६	पूर्वोक्तदीश्वरादि	पूर्वोक्तादीश्वरादि
"	३५	स्पद्धयाम्	स्पद्धयाम्
३०५	११	वास्ताद्	वा स्याद्
"	२२	नाहतीति	नाहतीति
३०६	१	नाममृत	नामामृत
"	५	इति मिश्र-प्रक्रिया	इति भ्वादि मिश्र-प्रक्रिया
"	१४	भुवाभिगणः	भुवादिगणः
"	१८	इति मिश्र प्रक्रिया	इति भ्वादि मिश्र-प्रक्रिया
३१०	४	हन् हे जंहि	हन्ते जंहि
"	१३	हन् हे रिति	हन्ते रिति
"	१६	थातोः	धातोः
"	२०	स्वरत्वाभावः	स्वरत्वाभावात्
"	२५	प्रधनति अन्तर्घनति	प्रधनन्ति अन्तर्घनन्ति
"	२७	स्थाने	हन्ते: स्थाने
"	२९	एकाच्	एकाच्
३११	४	अत्र हनिणिङ्गादेशा	अत्र हनेणिङ्गादेशा
"	५	कपिलत्वत्	कपिलत्वम्
"	७	कपिलत्वस्यनिष्ठत्वादिति	कपिलत्वस्यानिष्ठत्वादिति
"	११	बथादेशं	बधादेशं
"	१३	नभवन्ति	भवन्तीति
"	२३	विशेषज्य	विशेषस्य
"	२५	अगायिषातामित्यादिषु	अगायिषातामित्यादिषु
३१२	१	२१२	३१२
"	११	नराङ्गुतरस्य	नराङ्गुतरस्य
"	१३	सिद्धतत्त्वे	सिद्धतत्त्वे
"	१३	जघनयि	जघनियि
३१३	४	वृते	कृते
"	५	शेषः	शेषः
"	८	द्विवचनमिति	द्विवंचनमिति
"	१३	द्विवचने	द्विवंचने

पू०	४०	अशुद्धः	शुद्धः
३१३	१६	युयादिति	यूयादिति
"	२०	रामन्त	रामान्त
"	११	मेवोवतम्	मेवोक्तम्
"	२३	व्याख्याया	व्याख्यायां
"	२६	स्थानित्वादिराम	स्थानित्वादिराम
"	३०	एकात्मक	एकात्मक
"	३१	द्विवर्चनम्	द्विवर्चनम्
३१४	२६	आख्यायिषतां	आख्यायिषतां
३१५	७	विदाकुरुत	विदाङ्कुरुत
"	१०	दद्योरुः-इत्यस्योदाहरणंस्खलितम्	अवेः, अवेत, अवेदीत्
"	११	दिदेसमीत्यतः प्राक्	उष-वेत्ति-जागृम्य आम्
"	१४	यलाद्यन्तानि	स्थलाद्यन्तानि
	२६	नत्वस्व	नत्वस्
३१६	३२	क्रियाभ्यतीहारे	क्रियाभ्यतीहारे
३१७	७	पमुन्द्राणां	उपेन्द्राणां
"	३१	केवल स्यासधातोः	केवलस्य अस्धातोः
३१८	१७	प्रत्ययन	प्रत्ययेन
३१९	१४	चे	चेति
"	१४	वर्गत्वे	वर्गत्वे
"	१६	सर्वेश्वरे	सर्वेश्वरे
३२०	१७	चकरादय	चकारादय
"	२२	द्विवचने	द्विवचने
३२१	१२	वृष्णीन्द्र	वृष्णीन्द्र
"	१७	निनित्त	निनित्त
"	२३	अन्यद्या	अन्यथा
"	३२	उषवेति	उषवेत्ति
३२३	४	णकटन	युक्-टन्
"	७	अद्विसीत्	अदरिद्रीत्
"	११	के परे	परे
"	१५	णक्	युक्
"	१६	रामहरो	रारामहरो
"	१८	आरामाण्णलू	आरामान्णल
"	२७	चकाधीति	चकाधीति
"	२८	जये	जते
३२४	१८	लघा	लघो

३२०	४०	अशुद्धः	शुद्धः
३२४	१८	विष्णुजये	विष्णुजने
३२५	११	पूर्वोदयमिति	पूर्वोदयमिति
"	१८	वक्ते एवि	वचेरपि
३२६	४	सध्यो	स-॒ध्यो
"	११	स्तिपि	श्-तिपि
"	११	स्तिपा	श् तिपा
"	१७	धातुके	धातुके
"	२४	समचक्षिष्टेयि	समचक्षिष्टेति
"	२७	भगति	भवति
"	२८	अयासदनेभ्य	अयासदयेभ्य
"	३१	लुग् विकरणस्येयि	लुग् विकरणस्येति
३२७	३	बोभूतिवत्यादि	बोभूति इत्यादि
"	१२	प्रवत्तते	प्रवर्तते
"	१७	बोभूतिवति	बोभूतीति
"	२१	बोभूतिव	बोभूतो
"	२१	बोभूनीत्विति	बोभूनीति
"	२४	गोविन्द निषेधनुक्ता	गोविन्द निषेधमुक्त्वा
"	२६	बाध्यरति	बोभूति
३२८	२१	प्रादेशो	आदेशो
"	२७	कर्मणि	कर्मणि
"	३०	यथीभावम्	यथीभावम्
३२९	१६	द्वाप्ते	प्राप्ते
३३०	३	णो	णे
"	३	न्यायन	न्यायेन
"	१३	राषा	रषा
"	१६	मिम्	किम्
"	३०	भाषावृत्यदाविति	भाषावृत्यादाविति
३३१	११	नक्तीति	नक्तीति
३३२	१७	लज्यां	लज्जायां
"	२६	द्विवचनच्च	द्विवचनच्च
"	३०	परस्मिन्	परस्मिन्
३३३	२५	तत्रैव	तत्रैव
"	२६	यन्न	यन्न
"	३१	पृथातोश्च	पृथातोश्च
३३४	१७	इयदन्तयो	इयूदन्तयो

३४०	४०	अशुद्धा	शुद्धः
३४४	३१	घृद	द्युद
३४५	४	विषां	विषां
३४६	१७	स्वात्	स्यात्
३४७	११	श्रद्धिति	थ्रदिति
३४८	२८	मनस्यकं	मनर्थकं
"	२९	स्थानित्वं	स्थानिवर्त्वा
३४९	२१	कृत्यावे	कृत्यादे
३४०	६	तस्मिन्	तस्मिन्
"	४	आडीयीति	आडीऽपीति
"	४	अनुपपत्तेः	अनुपपत्ते
"	११	रङ्गं सूयव	रङ्गं तस्यैव
"	१२	तुमस्यदङ्गत्वाल्लोकः	तुमस्याङ्गत्वाल्लोकः
"	१३	आडोयि	आङ्गोऽपि
"	१६	स्वीकारेण	स्वीकारेण
"	२१	आडीऽपीति	आङ्गीऽपीति
३४१	१४	रजिभो	रजिजभो
"	१७	अप्तृतदिति	अप्तृपदिति
"	१८	मिनिटा	मिनिटा
"	२१	चत्वम्	घत्वम्
"	३१	विष्णुपदान्ते	विष्णुपदान्ते
"	३१	मोहेति	मोहेति
३४२	२४	वैष्णवे	वैष्णवे
"	३०	मये	मते
३४३	७	स्नहने	स्नेहने
"	१०	भूवी	भूवी
"	२१	वृणान्द्र	वृणीऽन्द्र
३४४	३	प्राण प्रसदे	प्राणिः-प्रसदे
"	१०	त्यदि	त्यादि
"	१५	स्यदिति	स्यादिति
३४५	८	स्त्रपदान्तम्	स्त्रपादान्तम्
"	४	‘जनी प्रादुर्भवे’ इत्यतः आक्-	लीङ् स्त्रेषणे-लीयते । नात्रा, लेता
"	१८	कर्त्तरि	कर्त्तरि
"	२१	उद्धवादर्शनं	उद्धवादर्शनं
"	११	अधो	अधोक्षजे
३४६	१	व्यकरणम्	व्याकरणम्

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
३४६	४-५	“इति श्रीहरिनामामृते” व्याख्यातो दिवादिः	इति दिवादिः ॥
”	१०	शीद्धवाचे	शीद्धवाच्चे
३४७	१८	अचेषीत्	अचेषीत्
”	२३	उपेन्द्राण्णौषदेशस्येत्यादौ	उपेन्द्राण्णोपदेशस्येत्यादौ
३५२	८		अस्पृक्षत्
”	२५	अनिरावेता	अनिरामेता
३५३	१३	सृजिपृशो	सृजिहशो
३६१	११	मूतेशो	भूतेशो
”	१८	नमित्तिकस्य	नैमित्तिकस्य
”	२३	तण्वन्ति	तण्वन्ति
”	८	उनिगुणे	उनिगुणे
३६२	८	संपरिभ्यां	संपरिभ्यां
”	१३	स्वतोऽरामावाद	स्वतोऽरामाभावाद्
”	१८	ऋद्वायाद्	ऋद्वायाद्
३६३	१८	संजमाजयतीत्यर्थः	संमाजयीत्यर्थः
३६४	१	व्यकरणम्	व्याकरणम्
”	८	पत्यय	प्रत्यय
”	८	परिनिविभ्य	परिनिविभ्य
”	८	नेनेपेन्द्र	नेनोपेन्द्र
”	११	तेषूदाहरणानि	तेषूदाहरणानि
”	२२	वच्छिन्म	वच्छिन्म
”	२२	उपाप्लं	उपादानं
३६५	२	विनमयः	विनमयः
३६६	५	त्रिविक्रमो	स्त्रिविक्रमो
”	८	शृद्ध	शृद्ध
”	१५	मनइति	शनइति
”	८	तु वाधते	तु न वाधते
३६७	४	निष्काषणम्	निष्काशनम्
”	२५	वृषणीन्द्राभ्या	वृषणीन्द्राभ्या
”	२५	कृतेऽपि	कृतेऽपि
३६८	२	दुर्नुद्धिः	दुर्नुद्धः
”	५	त्रिनयनः	त्रिनयनम्
”	५	नृनमनः	नृनमनम्
”	३०	शीधनः	श्रीधनः

पृ०	४०	अगुद्धः	शुद्धः
३६८	४	तस्मद्	तस्माद्दौ
"	७	प्रत्यस्य	प्रत्ययस्य
"	८	मिषधस्तु	निषेधस्तु
"	१८	व्यञ्जनान्ताद्वौ	व्यञ्जनान्ताद्वौ
"	२५	सहा	सहसा
"	२८	स्वीनातीति	रवीनातीति
३७१	८	यदगण	तदगणन्
"	८	स्थानिवत्	स्थानिवत्
"	१८	द्विवचने	द्विर्वचने
"	२३	चोरायिता	चोरयिता
"	३०	द्विवचन	द्विर्वचन
३७२	१५	अमीमृजादित्यादि	अमीमृजदित्यादि
"	२०	द्विवचने	द्विर्वचने
"	२१	द्विवचनम्	द्विर्वचनम्
"	२१	उद्वर्षल	उद्वरस्य
"	२५	ऋद्वयस्य	ऋद्वयस्य
"	२८	द्विवचनं	द्विर्वचनम्
"	३४	द्विवचने	द्विर्वचने
३७३	३	तथाथादीनां	तथाथादीनां
"	११	स्थानित्वं	स्थानिवत्वं
"	१५	निषेधानुसारात्	निषेधानुसारात्
"	१७	त्यादौ	त्यादौ
"	२४	द्विवचनम्	द्विर्वचनम्
"	२६	द्विवचनमिति	द्विर्वचनमिति
"	३०	अरामहस्य	अरामस्य
३७४	१०	अरामान्ताच्च	अरामान्ताच्च
"	१७	वामते	वामने
"	२३	सणे द्विवचने	सणे द्विर्वचने
"	२८	अन्त्यरामस्य	अन्त्यरामस्य
"	३१	आरमा	आरामा
"	३	द्विवचने	द्विर्वचने
३७५	८	भवति	भवन्ति
"	१५	द्विवचनम्	द्विर्वचनम्
"	१८	आश्चिकदिति	आश्चिकत
३७६	८	णिनिति	णिरिति

३७०	४०	अशुद्धः	शुद्धः
३७६	१४	मध्येषणम्	अध्येषणम्
"	२३	व्यापर	व्यापार
"	२८	वैयर्थ्य	वैयर्थ्य
"	३१	चन्द्रमतमिति	चान्द्रमतमिति
३७७	३	प्राणिन् त्	प्राणिन् त्
"	१३	प्राणिणादिति	प्राणिनदिति
"	१४	द्विवचनम्	द्विवचनम्
"	२८	प्राणिन् त्	प्राणिन् त्
३७८	२२	स्यादेवेत्यर्थः	स्यादेवेत्यर्थः
"	३	स्पस	स्पग
३७९	६	आड़डित्	आहुडित्
"	१२	द्विवचनात्	द्विवचनात्
"	२४	द्विवचनम्	द्विवचनम्
"	२५	द्विवचने	द्विवचने
३८०	२	स्तुत्रः	स्तूत्रः
"	४	जीप	जीव
"	२	चेष्टियोर्वा	चेष्ट्योर्वा
"	७	सत्त्वमिति	सत्त्वमिति
"	८	त्रिविक्रमः	त्रिविक्रमः
"	१३	द्विवचनम्	द्विवचनम्
"	२१	परत्वमावादिति	परत्वाभवादिति
३८१	३	“अमीमृजत्” इत्थनन्तरं	“पक्षे गोविन्दवृष्णीन्द्रो अममार्जत्”
		अववर्त्तत्	इति पाठोगतः
"	१०	द्विवचनम्	द्विवचनम्
"	१०	द्विवचने	द्विवचने
"	१८	द्विवचनम्	द्विवचनम्
"	२०	”	”
"	३१	गोविदः	गोविन्दः
३८२	४	तिहते	तिष्ठते
३८३	१३	दित्यर्थः	दित्यर्थः
"	१४	आरामान्य	आरामान्त
"	२४	धातूनामेकार्थत्वाद्वातोः	धातूनामनेकार्थत्वाद्वातोः
३८४	१	व्यकरणम्	व्याकरणम्
"	६	स्मापः	स्माप्
"	१०	स्फार्	स्फार्

३५०	४०	अशुद्धः	शुद्धः
३५४	८	विस्मापयति	विस्माययति
,,	१७	व्यञ्जितम्	व्यञ्जितम्
३८५		स्फारयति	स्फारयति
,,	१७	द्विवचनं	द्विवचनं
३८६	११	द्विवचने	द्विवचने
,,	१५	"	"
,,	२२	विधिविरि	विधिविरति
,,	२७	छित्ये	छित्यु
,,	२८	बोद्धव्याम्	बोद्धव्यम्
३८७	६	हन्ते स्तो नृसिंहेऽनिणद्योक्तजे	हन्ते स्तो नृसिंहे
,,	१०	भावत्	भावात्
,,	१८	इत्यथ	इत्यत्र
,,	२०	एवमिथि	एवमिति
३८८	१	अथ सन्नन्तः	अथ सन्नन्तः
,,	५	रुस्वनादीनां	रुस्वनादीनां
,,	१३	मापदयते	मापदयते
,,	१८	ग्रहेश्च	ग्रहेश्च
,,	१८	न्ताश्च	न्ताश्च
,,	२०	त्वाद्	त्वाद्
,,	२४	किन्त	किन्तु
,,	२८	सन्नन्तः	सन्नन्तः
,,	३२	वदन्तीति	वदन्तीति
,,	१२	उपासनेऽप्य	उपासनेऽप्य
,,	,,	श्रवने	श्रवणे
,,	१४	रिमि	रिति
३८९	८	सन्नन्तस्यापि	सन्नन्तस्यापि
,,	३८	"	"
३९२	२०	कृम्	कृम्
,,	२४	भावात्यो	भावात्यो
३९३	५	अनन्तरं	"दुर्घतिस्वाप्योर्नरस्य संकर्षणः
,,	७	दिदेविपति	दिदेविष्णि
,,	१४	पूर्वमीशसमीपाद्	पूर्वमीशसमीपाद्
,,	३०	क्त्वासमौ	क्त्वसनौ
,,	३१	मनु	ननु
३९४	१८	विभापया	विभाषया

४०	४०	अशुद्धः	शुद्धः
३६४	२२	अषिषिष्ठतीति	एषिषिष्ठतीति
३६५	१	ज्ञापि	ज्ञपि
३६६	१६	नरादर्शनं	नरादर्शनं
३६७	५	सन्यालोप	सन्यन्यालोप
"	१८	स्थानिवदि	स्थानिवद्
"	२५	संसिद्धा	संसिद्धा
३६८	६	प्रवर्त्तते:	प्रवर्त्तते
"		सुस्वापयिषति	सुष्वापयिषति
"	२१	सन्नन्तात्र	सनन्तात्र
३६९	४	इति सन्नन्ताः	इति सनन्ताः
"	७	सन्नन्तात्	सनन्तात्
"	८	सन्नन्तः	सनन्तः
"	१०	सन्नन्तात्	सनन्तात्
"	११	जुगुप्तिरु	जुगुप्तिरु
"	१२	सन्नन्ताः	सनन्ताः
४००	१	यडन्तः	यडन्ताः
"	६	“वोभूय्यते” इत्यनन्तरं-	अवोभूय्यिष्ठ, अवोभूयि,
"	८	सवश्वरः	सर्वेश्वरः
४०१	१५	यडि	यडि
"	१७	प्रतिधो	प्रतिषेधो
"	५	ओपदेष्टव	ओपदेशत्व
४०३	३	पर्यति	प्राणति
४०४	३१	सोपासर्गात्	सोपसर्गात्
"	३२	सोपसर्गाद्	सोपसर्गात्
४०५	२	नरतो	नरतो
"	२	श्रंसु	श्रंसु
"	३	सनीश्वस्यते	शनीश्वस्यते
"	८	रथदेव	रथदिव
"	११	स्तभ्य	स्तेभ्य
"	२३	गहाये	गहाये
४४६	४	दंदयते दादयते	दंदयते दादयते
४०६	७	‘चक्रंसीति’	‘चक्ररीति’
"	७	इडित्यादि	ईटित्यादि
४१०	२४	सन्नन्तादिषु	नन्तादिषु
"	२८	उग्नि	उसि

४१०	५०	अशुद्धः	शुद्धः
४११	८	शेषेति	शेशीति
"	१०	कार्य	कार्य
"	१३	चत्वरि	चत्वारि
"	१६	भूतेश्वर	भूतेश्वरे
"	३२	निष्ठिं	निष्ठिष्ठं
४१२	१०	अन्तहरे	अन्तहरे
"	२२	कृति	कृति
४१५	३	सोषुवीति	सोषुवीति
४१६	८	धाता	धातो
४२०	५	स्कन्धातयोऽपि	स्कन्धातयोऽपि संकर्षणेच्छादयोऽपि
"	६	नर्णत्वे	नर्णत्वे
४२१	५	सनन्ताद्	सनन्ताद्
"	६	युजादे णे	युजादे णे
४२२	१	अयनामधातु प्रक्रिया	अथ विभुः
"	३१	नत	नतु
४२३	१	आख्यात प्रकरणम्	आख्यात-प्रकरणे विभुः
४२४	१६	त्रिविक्रय	त्रिविक्रम
"	२०	भ्रातु	भ्रातु
"	२०	इत्यदेन	इत्यनेन
४२६	३	मित्यत्रत्वासिद्धः	मित्यत्र त्वसिद्धः
"	१६	राजभ्यमित्यत्र	राजभ्यामित्यत्र
"	२०	शन्दस्य	शब्दस्य
४२७	४	पिपासायाम्	पिपासायाम्
"	६	पत्यस्यादयो	पत्यस्यावित्यादयो
४२८	१४	हरिकामती	हरिकाम्यती
४२९	२७	रीयि	रीति
४३०	१२	प्रयमा	प्रथमा
"	२०	पदार्थस्य	पदार्थस्य
"	३१	मिति	मिति
४३१	५	कपावितौ	कपावितौ
"	११	मञ्चमी	पञ्चमी
"	१४	क्विप	क्विप्
"	२५	रुक्मिणीतत	रुक्मिणीयते
"	२५	पर्विणीति	रुक्मिणीति
"	२६	पूरये	पूरणे

४३०	५०	अशुद्धः	शुद्धः
४३२	६	तदीयायि प्रत्ययस्यैव	तदीय-विप्रत्ययस्यैव
४३४	७	पापवृत्ते	पापवृत्ते
"	५	स्तदर्थं	स्तादर्थं
"	२३	चतुर्थ्य	चतुर्थ्य
४३५	३	एवसुत्तरेष्वपि	एवमुत्तरेष्वपि
"	४	कोटो	कीटा
"	२८	तीत्यथ	तीत्यथे
४३६	५	सर्वेष्वरस्य	सर्वेष्वरस्य
"	७	हस्वस्य हसः,	हस्वस्य हसः,
"	१२	सनवन्धि	सन्धवन्धि
"	८	प्रियस्य	प्रियस्य
४३७	४	यक्कणी	यवकनी
"	७	इवोत्यर्थः	इचेत्यर्थः
"	८	गालोऽिष्वस्य	गालोऽिष्वस्य
"	१५	यक्कनी	यवकनी
"	३०	पुच्छादुत्तरे	पुच्छादुत्तरे
४३८	२८	मूलवणिग्धने	मूलवणिग्धने
४३९	२	विष्णु	विष्णु
"	२१	इत्यत्रत्यमाद्य	इत्यत्रत्यमाद्य
४४१	२५	रामसहित	रामसहित
४४२	१२	धातोरित्यधिकरेण	धातोरित्यधिकारेण
४४३	८	इदिद्रोयिष्ठति	इन्दिद्रोयिष्ठति
"	८	वर्जस्थेत	वर्जस्थ्य"इति
"	८	चन्दिद्वयिष्ठति	चन्दिद्वयिष्ठति
"	२५	कण्ठूयडादयः	कण्ठूयादयः
४४७	२	समाप्त्यर्थं	समाप्त्यर्थं
"	२२	पूजय	पूजायां
"	२३	समाप्तर्थं	समाप्त्यर्थं
"	२५	उपेन्द्रातां	उपेन्द्रतां
"	२७	योन्यतायां	योग्यतायां
४४८	२३	उवेन्द्रात्	उपेन्द्रात्
"	२७	लसी	लुली
"	३०	उतेन्द्रात्	उपेन्द्रात्
४४९	२८	उगादत्युत्तरस्य	उगादप्युत्तरस्य
४५१	३	सुविनिदुःः	सुविनिदुःः

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
४५३	२३	समस	समास
"	८	विष्यन्दते	विष्पन्दते विष्यन्दते
"	३२	शोषयोः	शोषणयोः
४५४	१८	ग्नित्या	दित्यादिना
४५५	१४	स्थादिकस्त	स्थादिकस्य

परिशिष्टे (धातुसंग्रहे)

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
१	८	अत्र	अत्
२	३१	यतो	यसु
३	१२	कात्र	कासृ
"	१२	भात्र	भासृ
४	२	खण्डकै	खण्डने
"	२२	पृ	पृ
"	३१	अन्वेषणे	अन्वेषणे
"	२६	प्रथते	प्रथते
८	३	वेलविन्तौ	वेलविन्तौ
"	३	व्रणः	व्रणः
"	५	वृजी	वृजी
"	६	वाधृ	वाधृ
"	६	ब्रीङ्	ब्रीङ्
"	७	धातनामन्तः	धातूनामन्तः
"	१०	धातुनामन्तः	धातूनामन्तः
१	१८	सम्बसर	(गणपाठे)
१०	१०	कपिथ	सम्बसर
११	६	अब	कपिथ
१७	६	तिष्ठद भू प्रभितिः	अब
१८	५	ब्राह्मण	तिष्ठद भू प्रभृतिः
२१	२	ब्राह्मणादिः	ब्राह्मण

(अवयवशब्दसंग्रहे)

३१	१४	वहु	बहु
"	२७	वहु	बहु
३२	१३	अनन्तरम्	अनन्तरम्
"	५	बल	बल

भागेऽस्मिन् शुद्धिपत्रस्य विस्तरशंकया ब-वकारयोः साकल्येन संशोधनमसङ्गातम् ।
वृन्दावन वास्तव्येन श्रीहरिदामसशास्त्रिणा विदुषामुपकाराय शुद्धिपत्रं विनिर्मितम् ।

* श्रीश्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः *

श्रीश्रीहरिनामामृतव्याकरणम्

कृष्णमुपासितुमस्य स्वजमिव नामार्वलं तनवै ।
त्वरितं वितरेदेषा तत्साहित्यादिजामोदम् ॥१॥

* श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः *

“तत्त्वप्रदर्शिका टीका”

अद्वैतैकस्वरूपञ्च नित्यानन्दात्मधामकम् ।

नमामि तत्परं तत्त्वं कृष्णं चैतन्यविग्रहम् ॥

नमामि चरणाम्भोजं श्रीमद्गुरुदेवजीवपादानाम् ।

यत्कृपाविभवैरयं निपुत्तो वराकोऽप्यमृतविभजने ॥

स्वत्पायुषां कलियुगेऽत्र नृणां शमिच्छन् ।

शब्दानुशासन - महाजर्लधि विमथ्य ॥

नामामृतं समददत् य इदं कृपालुः ।

स श्रीलजीवचरणः शरणं ममास्तु ॥

अथ कलियुगपावनस्य स्वयंभगवतः श्रीमत्कृष्णचैतन्यमहाप्रभोः प्रियपरिकरो, निखिल-शास्त्रोदधि-परिमन्थनोत्थ-भक्तिपीयूष-परिवेशको, विबुधवृन्द-वन्दित-पदारविन्द-द्वन्द्वो, विश्ववैष्णवराजराजिवरेण्यो, भागवतपरमहंसाग्रगण्यः समाश्रितवृन्दारण्यस्तत्र-भवान् श्रीलजीवगोस्वामिचरणो, भजनैकनिष्ठतयाऽनधीत - व्याकरणानां प्रागधीतान्यव्याकरणानाच्च वैष्णवानां हितकाम्यया नामसंकेतेन व्युत्पत्तिवाञ्छयाच, स्वगुरु-श्रीमद-रूपगोस्वामिपाद-रचित-लघु-सूत्र-विस्तार-पारिपाठ्येन श्रीहरिनामामृताख्यं शब्दानुशासनमारभमाणः प्रारिप्सित-ग्रन्थ-निर्विघ्न-परिसमाप्त्यर्थं शिष्टशिष्यवर्गशिक्षायै वस्तुनिर्देशात्मकमङ्गलमादौ निबध्नाति “कृष्ण”मिति । अनेन सर्वं एव ग्रन्थोऽयं मङ्गलमय इत्येव ज्ञापयति ।

कृष्णं स्वयम्भगवन्तम् । “कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्” इति श्रीमद्भागवतपरिभाषावचनप्रामाण्यात् । “यजन्ति त्वन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्येकमूर्त्तिकम्” इत्यकूरोक्त्या भगवत्-स्वरूपाणां सर्वेषां तदन्तः पातित्वाच्च । आर्कषिति निखिलचराचरान् स्वमाधुर्यमहिम्ना स्वरूपानन्देन वेति “कृष्णः” । कृषेवर्णं नक्, उणादेवाहुल्यात् संज्ञायाच्च । “कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैकयं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यमिधीयते” इति महाभारतम् ।

‘भूवाचक’ इत्यत्र भावे किवप् । भावोधात्वर्थः, सचात्राकषणं; नक् प्रत्ययश्च कर्त्तरि, तेनाकर्षणं पूर्वकानन्ददायि-नराकृति-परब्रह्म कृष्णशब्दार्थः । श्यामलतमालत्विष्णि यशोदास्त-नन्धये रुढि रिति नामकौमुदी । तमुपसितुमाराधयितुमित्यर्थः । अस्य श्रीकृष्णस्य तत्-संवंधिन इति यावत् । नाम्नामावलि श्रेणीं स्रजं पुष्पमाल्यमिव तनवै रचयानि । ‘इच्छार्थ-धातुसत्त्वं’ इत्यनेन प्रार्थनायां विधातुलकारः । ‘कृपयासीत् स्ववन्धने’ इति श्रीमद्भागवत-सिद्धान्तेन भगवतः कृपाशक्तिमन्तरेण यथा दाम्ना तस्य बन्धनमसम्भवं तथा तन्नाम्नामपि । नामिनामिनरभेदतः श्रीभगवत्कृपां प्रार्थयत इति हृदयम् । “न कुर्यान्निष्फलं कर्म” इत्यतः फलमाह—एषेति । एषा मया तन्यमाना ग्रन्थनिबद्धनामावलिः, तत् साहित्यादिजामोदः—साहित्यं रुढिवृत्त्या काव्यात्मकग्रन्थविशेषः तत् तस्य श्रीकृष्णस्य सम्बन्ध-साहित्यं श्रीमद्भागवतम्, आदिना श्रीगोपालचम्पू-ललितमाधव-मुक्ताचरितादय-स्तेभ्यो जात आमोद आनन्द-स्तम् ।

पक्षे तत्-तस्य श्रीकृष्णस्य साहित्यं साहचर्यं, परिकरैः सह संसर्गः इति यावत् । आदिना आलिङ्गनं नर्मादिकच्च । तस्माज्ञात आमोदः परिमलस्तम् त्वरितं शीघ्रं यथा-स्यात्तथा वितरेत् दद्यात्; परिशीलकेभ्य इति शेषः । अर्ह-शत्क्योरित्यनेन विधिः । शक्तिः सामर्थ्यम् । तेन नामावलिः श्रीकृष्णसाहित्यादिजामोदं दातुं समर्थं एवेत्यर्थः ।

यद् वा एषा श्रीकृष्णनामावलिस्तत्र साहित्यादिजामोदं हितेनाऽविद्यामोचनरूप-मङ्गलेन सह वर्तमानेति सहिता भक्तिः, तस्य श्रीकृष्णस्य (कृष्णसम्बन्धिनी) सहिता तत्सहिता या शुद्धा कृष्णभक्तिस्तामहंतीति तत्साहित्यं श्रीमद्भागवतम् । ‘मेनिरे भगवद्-रूपं शास्त्रं भागवतं कलौ’ इति प्राचीनप्रमाणाच्च । “तदहंतीति” नृसिंह यः । तदादि यस्य तत्साहित्यादि श्रीमद्भागवतादि-भक्तिरसशास्त्रं भक्तिरसपात्रच्च । लक्षणया तदनुशीलनं सेवनच्च । तस्माज्ञातं परानन्दं शीघ्रं वितरेत् । यद्यपि भगवत्ताममात्रस्यैव भागवतानन्द-वितरणे स्वाभाविक्यसाधारणी शक्तिरस्त्येव तथापि तेषां ग्रथनं तु कण्ठधारणसौकर्यार्थं-मिति नायं निष्फलप्रयासः ।

पक्षे कृष्णमिति सत्या सत्यभामा, भीम भीमसेन इतिवत् कृष्णं श्रीकृष्णचैतन्य-देवम् । ‘सामर्थ्यमीचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः’ इत्यादिप्रमाणाद् देशकालौचित्य-भेदेनार्थवैशिष्ट्य-स्वीकाराच्च स एवार्थः । कलियुगोपास्य-निर्णयप्रसंगे “कृष्णवर्णं त्विषा-कृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्” इति श्रीमद्भागवतपदव्याख्यायां सर्वसम्वादिनी प्रारम्भे—“श्रीश्रीकृष्णचैतन्यदेवनामानं श्रीभगवन्तं कलियुगेऽस्मिन् वैष्णवजनोपास्यावतारतये” त्याद्युक्ते: स्वयं ग्रन्थकर्तुरप्ययमेवाभिप्रायः । तमुपसितुं संकीर्त्तनप्राधान्येनाराधयितुं; “यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधस्” इत्युक्ते: । अस्य श्रीकृष्णचैतन्यदेवस्य नाम्नां तत्प्रचारितानां वा नाम्नामावलिस्तत्साहित्यादिजामोदमिति पूर्ववत् । यद्वा तस्य श्रीभगवतः साहित्यं लीलादिश्रवणकीर्तनद्वारेण सह वर्तनं तत् संग इति यावत् । तदादि-येषां स्मरणादीनां तानि तत्साहित्यादीनि तेभ्यो जातमामोदं चिरादनपितोज्वलरसा-स्वादन- सुखविशेषं शीघ्रं वितरेत् प्रदातुं शक्नुयात् । नाम्नः परमपुरुषार्थदत्त-प्रसिद्धेरिति ।

अधिकारी च सम्बन्धो विषयश्च प्रयोजनम् ।
अवश्यमेव वक्तव्यं शास्त्रादौ तु चतुष्यम् ॥

इत्युक्तदिशाधिकारि-सम्बन्धाभिधेय-प्रयोजनानीति चतुर्णां ग्रन्थानुवन्धानां मध्ये
त्रितयमेवात्र दर्शितम् ।

यथा—श्रीकृष्णः सम्बन्धः, विषयो व्याकरणम्, अत्र ग्रथित नामानुशीलनस्याभि-
धेयत्वात् । श्रीमद्भागवतादि-शास्त्र-सेवनोपयोगि-व्याकरणं ज्ञानं गौणप्रयोजनम्,
ह्लादिनीसारसमवेत्-सम्बिदाख्यभक्तिश्चात्र मुख्यं प्रयोजनं ज्ञेयम् । अधिकारी त्वग्रिम-
श्लोके निर्णीयते ॥१॥

“बालतोषणी टीका”

वन्दे तं कृष्णचैतन्यं तस्य भक्तगणं तथा । यस्य प्रसादादज्ञोऽपि सद्यः सर्वज्ञतां
ब्रजेत् । गदाधरं रूपसनातनञ्च श्रीभट्टयुग्मं रघुनाथदासम् । श्रीजीवदेवं परमं कृपालुमानन्द-
सिन्धुं शिरसा नमामि । हरिनामामृतं वन्दे विष्णोः शब्दानुशासनम् । निखिलाधहरं कृष्ण-
लीलानामयुतं शुभम् । अहञ्च भाष्यकारश्च कुशाश्रीयधियावुभौ । नैव शब्दाम्बुधे: पारं
किमन्ये जडबुद्ध्यः ॥ इति पाणिनिमुनिना यदुक्तं, तथापि—श्रीलश्रीजीवगोस्वामिचरणा-
ब्राग्रमाश्रितः । बालोप्यहं तितीर्षामि हरिनामामृतार्णवम् ॥

ततः परम-कृपासरितपिपरमेश्वरेण निजगुण-नाम-गण-कीर्तन-गरिम-प्रेम-प्रका-
शातिस्तिर्थीकृत पाषण्ड-दानवघटाधटित-दुर्घटोदाम-पावक-ज्वालाज्वलित ब्रह्माण्ड-
भाण्डेनैव विर्बोकृतविशङ्कुटनरदोर्दण्ड-गर्व-पर्वतनिभ गर्वितराधिकार-कलिप्रचण्ड
प्रतापेन श्रीलश्रीकृष्णचैतन्य-चन्द्रेण भगवता प्रथित-निज-प्रणीत-नीति-ब्रजविलास वसति-
सान्द्रानन्दरसशास्त्रकासारपरमहंसकः श्रीप्रणवांकुर-विद्युद्दामलसत् पुराणच्छदनानन्त-
शास्त्राकलितश्रीभगवन्मुखोद्गत-परम-परमेष्ठि-प्रणीत-सूत्रे श्रुतिरसालसार-श्रीवृन्दावन
भाव-परिच्छित-सरस-मुकुलास्वादक-कोविदकोकिलः परम-कृपालुमौलिमहामहो-
पाद्यायावलिविराजित-चरणपङ्क्तजः श्रीमान् शुष्कालाप-कलित-कलापावलिव्याकरणानु-
शीलनदुस्थमतीनामनेक प्रकार प्रकरण-निर्णय-चिन्तितानामिदानीन्तनजनानां धर्मार्थ-
काममोक्षार्थं सदा हरिरसलुब्धमानसानामनधीतव्याकरणानामधीतेतरव्याकरणानाच्च
वैष्णवानां हिताभिलाष-परबशतया श्रीनाम-ग्रहण-पूर्वक-विशिष्ट-व्युत्पत्तिवाच्छया
श्रीकृष्णदेवप्रसादमधिगम्य श्रीमच्छील-सनातन-गोस्वामिनां सूत्रानुसारेण श्रीजीव-
गोस्वामिनामा ग्रन्थकारः परम भगवतरूप मनोहर मधुर हरिनामावलिभिः संकेतीकुर्वन्
श्रीहरिनामामृताख्य-वैष्णव-व्याकरणमारभमाणः स्वंप्रयोजनोदधाटनपूर्वकवस्तु-
निर्देशाशीर्वादिरूप-मंगलमाचरत एवं सर्व एव ग्रन्थोऽयं मंगलरूप इति च विज्ञापयति
कृष्णमिति । कृष्णं=स्वयंभगवन्तं, उपासितुं=अनुशीलयितुं, अस्य=श्रीकृष्णस्य,
नामावलि=नामश्रेणीं सर्वेश्वर दशावतारादिभिरहं तनवै=विस्तारयाणि वस्तु
निर्देशोऽयम् ।

कृष्णस्य स्वयं भगवत्वे प्रमाणं श्रीभागवते यथा । एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु

आहृतजल्पितजटितं दृष्ट्वा शब्दानुशासनस्तोमम् ।
हरिनामावलिवलितं व्याकरणं वैष्णवार्थमाचिन्मः ॥२॥

भगवान् स्वयमिति । संकल्पविशेषार्थे इत्यादिना विधातृप्रत्ययः कृष्णोपासनमहं करवाणीतिवत् । कामिव स्त्रजं—मालामिव । अन्यो यथा कृष्णमुपासितुं स्त्रजं तनुते तदवदित्यर्थः । मालयं मालास्त्रजावित्यमरः । ‘वीथ्यालि रावलि: पङ्क्तिः श्रेणीति चामरः’ । प्रयोजनमनुदिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते इति । आशीर्वादमाह । (आशीर्वादिनमस्त्रिया वस्तु निर्देशोवापि तन्मुखं इति मंगलाचरणम्) । एषा—मया तन्यमाना नामावलिस्त्वरितं—शीघ्रं यथास्यात्तया तस्य श्रीकृष्णस्य साहित्यादि-मनोहर-मधुर-सुन्दर-भक्ति-परमतापर्य-लीलामय-श्रीमद्भागवत-शास्त्रादिसाहित्यादिपदेन लक्षणया तदनुशीलनं अत्रानुशीलनं धात्वर्थमात्रमुच्यते । तस्माजातमामोदं तदनुशीलनपरमानन्दसुख-विशेषं-वितरेत्—दद्यात् स्वानुशीलकेभ्य इति शेषः । व्याकरणशास्त्रपरिज्ञान-जन्य-ज्ञानविशेषं जनयित्वा भागवतग्रन्थानुशीलनेऽधिकारं ददात्विति निर्गलितार्थः । पक्षे परमानन्दप्रदस्वरूपत्वेन तमेव नन्दीश्वरेष्वरात्मजं निजेष्टेवं कृष्णचैतन्यमुपासितुं इत्यादि पूर्ववत् साहित्यं शास्त्रविशेषम् । अत्र च हितेन प्राणिनामविद्यामोचन-रूपोप-कारेण सह वर्तमाना सहिता भगवद्भक्तिस्तामहंतीति गर्गदे नृसिंह च इत्यनेन साहित्यंश्रीभागवतं भगवद्स्वरूपत्वात् । यद्वा तत् सहितस्य भगवत् संगस्य भावस्तत्-साहित्यं आदि शब्देन तत् सेवादि यद्वा तत् सहितमहंतीति तत् साहित्यः श्रीबासनामा तद्भक्तः स आदिर्येषां ते श्रीस्वरूपादयस्तेभ्यो जातं आमोदं श्रीभागवतशास्त्रादि परमार्थानुशीलनरूपं सुखविशेषम् । केचित्तु सहितस्य भावः साहित्यं शास्त्रं मात्रं तद्वापि तच्छब्दोपादानात् श्रीभागवतं स्त्रजमिवेत्यनेन यथा परम भागवतः श्रीतुलसीमालिकामनिशं निजकण्ठे धारयन्ति तया एतदनुशीलका वैष्णवा एतद्वयाकरणरूपां हरिनामावलिं अभ्यास-रूपेण कण्ठे धारयन्त्विति आक्षिप्यते । कृष्णमुपासितुमिति तु मन्त्रप्रयोगे नामावलिविस्तारस्य श्रीकृष्णानुशीलनमेव प्रयोजनम् । तदनुशीलनपूर्वकमनायासेन लश्यमपि व्याकरण परिज्ञानजन्यज्ञानच्च । सम्बन्धस्य द्विनिष्ठतया नामनामिनोरभेदाच्च श्रीकृष्ण एव सम्बन्ध श्रीभागवतार्थानुमोदनजातानन्दरूपमेवाभिधेयम् । एते त्रयोऽस्य ग्रन्थस्य व्यवहाराः । तेन श्रीकृष्णानामग्रहणपूर्वक-व्याकरण-परिज्ञान-जन्य-ज्ञान-विशेषम् जनयित्वा श्रीमद्भागवत-ग्रन्थानुशीलनेऽधिकारंदद्यादिति निर्गलितार्थः ॥१॥

तत्त्व०—ननु भगवद्भजनाय तन्नामग्रहणमस्तु, व्युत्पत्तिलाभाय तु सन्ति वहूनि व्याकरणानि; तैरेवार्थसिद्धे: कथमयमुद्यम इति चेदित्यत आह—आहतेति । शब्दानुशासनस्तोमं शब्दा अनुशिष्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते अनेनात्र वेति शब्दानुशासनं व्याकरणम् । ‘टनःकरणाधिकरणयो’ रिति टनः । तस्य स्तोमः समूहः सुपच्च-कलापादिस्तम् । आहतानि मृषार्थकानि आत्यन्तिकथेयोरहितानीत्यर्थः । जल्पितानि वचनानि । आहतानि तानि जल्पितानीत्याहत-जल्पितानि तैर्जटितं युक्तमितिआहत-जल्पित-जटितं दृष्ट्वा विशेषेणालोच्य हरिनामावलि-वलितं—हरेनाम्नां सर्वेश्वर-दशावतार-विष्णुजनादीनाम् आवलि: श्रेणी तया-

व्याकरणे मरुनीवृति जीवनलुब्धाः सदाघ-संविधाः ।
हरिनामामृतमेतत् पिबन्तु शतधावगाहन्ताम् ॥३॥

वलितं युक्तम् । व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते अर्थपर्यवसानाः क्रियन्ते शब्दा अनेनात्र वेति व्याकरणम्, पूर्ववत् टनः । वैष्णवेष्य इदं वैष्णवार्थम् आचिन्मः संग्रहं कुर्मः । “आयुर्हरति वै पुंसामि” त्यादिना भगवत् सम्बन्धं विना कालहरणस्य वैष्णवानामनैचित्यात् । अतोऽस्य ग्रन्थस्य वैष्णवाः परदैवतस्वेन विष्णोरूपासकाः, सामान्यतो भगवद् विश्वासिन एव वाधिकारिण इत्यपि सूचितम् ॥२॥

बाल०—ननु व्युत्पत्तिरेव साध्या चेत्तर्हि अन्यानि बहूनि व्याकरणानि सन्ति तैरेव वा भविष्यति किमेतद्वृद्यमेनेति चेत्तत्राह आहतेति । शब्दानुशासनस्तोमं—अन्यव्याकरणसमूहं, आहत-जल्पित-जटितं दृष्टा वयं हरिनामावलिवलितं व्याकरणं, वैष्णवार्थं—वैष्णवानामनुशीलनार्थं आचिन्मः—कुर्म इत्यर्थः । शब्दा अनुशिष्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते येन तत् शब्दानुशासनं कलापादिव्याकरणं तस्य स्तोमं समूहम् । यद्वा शब्दा विष्णुसम्बन्ध-वर्जित वर्णात्मका अनुशिष्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते यैस्तानि शब्दमात्रसाध्यसूत्राणि तेषां स्तोमः समूहो यत्र तत् कलापादिकं किम्विशिष्टं तत् आहतं—निरर्थकं शुभादृष्टजनकताशून्य-जल्पितमुच्चारणं तेन जटितं युक्तं ‘संघात प्रकारौघ वारनिकरव्यूहाः समूहश्च यः सन्दोहः समुदायराशि विशरव्राताः कलापोत्रजः । कूटं मण्डलं चक्रवालपटलं स्तोमागणः पेटकं वृन्दं चक्रकदम्बकं समुदयः पुञ्जोत्करो संहतिरिति हैमः’ । आहतन्तु मृषार्थकमित्यमरः । व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते अर्थपर्यवसानाः क्रियन्ते शब्दा अनेनात्र वा टनः करणाधिकरणयो रित्यनेन सिद्धं व्याकरणं शब्दानुशासनं शास्त्रं कथं सूतं तत् । हरे: कृष्णस्य नामावलिभिः सर्वेश्वरदशावतारादिभिः वलितं युक्तं; राजीर्लेखा ‘तति वीर्थीमालाल्यावलि पद्क्यतः धोरणी श्रेणीति हैमः’ । वैष्णवार्थमिति ग्रन्थकरणप्रयोजनं निर्दिष्टम् । वैष्णवानां कृष्णानुशीलनेन कालक्षेपणमुचितं ततु अन्य व्याकरणानुशीलनेन न भवतीति ममायमुद्यम इति भावः तेनात्राध्यापनाध्ययनाभ्यां गुरुत्वेऽपि श्रीवैष्णवा एवाधिकारिण नत्वन्ये पाद्दर्शनीया अपि देवतान्तरोपासका विष्णुदीक्षारहितत्वेन हरिवहिर्मुखत्वात् ॥२॥

तत्त्व०—अधीतेतर व्याकरणान् वैष्णवान्ग्रन्थमेतत् परिशीलयितुं प्रोत्साहगर्भहितोपदेशेन विधिमुखेन प्रवर्त्तयति—व्याकरण इति । व्याकरणे इतरव्याकरणरूपे मरुनीवृति निर्जल बालुकामयप्रदेशे ये सदाघसंविधाः सतत सन्तापक्लिष्टाः सन्तताहतजल्पित दुःखोद विग्नाश्र सन्तः, जीवनलुब्धाः जलाकांक्षिणः, अमृतलाभेनाक्षय जीवन-लिप्सवश्च एत-द्वरिनामैवामृतं पीयूषं पिवन्तु पानेन तृष्णां निर्बाध्य निर्वृण्यन्तु । शतधा सर्वं प्रकारेण यथेच्छमित्यर्थः, अवगाहन्तां मज्जेन शीतलीभवन्तु ।

यद्वा हरिनामैवामृतं यत्र तदेतद् व्याकरणं पिवन्तु अनुशीलयन्तु, शतधा पुनः पुन विचारयन्तु चेति स्वग्रन्थस्य नाम चोदिष्टम् । अन्य व्याकरणानां शुष्कालापमयत्वात् तदभ्यासकाले क्लेशएवोत्पद्यते फलं साहित्यादिवोद्घोपयोगि-व्याकरणज्ञानमात्रम् ।

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।

वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं

विदुः ॥४॥ इति

एतस्य तु आपरिशीलनकालादेव महाजनग्रथित-श्रीकृष्णार्पित-नाम-माल्यस्य कण्ठे धारणं सौरव्यम् । कलं खलु तादृशमेव ज्ञानम् । अधिकन्तु श्रीभगवन्नाम-मयत्वादेतस्य श्रद्धयानु-शीलनेन भक्तिशास्त्रानुभवानन्ददायिका शुष्कब्रह्मज्ञानादपि रहस्यतमा सम्बिदाख्या भक्तिश्व परमफलम् । तथैव—“वितरेदेषा तत्साहित्यादिजामोदमिति” श्रीग्रन्थकृदुक्तेः । एवं सति स्वहितेच्चुः कोवेदं सर्वमङ्गलमयं हरिनामामृतं विहाय शुष्क-व्याकरणमरुभूमौ विचरितुमिच्छेत् ? न कोऽपीति च ध्वनितम् । विधि निमन्त्रणामन्त्रणेत्यादिना विधातृ लकारो विधावेव ॥३॥

बाल०—तस्मादधीतेतरव्याकणैरपि वैष्णवस्तत्र तत्र व्याकरणे स्वाग्रहं परित्यज्य एतदव्याकरणमेवानुशीलनीयमित्याह व्याकरणे इति इतर व्याकरणरूपे किम्बिशिष्टे मरुनीवृत्ति निर्जलं प्रदेशे ये सदाघसंविध्ना सतताहृत जलिपतदुःखोद्विग्ना जीवनलुब्धा जललुब्धाश्च ते एतत् श्रीहरिनामरूपममृतं पीयूषं पिवन्तु परमादरेणानुशीलयन्तु एतस्मिन् शतधा शतप्रकारमवगाहन्तां सदोहापोहादिना अत्यासक्ता भवन्तुच । सामानौ मरुधन्वानाविति नीवृज्जनपदोदेश इति चामरः ये तु मरुदेश जन्मानः सदाघसंविध्ना दुःखं तु तत्तदेशवासजन्यं प्राक्तनमेव मन्यन्ते तेऽपि कथञ्चित् जीवनालुब्धा भवन्ति तदा एतत् परम कारणिकमौलिनोदिष्टममृतजलं परमादरेण तृष्णानिरासार्थं पिवन्तु प्राक्तनताप-खण्डनाय एतस्मिन्नवगाहन्तामिति च भावः । तेन ये तु त्रितापोपशमहेतुजननमरणभ्रान्त वीजोत्पाटनोद्भुरमेतदेव भगवत् स्वरूपव्याकरणं प्रोह्य मिथ्याजलिपतयुक्तमन्यदेव व्याकरणमनुशीलयन्ति तेषां हा किमधिकं वक्तव्यमिति । हरिनामामृतमिति भज्ज्ञाया ग्रन्थनामाऽपि निर्दिष्टं हरिनामरूपममृतं यत्र तत् पिवन्तु रसिकाः सर्वे कृष्णाख्यं परमामृतमिति पाद्मवचनात् । यद्वा हरिनामभिस्तत् कीर्तनादिभिरमृतं मुक्तिरविद्यामोचनं यस्मात् तत् ॥३॥

तत्त्व०—ननु व्याकरणसंज्ञादिषु श्रीभगवन्नामानां संकेततया व्यवहारोऽयुक्तः पापावहश्चेति चेतां शङ्कां निरस्यन् सङ्केतादिनापि तेषां ग्रहणे पापानाशक्त्वमेव प्रतिपादयति श्रीभगवत् पद्येन—साङ्केत्यमिति । साङ्केत्यं पुत्रादौ सङ्केतिं, परिहास्यं-परिहासोऽत्र प्रीतिर्गर्भमन्यं परिभवत्वचनं न तु निन्दागर्भं, तत्प्रहासएवोच्यते । तस्मान्नर्मव्यञ्जकं यत् किंचिद् भगवन्नामोक्तमित्यर्थः । स्तोभं गीतालोपादिपूरणार्थं कृतम् । हेलनमत्र “हेलया गिरि रुद्धृत” इति वद्यत्नराहित्यमेवोच्यते नत्ववचनात्मकमिति ज्ञेयमिति क्रमसन्दर्भं व्याख्यायां ग्रन्थकृद्भूरेव । एषु येन केन प्रकारेणोद्भारितमित्यर्थः । विकुण्ठाया शुभ्रपत्न्या अपत्यं वैकुण्ठः, स्वयं भगवतः श्रीकृष्णस्यावतारविशेषः । “तयोः स कलया जज्ञे वैकुण्ठो भगवान् स्वयमिति” श्रीभगवतम् । यद्वा विगता कुण्ठा माया यस्मात् स विकुण्ठो विशुद्धसत्त्वं, तन्मूर्त्तिविशेषो वसुदेव इति यावत्, तत्र सव आविर्भूत इति वैकुण्ठो वासुदेवः

श्रीकृष्ण इत्यर्थः । “सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं यदीयते तत्र पुमानपावृतः । सत्त्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो-ह्यधोक्षजो मे मनसा विधीयत” इति श्रीभागवते श्रीशिवोक्तः । अत्र खलु वैकुण्ठ नाम्ना तावन्ति भगवत्तामानि लक्ष्यन्ते । तस्य भगवतो नाम्नां हरिहर विरिच्चि नारायणादीनां ग्रहगमशेषाघहरं सर्वविद्य पापनाशकं विदुः जानन्ति मुतय इति शेषः ॥४॥

बाल०—ननु व्याकरण परिज्ञान साध्ये श्रीहरिनाम संकेतादिशिर्विच्छिन्नवंसं पूर्वक परमानन्दहितं भवेदित्यत्र किं प्रमाणमित्यत्राह श्रीभागवत पद्यं संकेत्यमिति । विशादान्वयोऽत्र । संकेत्यं स्त्री पुत्रादौ संकेतितं यथा हे स्त्रि विष्णुप्रिये हे पुत्र नारायण इति । पारिहास्यं परिहासेन कृतं यथापश्चाद्युपचारेण श्यालकादौ त्वं हरिस्त्वं हरिरिति । स्तोभं गीतालापपूरणार्थं कृतं । हेलनं सावज्ञं यथा किं विष्णुनेति । वैकुण्ठनामग्रहणं विकुण्ठ-जातस्य श्रीकृष्णस्य नामोच्चारणं अशेषाघहरं निखिलपापनाशकं विदुर्जानन्ति मुनय इति शेषः ॥४॥

संज्ञा प्रकरणम्

१. नारायणादुद्भूतोऽयं वर्णक्रमः ॥

अ आ इ ई उ ऊ ऋ लृ लृ ए ऐ ओ औ अं अः ।

क ख ग घ ङ च छ ज झ झ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न ष फ ब भ
म य र ल व श ष स ह । एते वर्णा अक्षराणि अलश्च ।

एषामुद्भूवस्थानानि,—

अ आ कवर्ग ह विसर्गाणां कण्ठः ।

इ ई चवर्ग य-शानां तालु ।

उ ऊ पवर्गाणामोष्टः ।

ऋ ऋ टवर्ग र-षाणां सूर्द्धा ।

लृ लृ तवर्ग ल-सानां दन्ताः ।

एदैतोः कण्ठतालु ।

ओदौतोः कण्ठौष्टम् ।

वकारस्य दन्तौष्टम् ।

अनुस्वारस्य शिरो नासिका वा इत्यादीनि ।

तत्त्वं—१. अथ द्वन्यात्मक-वर्णात्मक भेदेन द्विविधानां शब्दानां मध्ये शास्त्र मात्रस्य वर्णात्मकत्वात् प्रत्यारम्भे तावत् क्रमशो वर्णानामाविर्भवनं प्रदर्शयति—नारायणादिति ।

नराणां ब्रजवासिनां समूहो नारम् । येषामनन्य प्रेमवश्यतया स्वयं भगवानपि नरलीलास्वाद-मुखमग्नः सत्र स्वीय परमेश्वित्वानुसन्धानावसरमपि न प्राप्नोति, ते ब्रज-वासिन एवादर्शं नरपदवाच्याः । तत्र नारमयनं आश्रयो यस्य स नारायणः, नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्ण इत्यर्थः । यथाहि श्रीदशमे-‘भगवदुक्तो—‘तस्मान्मच्छरणं गोष्टं मन्त्राथं मत्-परिग्रहमित्यत्र’ गोष्टोपलक्षणेन गोष्टवासिनोऽपि ममाश्रया ममपरिपालका इत्यवगम्यते । यतः प्रेमाधीनः स भगवान् ब्रजवासिनामाश्रयमन्तरेण स्नानपानाहार-विहार-व्यायनादि-कमपि कर्त्तुमसमर्थः । तथैव आदिपुराणे—सहाया गुरवः शिष्या भुजिष्या बान्धवाः ख्यिः । सत्यं वदामि ते पाथं । गोप्यः किं मे भवन्ति न ॥ इतिमाधुर्यपरा व्याख्या । एवम्भूतो यो नारायणस्तस्मादयं वक्ष्यमाणः अरामादि-हरामान्तो वर्णक्रमः अक्षरानुक्रम उद्भूत उद्गतः । तत्त्वरूपेण भगवत्येव स्थित-नित्यवर्णानां तस्मादेव प्राकृत्यात्—“प्रभवे तत्र स्थानमित्यपारानम् ।”

श्रीमद्भागवतेऽपि (परस्य भूम्नः) यत् किञ्च लोके भगवन्महस्वदौजः सहस्रद बलवत् क्षमावत् । श्री ही विभूत्यात्मवद्भूतार्णं तत्वं परं रूपवदस्वरूपम् ॥ इत्यत्र अद्भूतार्णं माश्रयाक्षिरं परस्य भूम्नो नारायणस्य परं तत्वं विभूतिरिति तस्मादेव लोके प्रकटितमिति

च निरूपितमस्ति । नारायण शब्दस्य सर्वविष्णुतत्त्व-वाच्यत्वेऽपि ब्रह्मवाक्येन श्रीकृष्णएव-
मूल नारायणत्वेन निश्चितः; मतस्य-वामनादीनामवतारिणः पुरुषावतार त्रयस्यापि तदज्ञ
त्वात् । यथा श्रीदशमे ब्रह्मस्तुतौ,—

नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनामात्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी ।

नारायणोऽज्ञः नरभूजलायनात् तत्त्वापि सत्यं न तवैव माया ॥

टीकाचास्य—नारो जीवसमूहोऽयनमाश्रयो यस्य × × × × नारस्यायनं प्रवृत्तिर्यस्मात्
× × × × नरादुद्भूता येऽर्थश्चतुर्विंशति तत्त्वानि तथा नराज्ञातं यज्ञलं तदयनाद् यो
नारायण इति श्रीस्वमिपादानाम् । किञ्च नराणां द्वितीय तृतीय पुरुषभेदानां समूहो नारं
तत्वसमृद्धिरूपः प्रथम पुरुषएव (कारणार्णवशायी); तस्याप्ययनं प्रवृत्तिर्यस्मात्सनारायण
इतिक्रमसन्दर्भटीकायां ग्रन्थकृद्धिः । वर्णनां क्रमः क्रमशो निर्गमनमिति वर्णक्रमः । षष्ठी-
कृष्ण पुरुषः । ननु कृष्णपुरुषस्योत्तरपदप्राधान्यात् क्रमस्यैव उद्भूत-क्रियया सह प्राधान्ये-
नान्वयः, ततो वर्णनान्तु गौणत्वेनाविर्भावप्रतीतिः स्यादिति चेत्तत्रायं विवेकः—क्रमइति
भावेषण्, भावः खलु धात्वर्थः क्रिया । एवं सति “कर्तृ-कर्मणोः षष्ठी कृद्योग” इत्यनेन
वर्णनामिति कर्तृरि षष्ठी, नात्र सम्बन्ध सामान्ये, क्रमेरकर्मकत्वान्नवा कर्मणि सा । ततः
क्रियाश्रयत्वं कर्तृत्वमित्यनुशासनाद् आश्रितस्य क्रमस्याश्रयमन्तरेण स्थिति रसम्भवा ।
तस्मात् “कृष्णागमनं सज्जातमिति” वाक्ये कृष्णव्यतिरिक्ततया गमनस्यानुपपत्तिवदत्र च
वर्णसिहकृततया क्रमस्योद्भूतत्वं नोपपद्यते । अतो मुख्यत्वेनैवोद्भूत क्रियया सह वर्णनां
क्रमस्य चोभयोश्वान्वयप्रतीतीतौ न कोऽपि वाधः । तस्माद् वर्ण कर्तृकं यत् क्रमशो निर्गमनं
तत्वारायणांत् सज्जातमित्येवं व्याख्याने हि सर्वं सामाज्ञसमिति दिक् ।

तमेव वर्णक्रमं विवृणोति—अआ इत्यादिना । यद्यप्यत्र स्वर-व्यञ्जनभेदेन सामान्यतो
वर्णनामेकोन पञ्चाशत् प्रकारत्वं दर्शितं तथापि हस्व-दीर्घ-प्लुत-भेदेन स्वराणामुच्चारण-
स्थान वैशिष्ठ्येन विसर्गस्य तेनैव भेदेन व्यञ्जनानां समवायेन त्रिष्ठिप्रकारत्वं लभ्यते ।
यथैकादशो टीकायां स्वामिपाद-धृताभियुक्तः श्लोकः—

या सा मित्रावरुण सदनादुच्चरन्ती त्रिष्ठिं
वर्णनिन्तः प्रकट करणैः प्राणसज्जात् प्रसूते ।
तां पश्यन्तीं प्रथम मुदितां मध्यमां बुद्धिसंस्थां
वाचं वदत्रे करणविशदां वैखरीं च प्रपद्ये ॥

अत्रक्रमसन्दर्भटीका च ग्रन्थकृताम्—या सा पराख्या, मित्रोऽग्निः वरुणः सोमः,
तयोः सदनमाधारचक्रं, तस्मात् प्राणसज्जे नोच्चरन्ती स्वयमेव सूक्ष्ममुद्भवन्तीति त्रिष्ठिं
वर्णनिप्रसूयते । कैः—अन्तःकरणाभ्यां प्रकटकरणेन च अन्तस्थां प्रथममुदितां सतीं,
पश्यन्त्याख्यां—अन्तःपश्यति नतूच्चारयति यां तां प्रथमां, तथा बुद्धिसंस्थां उच्चारयामीति
विचारयुक्तां मध्यमां, करणविशदां—स्थानप्रयत्ननिर्मलां वैखरीं प्रपद्ये । त्रिष्ठिमिति—
हस्व-दीर्घ-प्लुतभेदेनाणो नव, प्लुतत्वाभावात् ऋ लृ वर्णा श्रव्त्वारः, हस्वत्वाभावादेचोऽष्टौ,
उदात्तादिस्वरास्तु तदन्तर्गता एव । विसर्गानुस्वार-जिह्वामूलीयोपाधमानीयाश्रत्वारः ।

एवंपञ्चविंशतिः, स्पर्शश्च तावन्तः । एवं पञ्चाशत् । यवलाः सानुनासिका निरनुनासिका-
श्चेति पट्, रेफ एकः । नकारस्य दन्त्य-मूर्द्धन्यत्वं भेदेन द्विःपाठात् श ष स ह ण नाः षठः;
एवं त्रिपष्ठिरिति ।

जीवजगति तु नरदेहविशेषमङ्गुतकौशलेननिर्माय स एव नारायणो वर्णत्मक-शब्द-
ब्रह्मरूपेण तत्तत् स्थानेभ्य आविर्भवति । यथैकादशे उद्धवं प्रतिभगवद्वाक्यम्,—

स एष जीवोविवर प्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः ।

मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्टः ॥

जीवयतीति जीवः परमेश्वर इति स्वामिपादैः । स एष इत्यनेनात्मानं प्रति अंगुलिनिर्देशेन
मल्लक्षण इति भगवता हि ज्ञापितम् ।

ननु वर्णकमउद्भूत इत्युक्तं, तत्रकः कुत्रोदभूत इत्याकांक्षायां तद्विशिनष्टि—एषा-
मिति । अ आ इति—एषा—मुद्भूतस्थानं नारायणस्य कण्ठः । एते कण्ठ भवत्वात् कण्ठ्या
उच्यन्ते । एवमग्रेऽपि यथायोग्यमूल्यम् । एदैतोरिति—कण्ठश्च तालु च तयोः समाहारः
कण्ठतालु । एरामस्य ऐरामस्य च एककस्योद्भूतस्थानं नारायणस्य कण्ठतालु इत्यर्थः । एवं
ओदोतोरिति च । वकारस्येति—वरामस्योद्भूतस्थानं दन्तौष्ठम् ।

बाल—अथ श्रीगङ्गाश्रोतवत् साध्यानुक्रममवलम्ब्य साधुनानुक्रममनतिशीघ्रज्ञेयत्वेना-
नङ्गीकृत्य च संस्कृत-प्राकृत-पैशाच्यादि पट्पञ्चासद्भाषामु संस्कृतभाषायाः प्रधानत्वात्
तदारभमाणोऽयं गोस्वामिपादः सन्ध्यादि सप्तपादस्वरूपं ग्रन्थमाचष्टे । तत्रादौ सन्धि-
कार्यस्य सर्वप्रकरणव्यापित्वेन तत् प्रथमपरिज्ञानाय संज्ञा-सन्धिप्रकरणं प्रथमम् । तत्र
नारायणादित्यादौ पञ्चम्यादिमात्रज्ञानविषयीभूतत्वात् द्वितीयं सुवन्तम् । तत्र पदलक्षणे
तत्वसाधन-विष्णुभक्तिलक्षणे च धातु-तिवादिविशेषापेक्षया तृतीयमाद्यातम् । तदुभय-
सम्बन्ध-वैशिष्ट्यत्वेन विष्णुभक्त्यर्थंजिज्ञासया चतुर्थं कारकम् । तत्र कर्तृ—कर्मणोः षष्ठीत्य-
त्रोदृढ़िक्तेन तद्विशेषसाध्यत्वात् कृदन्तं पञ्चमम् । तत्र तत्रैवाद्यापकमुखोद्गतत्वेन कृत्प्रकरणे
तत्वसूक्तकथनाच्च समासः षष्ठः । तत्रैवोदृढ़िक्तत्वेन विष्णवधिदैवतो वैष्णव इत्यनुसन्धनाच्च
सप्तमस्तद्वितः । एवमेवमनेककारणमनुक्रमस्य तत्तत्प्रकरणे विवेचनीयम् । तावत् शास्त्राणां
शब्दयोनित्वेन शब्दानां वर्णमूलत्वात् प्रथमतो वर्णक्रमस्योत्पत्तिमाह ।

नारायणादिति । अयं अरामादि हरामान्तो वर्णक्रमः नारायणात् प्रपञ्चात्रपञ्च-
सर्वकारणभूतत्वेऽपि सर्वमनाय-तत्कारणवक्तुरुद्भूत उत्पन्न इत्यन्वयः । नारायणादिति
जनने प्रकृतिरित्यनेनापादानपञ्चमी । नारीणां नराणां वा वृन्दं नारं जलं वा तदयन
माश्रयो यस्य तस्मात् । गोपरामादिषु विहारित्वेन सर्वान्तर्यामित्वेन कारणार्णवगवर्भोद-
क्षीरोदशायित्वेन च यो विराजमानः श्रीकृष्णस्तस्मादित्यर्थः । उद्भूत इति उत्पुर्वात्
भूसत्तायां भूधातोः गत्यर्थार्किर्मकेत्यादिना कर्तं भूतकाले क्तः । अत्राद्यातवन्मुख्यत्वेना-
इदमो रूपं । वर्णक्रम इति वर्णश्चासौ क्रमश्चेति क्रमस्य विशिष्टानुत्पत्तेः वर्णभ्योः वर्णनां

वर्णेषु वा क्रमेति जन्यसम्बन्धविशेषस्वरूपस्य लभ्यत्वेनैव वर्णनां क्रियायं व्यावृत्तिवारणाय च वर्णेषुक्तः क्रम इति मध्यपदलोपी तृतीयाः कृष्णपुरुषः सम्यः । तुलस्युदकमनन्ताय दातव्यमितिवत् वर्णनि उद्भूतानि तत् क्रमश्च उद्भूत इत्यर्थः । यदा तु वर्णः सहितः क्रम इति तदगम्ये सहशब्दे विष्णुभक्त्यर्थगुप्तत्वात् तत्समस्त एव न सार्वत्रिकः । यत्र यत्र समासेन विष्णुभक्त्यर्थः गुप्तः स्यान्नातिव्यक्तश्च स्यात्तत्र तत्र न समाप्त इष्ट इति वक्ष्यमाणत्वात् । वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतौ वर्णं तु वाक्षरे इति नानार्थवर्गः । क्रमः परिपाटिः । तेन भगवतः श्रीनारायणस्य तदितरेषाच्च मुखोदगत्वेन कण्ठाद्यभिहितारामादीनामुच्चारणभेदसौष्ठवं दर्शितम् । अन्यथा वर्णं इत्येव कृते अत्वानुक्रमत्वेनैव यथेष्टोच्चारणम् । नारायणादित्यनेन वर्णनां नित्यत्वं तदंशभूतत्वच्च दर्शितम् । अयमित्यनेन मुख-बाहूरू-पादेभ्यः पुरुषस्याथमैः सह । चत्वारो जन्मिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथगिति श्रीभागवतोक्तत्वात् वर्णो द्विजादावित्यादि शासनाच्च कथं विप्रादिकमो नोच्यते इति पूर्वपक्षोऽपि निराकृतः । यस्मान्नारायणादयं वर्णक्रमः प्रादुर्भूतः, स एवास्मदादीनाच्च मूलाधारादि पृथक्कानधितिष्ठन् सूक्ष्मवागाद्यवस्थावता प्रगवरूपेण वर्णकमात्मकोऽपि भवति तद् यथा । आत्मा बुद्ध्या समर्थ्यार्थनि नियुद्भूते तद्विक्षया । मनस्तद्वित्तिमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् । वह्नि-मारुतसंयोगात् क्षोभाद्विग्निद्रियस्य च । सूक्ष्मा वाग् जायते पूर्वं स एव कथितो ध्वनिः । तत्तदस्थानेष्वथ यदा वायुश्चलति सेन्द्रियः । पश्यन्ती वर्णरूपा वाक् तत उत्पत्तिमहंति । मध्यमा पदरूपाथो वाक्यरूपाथ वैखरी । इति वाचामवस्थाः स्युर्मुखमध्ये तदिन्द्रियम् । अर्थ-प्रयत्नयोर्विकायात् श्रुतादनुमितान्मतात् । विशिष्टं खं मुखं राति विखरा सैव वैखरी । जायते प्रादुर्भवति । तथाच भगवद्वाक्यम् । ओमित्यैकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्निति ।

ननु स क इत्याह अ आ इत्यादि । अत्र क-ष संयोगे-क्ष इति वक्ष्यमाणत्वेऽपि क्षरामश्च दर्शितः । एते इति एते अरामादयो वर्णा अक्षराणि अलश्चोच्यन्ते इत्यन्ययः ।

सर्वेषामेव वर्णनां सामान्यतो नारायणाद्युत्पत्तिमुक्त्वा कः कुत उत्पन्न इति पुर्वविशेषमाह एषामिति ।

अ आ । अ-आ-कवर्ग-ह-विसर्गाणमुद्भवस्थानं नारायणस्य कण्ठो भवतीति हेतोरेते कण्ठच्च उच्यन्ते । एवमुत्तरत्रापि यथायोग्यमूह्यम् । यथोक्तमन्यैः । हृत-कण्ठ-जिह्वं खलु तालु मूर्द्धा दन्तास्तथोष्ट्रवथ नासिका च । वर्णप्रकोष्ठान्योऽधृत्युष्ठेदानीत्याह चाष्टादुपदेशतोऽन्यत् ॥ तथाच शिक्षाकारा आहुः । अष्टौ स्थानानि वर्णनामुरः कण्ठं शिरस्तथा । जिह्वामूलच्च दन्ताश्च नासिकौष्ठच्च तालु चेति । एदैतोः कण्ठतालित्यत्र क्रमो नेष्टः । तेन एरामस्य एरामस्य च कण्ठ-तालूद्भवस्थानमित्यर्थः । तदापि युगपदेवेति बोद्धव्यम् ।

ओदैतोः कण्ठोष्ठमिति । वकारस्य दन्तोष्ठमित्यत्रापि युगपदेवेति बोद्धव्यम् । यद्यपि दन्तोष्ठमित्युक्तं तथापि अविष्णुवर्गीयस्यास्य व्यवहारात् सर्वत्र दन्त्यत्वेनैव प्रसिद्धिः ॥ कण्ठतालू कण्ठोष्ठं दन्तोष्ठमिति प्राण्यङ्गानामिति समाहारः । समाहारे ब्रह्मत्वमेकत्वच्चेति ॥ इत्यादिनीत्यस्य उद्भवस्थानानीत्यनेनान्वयः ॥ १ ॥

२. तत्रादौ चतुर्दश सर्वेश्वराः ।

तस्मिन् वर्णक्रमे आदौ चतुर्दश वर्णः सर्वेश्वर नामानो भवन्ति ।

अ आ इ ई उ ऊ ऋ लृ लृ ए ऐ ओ औ ।

एते स्वरा अचश्च प्राचीनानाम् । एते स्वतन्त्रोच्चारणाः ।

कादीनामुच्चारणश्चैषामधीनमिति सर्वेश्वराः । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् ।

मात्रालाघवमात्रं पुत्रोत्सव इति परेऽभिमन्यन्ते ।

हरिनामाक्षर लाभाद वयं त्वमूदृक् तिरस्कुर्मः ॥

तत्त्व०-२. ननु सत्यु बहुप्रकरणेषु कथं संज्ञैव प्रथमं कथ्यते? तदालोच्यते, व्यवहारार्थं क्रुतः संकेतः संज्ञेति रीत्या व्यवहारोपयोगार्थं प्रथमन्तावत् संज्ञाया एव प्रयोजनत्वात्स्याः सर्वपाद व्यापित्वाच्चादौ संज्ञाप्रकरणं प्रपञ्चयति—तत्रादाविति । ईष्टे नियमयतीति ईश्वरः । “स्थाईश” इत्यनेन वरप्रत्ययः । सर्वेषां प्राकृतप्राकृत-जगतामखिल शब्दानाच्च ईश्वरो नियन्ताश्रयश्चेति सर्वेश्वरः । स्वयं प्रकाश रूप त्वादन्येषां प्रकाशकत्वाच्च बहु-मूर्त्येकमूर्त्तिकः श्रीकृष्णः स्वरश्च । ततश्च सर्वेश्वरश्च सर्वेश्वरश्चेत्यादि चतुर्दश सर्वेश्वराणामेकशेष इति सर्वेश्वराः ।

एत इति—अरामाद्यौरामान्तानां चतुर्दशवर्णानां प्रत्येकं स्वरः अच् इति च प्राचीनानां संज्ञेत्यर्थः । स्वेनैव राजत इति स्वरः । अतः स्वराज्यश्रीकृष्णेन सह तत्सादृश्यम् । स्वतन्त्र-मन्यनिरपेक्षमुच्चारणं येषां तेस्वतन्त्रोच्चारणाः । कादीनामिति—करामादीनामुच्चारणं चकारादनुस्वार-विसगदिः स्थितश्चैषामधीनमिति हेतोः सर्वेश्वराः । सर्वेश्वर प्रयोजनं—इद्वयमेव यः सर्वेश्वरे इत्यादौ ।

यथा श्रीकृष्ण एव चतुर्दश-मन्वन्तरावतार रूपेणात्मानं प्रकटीकृत्य विश्वकार्यं विशेषान् समादधाति, तथायं स्वरश्च अ आ इत्यादि चतुर्दशमूर्तीः परिगृह्णन् शब्द शास्त्र कार्यं विशेषान् सम्पादयतीति भावः । मन्वन्तरावतारा यथा,—यज्ञो विष्णुः सत्यसनो हरि वैकुण्ठोऽजितो वामनः सार्वभौम ऋषभो विष्वक्सेनो धर्मसेतुः सुधामा योगेश्वरो वृहद-भानुश्चेति लघुभागवतामृतम् ।

बाल०—संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च । अतिदेशोऽधिकारश्चेति सूत्राणि पठ्विधानि । तेषु प्रथमनिर्दिष्टतया संज्ञाया एव प्राधान्यात् प्रथमं संज्ञासूत्राण्येव कुर्वन् तत्रापि सर्वव्यापकतया आदौ सर्वेश्वरसंज्ञमाह तत्रेति आदिशब्दोऽत्र प्रथमवाचकः ॥ एते स्वतन्त्रोच्चारणा इति एते चतुर्दशवर्णः स्वतन्त्रोच्चारणा भवन्ति । स्वतन्त्रं निरपेक्षं कादीनामधीनमुच्चारणं येषां ते स्वतन्त्रोच्चारणाः कादीनां वर्णानामुच्चारणञ्चैषां वर्णानामधीनं भवतीति हेतुः सर्वेश्वरा उच्यन्ते । सर्वेषां स्यावर-जङ्गमादीनामीश्वरः सर्वेश्वरशब्देन सर्वावितारी स्वयम्भगवान् कृष्ण उच्यते इति भगवन्नामता प्रसिद्धिः । एवमन्यत्रापि ज्ञेयमिति एवमुक्तप्रकारेण सर्वेश्वरादन्यत्रापि दशावतारादिसंज्ञासु च

३. दश दशावताराः ।

तत्रादौ दश वर्णा दशावतारनामानो भवन्ति ।

अ आ इ ई उ ऊ ऋ लृ लृ । एते समाना अकश्र प्राचीनानाम् ।

शक्तिप्रकाश-तारतम्येन वर्णकार-नाम-भेदत्वेऽपि कृष्णस्वरूपाभिन्नत्वात् स्वप्रकाश-त्वात् विष्णु रूपमात्रं सर्वेश्वरः । अतस्तत्रैव श्रीलरूपगोस्वामिनोक्तम्—× × × परेशत्वात् पूर्णा यद्यपि तेऽखिलाः × × × शक्ते वर्यक्तिस्तथाऽव्यक्ति स्तारतम्यस्य कारणमिति ।

ननु स्वल्पाक्षरमनल्पार्थं विशुद्धः सर्वतोमुखम् विशेष कथनापेक्षां सूत्रमिति सूत्र-लक्षणरीतिमवलम्ब्य हि प्राचीनैर्मुनिभिश्च व्याकरण-प्रणयने मात्रालाघवमङ्गीकृतम्, तस्य तु कथमत्र व्यभिचारः? तत्र सहेतुकमाक्षिपति—मात्रेति । मात्रा उच्चारण काल विशेषः । यथा,—कालेन यावता पाणिः पर्येति जानु मण्डले । सा मात्रा कविभिः प्रोक्ता हस्त-दीर्घप्लुते मता ॥ । इति प्राचीनाः । मात्राया लाघवमात्रमल्पता एव पुत्रोत्सवः पुत्रजन्मजन्य आनन्द इति परे अपरे सूत्रकाराचार्या अभिमन्यन्ते अभिनन्दन्ति । 'मात्रं कात्स्न्येऽवधारण' इत्यमरः । वयन्तु हरिनामाक्षर लाभाद्वेतोः अमूढक् तेषां मात्रालाघवजं तादृगभिमननं तिरस्कुर्मः नाद्रियामहे । तादशतुच्छ-जडानन्दतो हरिनामाक्षर-लाभज-चिदानन्दस्य कोटि-गुणाधिक्यात् ।

तत्त्व०-३. दशेति । प्रपञ्चे अवतरति प्रकटयत्यात्मानमिति अवतारः । दश अवतारा यस्य स दशावतारः श्रीकृष्णः । दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नम इति गीतगोविन्देऽपि । पक्षे दशावतार इति संज्ञायां रूढिः । एवमग्रेऽपि संज्ञाम् रूढित्वं वोध्यम् । ततोऽरामादि लृ-रामान्त दशवर्णानां प्रत्येकं दशावतार संज्ञक इत्यर्थः । तत्र प्रयोजनं—दशावतार एकात्मके मिलित्वा त्रिविक्रम इत्यादौ ।

दशावतारा यथा,—मतस्यः कूर्मो वराहो नृसिंहो वामनः परशुरामो रामो वलरामो वुद्धः कल्पिकश्चेति । दशावताराणां स्वरूपतः सर्वेश्वरत्वेऽपि कार्यविशेष-साधनाय गृहीतान्यविग्रहवदेतन्नामकरणम् । एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् ।

गुणानुरूपं नामकरणं ज्ञेयं, यथा सर्वेश्वरशब्दस्य इत्यकृतस्तथा अन्य संज्ञाशब्दस्यापि अर्थो ज्ञेय इत्यर्थः ॥

अत्र शास्त्रे मात्रालाघवे तातपर्यं नास्तीत्याह मात्रेति । मात्रालाघवमेव मात्राल्पत्वैव पुत्रोत्सववदभवतीत्येतद्वचने ऋपरे पण्डिताः अभिमन्यन्ते सत् कुर्वन्तीत्यर्थः । मात्रं कात्स्न्येऽवधारण इति नानार्थवर्गः । वयं पुनः अमूढक् अदः मात्रालाघवमात्रं पुत्रोत्सव इति तिरस्कुर्मः । अत्र हेतुर्हर्तोति ॥२॥

बाल०—दश दशा सुगमम् । अत्र सर्वेश्वरेषु दशावतारशब्देन मतस्य कूर्मादिय उच्चन्ते, इति हेतुर्भगवन्नामता ॥३॥

४. तेषां द्वौ द्वावेकात्मकौ ।

तेषां दशावताराणां मध्ये क्रमेण द्वौ द्वौ वर्णों प्रत्येकं परस्परञ्चैकात्मकौ ज्ञेयौ । यथा अ आ इति द्वौ एकात्मकौ, इ ई इति द्वौ, एवं उ ऊ इत्यादि । अत्र सर्वांसंज्ञा च । प्रत्येकमेकात्मकत्वं स्पष्टमेवेति परस्परार्थमिदं सूत्रम् ।

५. पूर्वो वामनः ।

तेषामेकात्मकानां पूर्व-पूर्वो वर्णो वामनामा । अ इ उ ऊ लृ । एते हस्वा निर्हस्वाश्च ।

६. परस्त्रिविक्रमः ।

तेषामेकात्मकानां परपरो वर्णस्त्रिविक्रमो नामा । आ ई ऊ ऊ लृ । एते दीर्घश्च ।

तत्त्व०—४. तेषामिति । एकोऽद्वितीय आत्मा-स्वरूप यस्य स एकात्मकः । स्वयं-रूप-श्रीकृष्णेन सह तत्प्रकाश-विलास-रूपयोरिवाभिन्न स्वरूप इत्यर्थः । रासलीलादावेकस्यैव श्रीकृष्णस्यानेकत्राभिव्यक्तिः प्रकाशः । ब्रह्मोहनादौ तस्यहि वहुनारायणाभिव्यक्तिस्तु विलासः । तदेकात्मलृपत्वाद वलरामादिः स्वरूपो लक्ष्म्यादिः शक्तिश्चापि विलासो ज्ञेयः । प्रत्येकमिति—अराम-अरामी, आराम-आरामी च । परस्पराविति—अराम-अरामी, आराम-अरामी चेत्यादि ज्ञेयम् । तत्र प्रयोजनं—दशावतार एकात्मके मिलित्वा त्रिविक्रम इत्यादौ । सर्वं संज्ञेति—तुत्यास्यप्रयत्नं सर्वं मिति प्राच्चः । तत्रापि एद्वयओद्वययोः प्रत्येकमेव सर्वांत्वं स्वीकुर्वन्ति न तु परस्परम् । तस्मादशावताराणामेव परस्परमेकात्मकत्वं-कथनेन सर्वेषां सर्वेश्वराणां प्रत्येकमेकात्मकत्वं सूचितं ग्रन्थकृता—प्रत्येकमित्यादिना ।

तत्त्व०—५. पूर्व इति । स्मुटार्थम् । दैत्यराज-वलेम्बे दक्षिणार्थी वामनावतारः प्रसिद्धः । तस्य हस्वविग्रहत्वात् सादृश्यम् । एत इति—एतत् पञ्चवर्णानां प्रत्येकं हस्वः एकमात्रकः, निर्हस्वश्च द्विमात्राकारवैशिष्ट्येन दीर्घोऽपि भवति । निर्गतो हस्वो यस्मात् स निर्हस्व इति विग्रहः ।

बाल०—तेषां । सुगमम् । एकः अद्वितीय आत्मास्वरूपं यस्य स एकात्मकः एकात्मकशब्देन ब्रह्मावापन्नजीव उच्यते । अथवा हरिहराद्वैतता । तेनैकात्मकशब्दस्य भगवन्नामता । प्रत्येकमिति अतावित्यर्थः । परस्परमिति अदाभावित्यर्थः । एवमन्य-श्चापि ज्ञेयम् ॥४॥

बाल०—पूर्व । पूर्व इति त्रिविक्रमापेक्षया बले रथवरगतस्य भगवतः प्रथमतो हस्वविग्रहप्रकटनेनैव वामनत्वं प्रसिद्धमिति भगवन्नामता ॥५॥

७. त्रिमात्रो महापुरुषः ।

त्रिमात्रत्वेनोऽन्नार्थ्यमाणो वामनत्रिविकमश्च महापुरुषसंज्ञः स्यात् । एष द्वाराद्वाने गाने रोदनादौ च प्रसिद्धः । प्लुतसंज्ञश्च । यथोक्तम्,—

एकमात्रो भवेद्भूस्वो द्विमात्रो दीर्घं उच्यते ।

त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनश्चाद्धमात्रकम् ॥ इति

आदित्रयस्य कुबुकुटस्तौ भ्रमेण प्रसिद्धिः । अत्र महापुरुषे वामनमपि त्रिविक्रममुच्चारयन्ति लिखन्ति च तज्ज्ञाः । आगच्छ भो विष्णुमित्रा ३ आगच्छ । आगतोऽस्मि भो विश्वपा ३ आगतोऽस्मि ।

तत्त्व०—६. परइति । स्फुटार्थम् । पश्चात् वलेः सकाशात् त्रिपादभूमि याचनेन प्रकटितवृहद्वपुस्तया वामन एवत्रिविक्रमः प्रसिद्धः । तस्यदीर्घकृतित्वात् साहश्यम् । तत्प्रयोजनं—दशावतार एकात्मके मिलित्वा त्रिविक्रम इत्यादौ ।

तत्त्व०—७. त्रिमात्र इति । पुरिशयनात् पूरणाद् वा पुरुषः, महांश्चासौ पुरुषश्वेति महापुरुषः । महापुरुषशब्देन महतस्त्रिया विराङ्गदेहो महाविष्णुरुच्यते । अंशावताराणां-मंशिनस्तस्य त्रिविक्रमादपि दीर्घविवरत्वं प्रसिद्धम् । विराङ्गदेहत्वमस्य तटस्थ लक्षणं, स्वरूपलक्षणन्तुः विशुद्धसत्त्वोर्जितं द्वार्तिंशलक्षणान्वितं हि रूपम् । श्रीकृष्णसन्दर्भे ग्रन्थकृच्छ्रिः श्रीभागवतपद्ये न तदेवनिरूपितम् । यथा,—“अथ तटस्थ-स्वरूपलक्षणाभ्यां तदेवविशिनष्टियस्या—वयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः । तद् वै भगवतोरूपं विशुद्धं सत्त्वं सूर्जितम् ॥ इति । महापुरुषस्य स्वरूपतो द्वार्तिंशलक्षणं श्रीचरितामृते यथा,—पञ्च सूक्ष्मः पञ्च दीर्घः सप्त रक्तः पदुन्नतः । त्रिहस्व-पृथु गम्भीरो द्वार्तिंशलक्षणो महान् ॥ इति । तत्र पञ्चमुत्वक् केशांगुलिपर्वं दन्तं रोमम् सूक्ष्मः । पञ्चमु—नासा भुज हनु नेत्रजानुषु दीर्घः । सप्तमु—नेत्रान्त-करतल-तालु-अधरीष्ठ-जिह्वा-नखेषु रक्तः । पठमु—वक्षोनख-नासिका-कटि-मुखेषु उन्नतः । त्रिषु—ग्रीवा जड्ब्बा-मेहनेषु हस्वता । पुनः स्त्रिषु—कटि-ललाट-वक्षेषु पृथुता । पुनस्त्रिषु—नाभि-स्वर-सत्त्वेषु गम्भीरता इति श्रीचक्रवर्तिपादैर्विवृतम् । प्लुत संज्ञश्वेति—प्राचीनानामिति शेषः । महापुरुष प्रयोजनं—महापुरुषस्य चेत्यादौ ।

बाल०—पर इति । वामनापेक्षया पश्चाद्वलेः सकाशात् त्रिपादभूमियाचनेन भगवतो बृहद्वपुः प्रदर्शनात् त्रिविक्रमत्वम् इत्यस्य भगवत्तामता ॥६॥

बाल०—त्रिमात्र इति । महापुरुषशब्देन सर्वसललक्षणान्वित-पुरुष उच्यये स भगवानेव नान्योऽतोऽस्य भगवत्तामता । अत्र शास्त्रान्तरस्य लक्षणमुच्यते । ‘न्यग्रोधपरि-मण्डलो महापुरुषः’ । ‘पञ्चदीर्घः पञ्चसूक्ष्मः सप्तरक्तः पदुन्नतः । त्रिहस्वः पृथुगम्भीरो द्वार्तिंशलक्षणो महान्’ ॥ एतैरुपलक्षितो महापुरुषः । आदित्रयस्य हस्व-दीर्घ-प्लुतरूपस्य कुम्कुटध्वनौ । तज्ज्ञा महापुरुषज्ञाः पण्डिताः ॥७॥

८. अ आ वर्जिताः सर्वेश्वरा ईश्वराः ।

अ आ इति वर्णद्वयवर्जिताः सर्वेश्वरा ईश्वरनामानः । इ ई उ ऊ ऋ
ऋ ए ऐ ओ औ । एते नामिन इचश्च ।

९. दशावतारा ईशाः ।

अ आ वर्जिता दशावतारा ईशनामानः । इ ई उ ऊ ऋ लृ लृ ।
एते इकश्च ।

१०. अ आ इ ई उ ऊ अनन्ताः । अनश्च ।

११. इ ई उ ऊ चतुःसनाः । इनश्च ।

तत्त्व०—८. अ आ वर्जिता इति । इरामादि औरामान्तानां द्वादशवर्णनां प्रत्येक
मीश्वर संज्ञक इत्यर्थः । तत् प्रयोजनं—र ईश्वरात् सर्वेश्वरेत्यादौ । सर्वेश्वरस्य (कृष्णस्य)
मासाधिदेवतस्येण यथेश्वर संज्ञा तथैषामपीति ज्ञेयम् । मार्गशीर्षादिक्रमेण द्वादशमासा-
नामधीश्वरा यथा,—केशव-नारायण-माधव-गोविन्द-विष्णु-मदुमूर्दन-त्रिविक्रम-वामन-
श्रीधर-हृषीकेष-पद्मनाभ-दामोदरा इति श्रीचैतन्य चरितामृतम् ।

तत्त्व०—९. दशावतारा इति । ईष्टे प्रभवतीति ईशः प्रभुः । “ईशोद्भवेत्यादिना कः ।
इरामादि लृत्तरामान्तानामधानां प्रत्येकं ईशसंज्ञकः स्यात् । तत् प्रयोजनं—ईशस्यानेकात्मके
वामनश्च वेत्यादौ । प्रकृतेरष्टावरणानामधीश्वरेतेऽपीशसंज्ञका इत्यर्थः । क्षित्यप्तेजो-
म-मृद्व्योमाहंकार-महत्तत्त्व-प्रकृतीनां क्रमेणाष्टावरणाधीशा यथा,—वराह-मत्स्य-सूर्य-
प्रदयुम्नानिरुद्ध संकर्षण-वासुदेव-परमेश्वरा इति वृहद् भागवतामृतम् ।

तत्त्व०—१० अ आ इति । न विद्यतेऽन्तो यस्य स अनन्तः श्रीवलदेवादिः । अरामादि
ऊरामान्तानां षणां प्रत्येकं वर्णः अनन्त संज्ञकः । तत्प्रयोजनं—ओरामान्तामनन्तानाच्चा-
व्ययानामित्यादौ । कृष्णलोके (गोलोके गोकुले वा) मूलानन्तो वलदेवः, परव्योम्नि
सङ्कर्षणः; कारण-गर्भ-क्षीराद्विष्णु सहस्रशीर्षास्त्रियः, पाताले सहस्रफणः शेषाद्यश्चेति
पडनन्ता ज्ञेयाः । सङ्कर्षणान्तर्गतत्वाद् लक्षणस्य पृथक्त्वेन नोक्तिः ।

बाल०—अ आ । सुगमम् । ईश्वरशब्देन मायानियन्ता भगवान् उच्यते इत्यस्य
भगवन्नामता ॥८॥

बाल०—दशा । सुगमम् । ईशशब्देन मायामुग्धजीवनिकायनियामको भगवान्
उच्यते, अतोऽस्य भगवन्नामता ॥९॥

बाल०—अ आ इ ई । सुगमम् । अनन्तशब्देन सहस्रफणः शेषः उच्यते, इत्यस्य
भगवन्नामता ॥१०॥

१२. उ ऊ चृ चृ चतुर्भुजाः । उक्षच ।

प्रयोजनाभावात् लृ लृ न गृह्णेते ।

१३. ए ऐ ओ औ चतुर्व्यूहाः । सन्ध्यक्षराणि एक्षच ।

एते सर्व एव त्रिविक्रमाः ।

१४. अं इति विष्णु चक्रम् ।

तत्त्व०—११. इई इति । चतुर्णि सनानां समाहार इति चतुः सनः । नपुंसके प्राप्ते “लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वादिति” महा माष्य-वचनवलात् पुस्त्वम् । “सनशब्दात् चतुष्वर्वं चतुः सन इति स्मृतः” इति लघुभागवतामृतोक्ते श्रूते तेभगवदवतार-विशेषाः । इरामादि ऊरामान्तानां चतुर्णि प्रत्येकं चतुः सन संज्ञकः । प्रयोजनं—धातोश्चतुः सनस्येयुवौ इत्यादौ । चतुः सनास्तु सनक-सनन्दन-सनत् कुमार-सनातना विख्याता एव ।

तत्त्व०—१२. उऊ इति । उरामादि चतुर्णि प्रत्येकं चतुर्भुजसंज्ञः स्यात् । चत्वारो-भुजा यस्य स चतुर्भुजो नारायणः । शुक्लरक्त-कृष्ण-पीताश्रूत्वारो युगावतारा हि चतुर्भुजा उच्यन्ते । सत्य-त्रेता-द्वापर-कलिषु क्रमेण ध्यान-यज्ञ-परिचर्यनामसंकीर्तनरूपं युगधर्म-चतुष्वर्यं प्रवर्त्तयितुं शुक्लरक्त-कृष्ण-पीतैराविर्भवन्ति चत्वारो युगावतारा इति तत्त्वं,— “शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गत” इत्यादि श्रीगर्गवाक्यैः पर्यालोचनीयम् । एवं सति स्वयं भगवतः श्रीकृष्णस्य तथा तस्यैवाविर्भावविशेष श्रीगौरस्य च युगावतार-दोषापत्तिश्चेत्तदा समाधानरीतिशैवा,—स्वयम्भगवति आविर्भूते सति युगावतारश्च स्वातन्त्र्येण नावतीर्यं तस्मिन्नेव मिलति । अथ स्वयम्भगवानपि तदुपयोगि-कार्यदृष्ट्या युगावतारत्वेन कथ्यत इति । चतुर्भुजप्रयोजनं—अचश्चतुर्भुजानुवन्धानाऽच नुमित्यादौ ।

तत्त्व०—१३. ए ऐ इति । चतुर्णि व्यूहानांदेहानां विग्रहाणामिति यावत् समाहार इति पूर्ववद् समासे पुस्त्वम् । “व्यूहस्तु देहसैन्ययो” रिति त्रिकाण्ड शेषः । एरामादि चतुर्णि प्रत्येकं चतुर्व्यूह संज्ञकः । चतुर्व्यूह शब्देन वासुदेव-संकरणं प्रद्युम्नानिरुद्धा उच्यन्ते । सन्ध्ययुक्तानि च तान्यक्षराणि चेति सन्ध्यक्षराणि, मध्यपदलोपि-श्यामरामः । अद्वयमिद्ये ए, उद्वये ओ, एद्वये ऐ, ओद्वये औ इति वक्ष्यामाण सन्धिसूत्र-चतुष्वयेन निष्पत्ता एते । प्रयोजनं—चतुर्व्यूहान्तानामारामान्तपाठोऽशिवे इत्यत्र ।

बाल०—ई इ चत्वारः सना यत्र ते चतुः सनाः । चतुः सनशब्देन सनक-सनातन-सनन्दन-सनत् कुमारा उच्यन्ते, इति भगवन्नामता ॥११॥

बाल०—उ ऊ । सुगमम् । चत्वारो भुजा येषां ते चतुर्भुजाः । चतुर्भुज-शब्देन नारायण उच्यते, अतो भगवन्नामता ॥१२॥

बाल०—ए ऐ । सुगमम् । चत्वारो व्यूहा येषां ते चतुर्व्यूहाः । चतुर्व्यूह-शब्देन वासुदेव-संकरण-प्रद्युम्नानिरुद्धा उच्यन्ते, इति भगवन्नामता ॥१३॥

अकार उच्चारणार्थः । विन्दुस्वरूपो वर्णो विष्णुचक्रनामा । अनुस्वारो
विन्दुर्लवश्च ।

१५. अँ इति विष्णु चापः ।

अर्द्धं चन्द्राकृति वर्णो विष्णुचापनामा । अनुनासिकश्च । नासिका-
भवोऽयम्, सानुनासिकस्तु मुखनासिकाभवः ।

१६. अः इति विष्णु सर्गः ।

विन्दुद्वयाकारोवर्णो विष्णुसर्गनामा । विसर्गो विसर्जनीयो विसृष्टोऽभि-
निष्ठानश्च ।

तत्त्व०—१४. अँ इति । चकते प्रतिहन्तीति चक्रम् । विष्णोश्चकं विष्णुचकं सुदर्श-
नाख्यम् । विन्दुस्वरूप वर्णस्य चक्रवद् गोलाकृतित्वात् सादृश्यम् । प्रयोजनं—मोविष्णुचकं
विष्णुजने इत्यादौ ।

तत्त्व०—१५. अँ इति । अकार उच्चारणार्थः । चापस्य वेणोर्विकारश्चापः ।
विष्णोश्चापो धनुरिति विष्णुचापः शार्ङ्गमिति प्रसिद्धम् । अर्द्धचन्द्रेति—अर्द्धं चन्द्रस्य
अर्द्धचन्द्रः, सहाकृतिर्यस्य सोऽद्वं चन्द्राकृतिः, सचासौ वर्णश्चेति अर्द्धं चन्द्राकृतिवर्णः, नाद
इत्यपरनामा; सोऽपि सविन्दुरिति विशेषणमुन्नेयम् । “नादाद विन्दुरजायत” इत्यागम-
वचनेन तस्य विन्दुर्गर्भाकृतित्व-सूचनात् । सानुनासिकस्त्वति—अनुनासिकेन सर्वैति
सानुनासिको वर्णः । नादस्य स्वतन्त्रोद्वारणाभावादसौ मुखभवं यद्वर्णमाश्रित्यो द्वायते स
सानुनासिकः, मुख नासिकाभव एवेत्यर्थः । प्रयोजनं—नोऽन्तश्च थयोः शरामो विष्णुचकपूर्वो
विष्णुचापपूर्वो वेत्यादौ ।

तत्त्व०—१६. अः इति । विष्णोः सर्गोद्धाम इति विष्णुसर्गः । श्रीमद् भागवते

बाल०—अ इति सुगमम् । विष्णोश्चकं विष्णुचक्रम् । विष्णुचक्रशब्देन सुदर्शनाख्य-
मस्त्रमुच्यते, इति भगवन्नामता । विन्दुर्लवेति विन्दुर्लवेष्यव्यम्नेति मेदिनी ॥१४॥

बाल०—अ इति । सुगमम् । अकार उद्वारणार्थः । चन्द्रस्य अर्द्धः अर्द्ध-चन्द्रः ।
अर्द्धचन्द्र इवाकृतिराकारो यस्य सोऽद्वं चन्द्राकृतिः । अर्द्धचन्द्रा-कृतिश्चासौ वर्णश्चेति
अर्द्धं चन्द्राकृतिवर्णः । इत्यस्य सविन्दुरित्यपि विशेषणमूह्यं चन्द्रविन्दुत्वेनैव प्रसिद्धः ।
नादाद्वायुरजायत विन्दुराकाश सम्भूतिरित्यान्गमाद्व । विष्णोश्चापः विष्णुचापः । चाप-
शब्देन धनुरुच्यते, अतो विष्णुचापः शार्ङ्गमित्यस्य भगवन्नामता ।

नासिकाभवोऽयमिति अयमनुनासिको नासिकाभवः । अनुनासिका-सहितवर्णस्तु
मुखनासिकाभवः । वर्णो मुखभवः अनुनासिको नासिकाभव इत्यर्थः । वर्णनां कण्ठतात्वादि-
भवत्वेनैव मुखभवत्वं विद्यत एवेति ॥१५॥

बाल०—अः इति । सुगमम् । अकार उद्वारणार्थः । सर्गः सुष्टिः । विष्णोः सर्गो

१७. कादयो विष्णुजनाः ।

ककारादयो हकारान्ता वर्णा विष्णुजन नामानो भवन्ति । विष्णोः सर्वव्यापकतया सर्वेश्वरस्य जनाइव तस्याधीना इत्यर्थः । क ख ग घ ङ च छ ज झ जट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व श ष स ह । क ष संयोगे तु क्ष । एते व्यञ्जनानि हलश्च ।

मङ्ग्लाचरणे—“यत्र त्रिर्गोऽमृता” इत्यत्र त्रिसर्गः श्रीगोकुल-मयुरा-द्वारका वैमव प्रकाश इति श्रीग्रन्थकृदिमः । “धामास्त्र द्विविद्वं प्रोक्तं मायुरं द्वार्वती तपेति” लवुभागवतामृते मयुरा-गोकुलयोमर्थुरान्तर्गतत्वाद्वाम्नो द्वै विद्यमुक्तम् यद्वा “मायुरञ्च द्विद्वा प्राहु गोकुलं पुरमेव चेति” लवुभागवतामृतोक्ते: मयुरा-गोकुलमित्याकार द्वयेन मायुरस्येव विन्दुद्वयाकारेण विष्णुसर्गस्य नित्यस्थितिरिति च ज्ञेयम् ।

यद्यपि सर्गशब्देन सृष्टि रुच्यते तथाप्यत्र नित्य भगवद्वाम्नः सृष्ट्यभावात् “तद्वाम तदनन्तांश-सम्भवमिति” ब्रह्मसहिता वाक्येन विष्णुसर्गस्य लीलोपयोगितया प्रपञ्चे प्रकाशः सम्भवेदेव । “सहस्रपत्रं कमलं गोकुलाख्यं महत्पदमिति” तत्रत्य प्रमाणेन कमलाकारत्वाद्वाम द्वयस्य द्विविन्दुसाम्यम् । प्रयोजनं—विष्णुसर्गो जिह्वामूलयः क्षयोर्वेत्यादौ ।

तत्त्व०—१७. कादय इति । वेवेष्टि व्याप्नोति विश्वमिति विष्णुः । विषे: किञ्चेत्तिनुः । मुक्तप्रग्रहवृत्त्या विष्णु शब्दोऽत्र कृष्णे पर्यपस्यति । तथाहि—“यथा राधा प्रिया-विष्णोरिति”, वित्तीऽितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोरिति च पाद्य-भागवतयोः । तस्य जना विष्णुजनाः कृष्णपरिकरा इत्यर्थः । करामादि-हरामान्तानां वर्णानां प्रत्येकं विष्णुजनसंज्ञकः स्यात् । एवमग्रेऽपि यथायोग्यं वोध्यम् । विष्णोरिति—सर्वव्यापकतया हेतुना विष्णोः सर्वेश्वरस्य जना इव एते विष्णुजनास्तस्य सर्वेश्वर-विष्णोरधीना भवन्ति । सर्वव्यापकत्वाद् विष्णुरेव सर्वेश्वरः तस्य जना यथा तदधीना भवन्ति तथाचैते कादयो विष्णुजनसंज्ञवर्णा स्तस्य सर्वेश्वरसंज्ञ वर्णस्य अधीनास्युरिति सरलार्थः । सर्वेश्वराश्रयंविना विष्णुजनोऽवारणस्या सम्भवात्तदधीनोऽवारणा इति तात्पर्यम् ।

विष्णुजनशब्देन व्रजपुरभेदेन गोपाल-यादवादि कृष्णपरिकरा उच्यन्ते । विष्णुजन-संज्ञासु नाममात्रं साम्यं, संख्या साम्यन्तु न विवक्षितम् । प्रयोजनं—विष्णुजनो विष्णुजने हरौ विनेत्यादौ । विष्णुजना व्रजे यथा—श्रीनन्दोपानन्दादिपितुर्गणाः, श्रीदामसुवलादि सखायः, भागुरि-वेदगर्भं प्रमुख-विप्राः, मयुरङ्गल-पुष्पाङ्गादि विदूषकाः, कडार-गन्धवेद-प्रमृति विटाः, रक्तक-पत्रक प्रभृति चेटाः, पृथुक-पार्श्वगादि-ताम्बूलिकाः, पयोद-वारिदि-

विष्णुसर्ग इति विष्णुसर्गशब्दस्यार्थः ब्रह्मलोकोपरि वैकुण्ठ-ध्रुव-लोकयोर्विन्दुद्वयाकारत्वेन विष्णुसर्गस्य प्रसिद्धिरित्यस्य भगवन्नामता ॥१६॥

बाल०—कादयः । सर्वेश्वरस्येत्यनन्तरं कृष्णस्येति बहुपु पुस्तकेषु दृश्यते, तत्तु लिपिकरप्रमादकृतम् । विष्णर्थया सर्वव्यापकतया धर्मेण आत्रहस्तम् पर्यन्ताः स्थावर-

१८. य वर्जितास्तु वलाः । वलश्च ।

१९. ते मान्ताः पञ्च पञ्च विष्णुवर्गाः ।

ते ककारादयो मकारान्ता वर्णाः पञ्च पञ्च विष्णुवर्गा भवन्ति । एते वर्गश्च । क ख ग घ ङ इति कवर्गः । एवं चर्वर्गः टर्वर्गः तर्वर्गः पर्वर्गश्च । एते कु चु दु तु पु नामानश्च । स्पर्शास्तु सर्वएव ।

मुख्य-जलसेवकाः, सारङ्ग-वकुलादि-वस्त्रसेवकाः, प्रेमकन्द-महागन्ध-प्रधान-वेश काराः, सुमनः-कुमोललासादि-गान्धिकाः, स्वच्छ-सुशीलादि क्षौरकाराः, विमल-कोमलादि-पीठ-वाहकाः, चतुर-चारणादि चराः, तुङ्ग-वावदूकादि-द्यताः, शोभन-दीपनादि-दीपधारिणः, सुधाकर-सानन्दादि-मार्दज्जिकाः, विचित्र-मधुरव-प्रसुख-वन्दिनः, चन्द्रहासेन्दुहासादि-नर्तकाः, कलकण्ठ-सुकण्ठादितालधारिणः, रोचिक-सौचिकादि-वस्त्रशिल्पिनः, पुण्यभाग्य प्रभृति-हड्डिपाः, रङ्गण-टङ्गनादि-स्वर्णकाराः, पवन-कर्मठादयः कुलालाः, वर्द्धिक-वर्द्ध-मानादि-सूत्रधारिणः, सुचित्र-विचित्र प्रभृति चित्रकरा इत्यादयः । एवं पुरेऽपि यथायोग्य-मनुसन्धेयम् ।

तत्त्व०—१८. य वर्जिता इति । यरामवर्जिता विष्णुजना वलनामानो भवन्ति । वलो वलरामः कालिन्दीभेदनो वल इत्यमरः । विष्णुतत्त्वान्तर्गतत्वेऽपि श्रीवलदेवस्य दासाभिमान-स्वाभाव्याद विष्णुजनान्तः पातोऽन्तः । “प्रायो मायास्तु मेभर्तुनन्त्या मेऽपि विमोहनीति” कृष्णमुद्दिश्य वलदेवस्य स्वगतोक्तः प्रयोजनं—यवयोर्हरे वले इत्यादौ ।

तत्त्व०—१९. ते मान्ता इति । ते मान्ता हरिमित्र-हरिगोत्राणि वर्जयित्वा विष्णु-जनाः पञ्चशो विष्णु वर्ग-संज्ञका भवन्ति । विजातीयत्वेऽपि समान धर्मिभिः प्राणिभिरप्राणिभिरूप लक्षितं वृन्दं वर्ग इत्यमरभरतौ । विष्णोः कृष्णस्य वर्गा वैश्याभीरादि वैजात्येऽपि सविदानन्द स्वरूप-समानवर्मयुक्ताः परीवारा इति विष्णुवर्गः । ते च पञ्चधा यथा—तेकृष्णस्य परिवारा येजना व्रजवासिनः । पशुपाला स्त्रिधा वैश्या आभीरा गुर्जरा स्तथा । सर्ववेदविदो विप्रा याजनाद्यधिकारिणः । वहिष्ठा कारव प्रोक्ता नानाशिल्पोपजीविनः । एभिः पञ्चविधैरेव परिवारा हरे रिह । इति श्रीमद्रूप-पाद कृत-श्रीकृष्णगणोद्देशः ।

पत्रान्तरे—“कत्व-खत्वादिना विजातीयत्वेऽपि उद्भवस्थानसाम्यमस्ति” इत्यमर टीकायां भरतः । एते सर्वे स्पर्श नामानः, तत्तदुद्भवस्थानस्पर्शेणोद्वार्यमाणत्वादित्यर्थः । प्रयोजनं—विष्णुचक्रस्य हरिवेणु विष्णुवर्गे इत्यादौ ।

जङ्गमादयः सर्वे जनास्तस्य विष्णोरधीनाः सन्ति, तथैव सर्वेश्वरस्य सर्वेश्वरसंज्ञवर्णस्य कादयो विष्णुजना वर्णा अधीना भवन्ति । विष्णुजनशब्देन सुनन्दनमुखाः पाश्वदा उच्यन्ते, इति हेतुभगवन्नामता ॥१७॥

बाल०—य व वर्जिताः । सुगमम् । य व वर्जिता विष्णुजना वलनामानो भवन्ति । वलशब्दो वलरामवाची, इति भगवन्नामता ॥१८॥

२०. ज वर्जितास्तु विष्णुगणाः ।

मयश्च । तत्र समानवर्गः सवर्ग उच्यते सवर्णश्च ।

२१. क च ट त पा हरिकमलानि । प्रथमाश्चयश्च ।

२२. ख छ ठ थ फा हरिखड्गाः । द्वितीयाश्छफश्च ।

२३. ग ज ड द वा हरिगदाः । तृतीया जशश्च ।

यथा नन्द-रक्तक-पयोद-भागुरि-विचित्रादयो विष्णुजनाः क्रमशः पञ्च परिवारान्तर्गता स्तथा करामादि पञ्चविंशति विष्णुजनाः पञ्च वर्गान्तर्गता इति साहश्यम् ।

तत्त्व०—२०. ज वर्जिता इति । तत्रैव—यूथस्यावान्तरा भेदा इत्यादौ नवधाभेद निर्णये—“वर्गस्य गण इत्यपि × × × लघवः कमशो द्वृद्धै” रित्युक्तच्चा वर्गादि गणस्य न्यूनत्वं प्रतिपादितम् । अत्रापि अरामेण न्यूनत्वाद् विष्णुगणाः । प्रयोजनं—विष्णु गणाद्वो वेत्यादौ ।

तत्त्व०—२१. कच इति । हरति सर्वामङ्गलानि प्रेम्णा मनांसि चेति हरिः । हञ्ज् इन् उणादिः । कमस्भोऽलति भूषयतीति कमलम् । हरेः कमलानि हरि कमलानि लीला-कमलानीत्यर्थः । एतेषां पञ्चानां विष्णुजनानां प्रत्येकं हरिकमल संज्ञा स्यात् । प्रयोजनं—यादवमात्रे हरि कमलमित्यादौ ।

तत्त्व०—२२. ख छ इति । खडति खण्डयति छिनतीनिखड्गः । हरिखड्गशब्देन भगवतो नन्दक उच्यते ।

तत्त्व०—२३. ग ज इति । गदयति शब्दयतीति गदा । हरिगदा हरेः कौमुदीनामा, व्रजे यष्टि स्वरूपश्च ।

बाल०—ते मान्ता: । सुगमम् । विष्णोर्वर्गाः । विष्णुवर्ग-शब्देन सत्यलोकोपरि वैकुण्ठाद्यधीश्वरादय उच्यन्ते, इति भगवन्नामता ।

कु चु टु पु नामानश्चेति उकारः पञ्चमवर्णग्रहणार्थः । उकारस्य पञ्चमस्वरत्वात् । स्पर्शः स्पर्शनामानो भवन्तीत्यर्थः । यद्वा सर्वे विष्णुवर्गाः एव निश्चतं स्पर्शः स्वस्वोऽङ्ग-वस्थानेषु स्पर्शोऽवारणा भवन्ति ॥१६॥

बाल०—ज वर्जिताः । ज वर्जिता विष्णुवर्गा विष्णुगणनामानो भवन्ति । विष्णुगणशब्देन अनन्त-वैकुण्ठनिवासिनः सारूप्यप्राप्ता उच्यन्ते, इति भगवन्नामता ॥२०॥

बाल०—क च । सुगमम् । हरेः कमलानि हरिकमलानि । हरिकमलशब्देन हरेः पद्ममुच्यते, अतो भगवन्नामता ॥२१॥

बाल०—ख छ । सुगमम् । हरेः खड्गाः हरिखड्गाः । हरिखड्गशब्देन नन्दक उच्यते, अतो भगवन्नामता ॥२२॥

बाल०—ग ज । सुगमम् । हरेगदा हरिगदा । हरिगदाशब्देन कौमोदकी उच्यते, अतो भगवन्नामता ॥२३॥

२४. घ झ ढ ध भा हरिघोषाः । चतुर्था झयश्च ।

२५. ड झ ण न मा हरिवेणवः ।

पञ्चमानुनासिका अमश्च । एते च मुखनासिकाभवाः ।

२६. त एतद्वर्जिता विष्णुदासाः ।

हरिवेणुवर्जिता विष्णुवर्गा विष्णुदासनामानः । क ख ग घ, च छ ज झ,

ट ठ ड ढ, त थ द ध, प फ ब भ । एते झयश्च ।

२७. य र ल वा हरिमित्राणि ।

अन्तस्था यणश्च । एते सविष्णुचापा निविष्णुचापाश्च ।

तत्त्व०—२४. घ झ इति । घोषति शब्दायत इति घोषः शङ्खः । हरेघोषः हरिघोषः पञ्चजन्य नामा दक्षिणावर्त्तः शङ्खः; व्रजे शङ्खश्च ।

तत्त्व०—२५. ड झ इति । वेणन्ति वादित्रं गृह्णन्ति अनेनेति वेणुः, हरिवेणः कृष्णस्य वंशी । साच सम्मोहिनी आकर्षणी आनन्दिनीति त्रिविधा ज्ञेया ।

तत्त्व०—२६. त एतदिति । विष्णोर्दासाः सेवकाः । हरिवेणु वर्जिता इति—हरिवेणु नामानं विष्णुजन पञ्चकं वर्जयित्वेत्यर्थः । विष्णुदास शब्देन प्रागुक्तारक्तक-पत्रकादयः सेवका ज्ञेयाः । तेषां विष्णुवर्गान्तःतिवेऽपि कार्यविशेषार्थं यथा पृथग् विष्णु दास संज्ञाः तथैषां विशेतेश्चापि पृथगेतत् संज्ञेति साहश्यम् ।

तत्त्व०—२७. य व र ला इति । मेदयन्ति स्निद्यन्तीति मित्राणि, हर्मित्राणि सखायः हरिमित्राणि—श्रीदामसुवलादयः प्रसिद्धा एव । “कृत्वैकत्र गवां कुलानि परितः कृष्णेन सार्द्धं मुदा, हस्ताहस्ति-विनोद-नर्म कथनैः खेलन्ति मित्रोत्कराः” । इति स्तवावलिः । पुरे तु भीमार्जुनादयः ।

बाल०—घ झ । सुगमम् । घोषी गोपपल्ली, घोष आभीरपल्ली स्यात्यिमरः । हरिसम्बन्धी घोषी हरिघोषः नन्दालयप्रभृतिः । किंवा नादेन घोषेण गुहां प्रविष्ट इति श्री भागवतोक्तत्वात् हरे: प्रणवोद्वाराणादिश्चेति हरिघोष शब्दस्यार्थोऽप्यस्य भगवन्नामता ॥२४॥

बाल०—ड झ । सुगमम् । हरेवेणवः हरिवेणवः । हरिवेणुशब्देन हरेवं श्यादय उच्यन्ते, इति भगवन्नामता ॥२५॥

बाल०—त एतद्वर्जिता । सुगमम् । विष्णोर्दासा विष्णुदासाः । विष्णुदासशब्देन सारङ्ग-पत्रिप्रभृतय उच्यन्तेऽतो भगवन्नामता ॥२६॥

बाल०—य र । सुगमम् । हर्मित्रम् हरिमित्रम् । हरिमित्रशब्देन नन्दादिरुच्यते । यन्मित्रं परमानन्दमिति स्मरणात्, अतोऽस्य भगवन्नामता ॥२७॥

२८. श ष स हा हरिगोत्राणि । ऊष्माणः विटः शलश्च ।

२९. श ष सा: शौरयः । शरश्च ।

३०. विष्णुदासहरिगोत्राणि वैष्णवाः ।

एतानि वैष्णव नामानि,—क ख ग घ च छ ज झ ट ठ ड ढ त थ द
प फ ब भ श ष स ह । एते धूटो न्नलश्च ।

३१. हरिगदा हरिधोष हरिवेणु हरिमित्राणि हश्च गोपालाः ।

एते गोपालनामानः,—ग घ ड ज झ ब ड ढ ण द थ न ब भ म
य र ल व ह । एते घोषवन्तो हश्च ।

तत्त्व०—२८. शष इति । गां त्रायत इति गोत्रं पर्वत इति क्षीरस्वामी । गवति
शब्दयति पूर्वपुत्रान् यत्तद् गोत्रं कुलमिति भरतः । हरेगोत्राणि हरिगोत्राणि गोवद्धन-
नन्दीश्वरादयः; पुरे तु अनिरुद्ध-वज्रादयः ।

तत्त्व०—२९. शषसा इति । शूरस्य तन्नाम्नो राजोऽपत्यं गोत्रापत्यानि च पुमांस
इति शौरयः । वसुदेव स्तत्पुत्रा गद-सारणादयश्च ।

तत्त्व०—३०. विष्णुदासेति । विष्णोरिमे वैष्णवाः । विष्णुदासाश्च हरि गोत्राणि
चेति विष्णुदास हरिगोत्राणि, तानि वैष्णवसंज्ञकानि भवन्ति । पाद सम्बाहकत्वेन ल्याता
भंगुर-रक्तकादयो विष्णुदासा स्तथा हरिदासवर्यतया प्रसिद्धा हरिगोत्राणि गोवद्धनादयश्च
वैष्णवाः—विष्णुर्भक्तिः (भज्यते सेव्यत इति भक्तिः) भजनीय एषामिति । किञ्च हरि-
गोत्राणि प्रदद्युम्नानिरुद्धादयो वैष्णवा विष्णोरपत्यानि गोत्रापत्यानि वापुमांस इति ।
सर्वत्र विष्णु शब्दात् केशवणः ।

तत्त्व०—३१. हरिगदेति । हरिगदाश्च हरिधोषाश्च हरिवेणवश्च हरिमित्राणिचेति
तथा तानि तत्त्व नामानो विष्णुजना गोपालसंज्ञकाः स्युस्तथा हरामश्च गोपालसंज्ञः
स्यात् ।

गाः पालयतीति गोपालः श्रीकृष्णः । व्रजस्थहरेयष्ठि विषाण—वैष्णवस्तथा हरिमि-
त्राणि श्रीदामादयः सर्वएव गोपालाः श्रीकृष्णाभिन्न-स्वरूपत्वात् । व्रह्मोहन लीलायां
दर्शितमेवैतत् । तथा हश्च गोपालः; हश्चिवो गगन—मिति वर्णाभिधाने हश्चवदेन शिवोश्चो-

बाल०—श ष स ह । सुगमम् । हरेगोत्रं हरिगोत्रम् । हरिगोत्रशब्देन कन्दर्प-
साम्बादय उच्यन्ते, इति भगवन्नामता ॥२८॥

बाल०—श प सा । सुगमम् । शौरिशब्देन वसुदेवादय उच्यन्ते, इत्यस्य
भगवन्नामता ॥२९॥

बाल०—विष्णु । वैष्णवशब्देन विष्णवधिदैवताः शुक-प्रह्लादादयः कन्दपदियश्च
उच्यन्तेऽत एषामुभयेषां विष्णवधिदैवत्वेन वैष्णवनामता ॥३०॥

३२. यादवा अन्ये ।

गोपालेभ्योऽन्ये विष्णुजना यादवनामानः । क ख च छ ट ठ त थ
प फ श ष स । एते अघोषा खरश्च ।

३३. शौरिर्वर्जितास्तु सात्वतः ।

शौरिर्वर्जितास्तु यादवाः सात्वत नामानः । खयश्च ।

३४. अस्पर्शी प्रयत्नः सर्वेश्वराणां, स्पर्शी विष्णुवर्गणामीषत्स्पर्शी
हरिमित्राणाम् ।

च्यते । श्रीकृष्णांशस्पत्वात् सोऽपि गोपालः । वैष्णवानां यथा शम्भु रित्युक्त्या शिवस्य
वैष्णवत्व-प्रसिद्धेऽपि गोपालत्वमपि तस्य प्रसिद्धमस्ति । यथा—

श्रीकृष्णस्यप्रसादेन द्विविदोऽभूत् सदाशिवः ।
एकस्तत्र शिवः साक्षादन्यो गोपालविग्रहः ॥

—इति श्रीगौर गणोद्देशे ।

तत्त्व०—३२. यादवा इति । यदो गौत्रापत्यानि पुमांस इति यादवाः । गोपालेभ्यः
अन्य इति-हरिकमलानि, हरिखड्गाः शौरयश्च यादवा इत्यर्थः ।

यद्यपि सामान्याभिधाने नन्दादयो वसुदेवादयश्च सर्व एव यादवास्तथापि गोपालेति
विशेष कथने पुरवासिनो वसुदेवादय एव यादवा इत्येव मन्तव्यम् । यादव-गोपालशब्दयोः
कुरु-पाण्डव-शब्दवत् खण्डाखण्ड-वाचकत्वं-स्वीकारात् ।

तत्त्व०—३३. शौरीति । सात्वतस्तन्नामा यदु वंशीय-महाविष्णुभक्तो नृपः,
तस्यगोत्रापत्यानि पुमांस इति सात्वताः । यद्वा सात्वतः साधव एव सात्वताः, स्वार्थे-
केशव णः । शौरिर्वर्जिताः शूर वसुदेवादिभिन्ना ये यादवा स्तेसात्वताः । ब्रजे नन्दोपनन्दा-
दयः, पुरे उग्रसेनाकरोद्व-सात्यक्यादयश्च । वसुदेवादेस्तु सात्वतत्वेऽपि प्रयोजनाभावान्नात्र
तद्विवक्षा ।

बाल०—हरिगदा । सुगमम् । अत्र गोपाल शब्देन गोपरूपिणो भगवतः सम्बन्धाद्
गोरक्षकत्वेन एते हरिगदादयो गोपालनामान उच्यन्ते, प्रत्येकं तेषां भगवन्नामता पूर्वत्र
प्रतिपादिता इति भगवन्नामता ॥३१॥

बाल०—यादवा । सुगमम् । यादवशब्देन सामान्ययदुकुलोऽद्वा उच्यन्ते, यद्यपि
यादवानां कियद्गोपालानाच्चैकवंशत्वं, तथापि वृन्दावनस्थत्वेन गोपालाः, मथुरास्थत्वेन
यादवा इति भेदविवक्षितम् ॥३२॥

बाल०—शौरि । शौरिर्वर्जिता यादवाः सात्वतनामानः । सात्वतशब्देन तद्वंशोत-
पन्ना उच्यन्ते, ते तु परमभक्ता इति । अथवा सत्वशब्देन सत्वमूर्तिर्भगवानुच्यते, उपास्यतया
स विद्यते येषामिति सात्वतः, ततः स्वार्थेऽन् सात्वता वैष्णवा इति ॥३३॥

३५. रादनुस्वाराच्च परं यवाभ्यान्तु पूर्वं विना यरामस्य पुनर-
विष्णुपदादावीषत्-स्पर्शितरः ।

३६. उपेन्द्रात् कवचिद् विष्णुपदादौ च ।

उपेन्द्रसंज्ञा विष्णुपद च वक्ष्यते । त्रिविक्रम-महापुरुष-हरिगोत्राणां
विवृतश्चेति ज्ञेयम् । तत्र रादिति ऋमेण दर्शयते । अर्यमा, यंयम्यते,
अथ्यते, वायवग्नी, नारायणाय, नियमः, प्रयुडःक्ते । अत्र पञ्चम-षष्ठे एवोदा-
हरणे, अन्यानि तु प्रत्युदाहरणानि ।

तत्त्व०—३४. अस्पर्शीति । प्रयत्नं प्रयत्नः स्पृष्टादि वर्णगुण इति काशिका ।
प्रयत्नस्तावद् द्विविधः, आभ्यन्तरो वाह्यश्च । तत्राद्य श्रुतुर्द्वा, स्पृष्टेष्टपत्स्पृष्ट-विवृत-संवृत-
भेदात् । तानेव विवृणोति अस्पर्शीत्यादिमिः । सर्वेश्वराणां वामनसंज्ञकानां, त्रिविक्रम-
महापुरुषयोरग्रिमसूत्रे विशेषाभिधानात्, प्रयत्नः अस्पर्शी संवृतः, जिह्वाग्रोपाग्र-मध्य-
मूलानि तत्तद्वर्णोद्वारण स्थानानां सम पमात्रे तिष्ठन्ति ननु स्पृशन्तीत्यर्थः । विष्णुवर्गाणां
करामादि-मरामान्तानां पयत्नः स्पर्शी, जिह्वाग्रादि स्ततद् वर्णोद्वारणस्थानानि स्पृशतीति ।
हरिमित्राणां यरामादि चतुर्णां प्रयत्न ईषत्स्पर्शी जिह्वाग्रादिस्ततद्वर्णोद्वारणस्थानानी-
पत्स्पृशन्तीत्यर्थः । विवृतस्त्वग्रिमसूत्रे वक्ष्यते । वाह्यप्रयत्नाश्च विरामादये कादश वैदिकेषु
खलु ज्ञेयाः ।

तत्त्व०—३५. सामन्यतो हरिमित्राणामुक्त्वा तेषु यरामस्योद्वारणवैशिष्ट्यमाचष्टे-
रादिति । अविष्णुपदादौ विष्णुपदादाविविद्यमानस्य यरामस्य प्रयत्न ईषत्स्पर्शितरः,
पूर्वोक्तेष्टपत्स्पर्शीत्योऽपत्स्पर्शी अस्पर्शिकल्प इत्यर्थः । कयम् भूतस्य यरामस्य ? ररामाद्
विष्णुचक्राच्च परो योयराम स्तथाराम-वरामाभ्याच्च पूर्वस्थितो योयराम स्तंतंविना
वर्जयित्वाऽन्य-यरामस्येति पदार्थः । ररामानुस्वराभ्यां परस्थस्य, यराम-वरामाभ्यां
पूर्वस्थस्य तु यरामस्य प्रयत्न ईषत्स्पर्शी, तदितरस्येष्टपत्स्पर्शितर इति सरलः ।

तत्त्व०—३६. उपेन्द्रादिति । उपेन्द्रात् परस्य विष्णुपदादौ वर्तमानस्यापि
यरामस्य प्रयत्नः कवचित् स्पर्शितरोभवेदित्यनुवर्तते । वक्ष्यत इति “प्रादय उपेन्द्रसंज्ञा धातु-

बाल०—अस्पर्शी । सर्वेश्वराणामरामादीनां प्रयत्न उद्वारणं अस्पर्शी अस्पृष्टकरणः ।
एषामुद्वारणस्य करणेन सह स्पर्शो न भवतीत्यर्थः । विष्णुवर्गाणां करामादीनां प्रयत्नः
स्पर्शी स्पृष्टकरणः । एषामुद्वारणकरणस्य करणेन सह स्पर्शो भवतीत्यर्थः । हरिमित्राणां
य-र-ल-वानां प्रयत्न ईषत्स्पर्शी ईषत्-स्पृष्टकरणः । एषामुद्वारणकरणस्य करणेन सह
ईषत्स्पर्शो भवतीत्यर्थः ॥३४॥

बाल०—रात् । ररामादनुस्वाराच्च परं यरामं य-वाभ्यां पूर्वं च यरामं विना
वर्जयित्वा अविष्णुपदादौ वर्तमानस्य अन्यस्य यरामस्य प्रयत्न ईषत्स्पर्शितरो भवति ।
अस्पर्शितुल्यो भवतीत्यर्थः ॥३५॥

३७. वर्णस्वरूपेरामः ।

वर्णस्य स्वरूपमात्रे वाच्ये रामशब्दो देयः । तस्यैक-परिग्रहताख्यातेः ।
यथा अराम इराम इत्यादि । अतद्वित इत्यादि पाणिनेः, अकार इत्यादि
च कलापस्य । यथा च कराम इत्यादि । ककार इत्यादि तु प्राचाम् ।
ररामस्तु रेफ इति ।

३८. तदादि द्वये द्वयम् ।

यो वर्णो निर्दिश्यते तदादिद्वये वाच्ये द्वयशब्दो देयः । यथा अद्वयं
इद्वयम् अस्य लक्ष्मीनारायण-वाचित्वाद् भगवन्नामता, तन्मन्त्रो हि
द्वयमन्त्राख्यः पद्मपुराणे । अवर्ण इत्यादि प्राचाम्, अकार इत्यादि च
पाणिनेः ।

योगे” इति, विष्णुभक्तिसिद्धं विष्णुपदमिति च । उपसर्ग इति पदमिति च प्राच्चः ।
त्रिविक्रमादीनां प्रयत्नो विवृतः—जिह्वाप्रोपाग्र-मध्य-मूलानां तत्तद्वर्णोऽवारणस्थानेभ्यो
द्वारे अवस्थानमित्यर्थः । क्वचिदिति वचनान्न सर्वत्रेति प्रत्युदाहरणेन स्पष्टीकृतं प्रयुड्क्त
इत्यनेन । अत्रेषुप्रस्पर्शी एव ज्ञेयः ।

तत्त्व०—३७. वर्णेति । मात्रशब्दोऽत्रावधारणे । एकैकवर्ण-वोधनाय रामशब्द-ग्रहणे
स्फुटमव्यभिचारिन्हेतुं प्रदर्शयति—तस्यैकेति । तस्य श्रीरवुनन्दनस्य एक परिग्रहताया
एकदार-परिग्रहत्वस्य प्रसिद्धः । अतः श्रीरामस्य श्रीसीतैक-निष्ठत्व-वत् तन्नाम्नो वर्णेक
निष्ठत्वं सङ्गतमेव ।

तत्त्व०—३८. तदादीति । द्वयशब्दस्य द्वित्व-वाचित्वाद् भगवन्नामत्वाभावमाशङ्क्य
तन्निराकरोति—अस्येति । तन्मन्त्रो लक्ष्मी-नारायण-मन्त्रः ।

बाल०—उपेन्द्रात् । विष्णुपदादौ वर्त्तमानस्यापि उपेन्द्रात् परस्य यरामस्य प्रयत्नः
क्वचिदीषुपत्रस्पर्शितरो भवति । त्रिविक्रमः । त्रिविक्रमादीनां प्रयत्नो विवृतश्च, विवृतो
विवृतकरणः एपामुद्वारणे करणविस्तारो मुखव्यादनेनोऽवारणमित्यर्थः । किन्तु हरि-
गोत्राणां प्रयत्नस्य विवृतत्वं नातिस्पष्टम् । तत्रेति दर्शयते उदाहरणं प्रत्युदाहरणञ्चेति
शेषः । क्वचिदिति वचनान्नात्रेषुपत्रस्पर्शितरः प्रयुड्क्त इति पञ्चम-षष्ठे इति पञ्चम-षष्ठे पदे
इत्यर्थः ॥३६॥

बाल०—वर्ण । स्वरूपमात्रे स्वरूप एवेत्यर्थः । ननु शब्दान्तरं कथं न दीयते तत्राह
तस्येति तस्य रामस्य रामशब्दाभिधेयस्य श्रीरघुनन्दस्य एकपरिग्रहताख्यातेः श्रीसीतैकभा
र्यत्वर्थातेरित्यर्थः । अथ चायं रामशब्दः एकमेव वर्णं परिगृह्णातीति । ररामस्तु रेफ इति
प्राचामिति शेषः ॥३७॥

बाल०—तदादि । ननु श्रीकृष्णानुशीलनेनैव वैष्णवानां कालहरणं युक्तमतोऽस्य

३८. आदेशो विरिच्चिः ।

विरिच्चिर्ब्रह्मा यथैकं वस्तुपादाय अन्यत् करोति तथा यो विधिः प्रवर्त्तते
स आदेशो विरिच्चिश्चोच्यते ।

४०. आगमो विष्णुः ।

विष्णुर्यथा भद्यतः स्वयमाविर्भूय पोषकोभवति तथा यो विधिः प्रवर्त्तते
स आगमो विष्णुश्चोच्यते ।

तत्त्व०—३८. आदेश इति । विरिच्चिके सूते इति विरिच्चिः । ब्रह्मा यथैकं वस्तु
गृहीत्वान्यत् करोति अन्याकारेण परिणमयति यथा योविधिः प्रवर्त्तते यत्किञ्चिदवलम्ब्य
तदेवान्यत्वेन विद्याति स विरिच्चिरुच्यते, अस्माभिरिति शेषः । किञ्च “ततसृष्टा तदेवानु-
प्राविशदिति” श्रुते व्रंह्मणो यथा जगत् सृष्ट्यनन्तरं तदन्तर्भवनमुपलभ्यते, तथास्य
विरिच्चिरेपि सूत्ररूपेण यत्किञ्चिदुपदेशानन्तरं स्वयं तदादेश-स्वरूपेण चाविर्भवनं हश्यते ।
तथा च “कर्तव्यत्वेनोपदेशो विधिरित्यनेन” विधानसूत्रस्य विरिच्चित्वम्,—“ईशो विधि
विरिच्चिः” रित्यनेनादेशरूप कार्यस्य च विरिच्चित्वं प्रतिपादयते स्वयमेव ग्रन्थकृच्चिः । अत्र
आदेशसंज्ञा प्राचाम् ।

तत्त्व०—४०. आगम इति । विष्णु यथा सृष्टि-संहारयोर्मध्यतः स्वयमाविर्भूय
पोषकोभवति सृष्टि पालयतीत्यर्थः । तथा प्रकृति-प्रत्यययोर्मध्ये स्वयमाविर्भूय तयोः पोषको
निर्वाहको योविधिः प्रवर्त्तते स विष्णु रूच्यतेऽस्माभिः । प्राचीनैस्तु आगम इति ।

व्याकरणस्य भगवन्नामभिः सम्बलितं संज्ञादि करणीयमिति भवता प्रतिपादितम्,
तथाप्यस्मिन् कथं द्वयशब्दो गृहीतः, द्वयशब्दस्य तावद्वित्वसंख्यावाचित्वेन भगवन्नामता-
भावादिति चेतत्रोच्यते अस्येति । अस्य द्वयशब्दस्य । तन्मन्त्रो लक्ष्मी-नारायणमन्त्रो हि
यतः द्वयमन्त्राख्यः द्वयमन्त्रनामा, पद्मपुराणेऽस्तीति दर्शनात् ॥३८॥

बाल०—आदेशः । उपादाय गृहीत्वेत्यर्थः । अदेशो विरिच्चिरुच्यते इति ।
प्राचीनैरादेश उच्यते, अस्माभिर्विरिच्चिरुच्यते इत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि । तथाहि यथा
विरिच्चिरेकं वस्तु गृहीत्वान्तरं करोति; तथा योविधिः प्रवर्त्तते, स आदेशो विरिच्चिरुच्यते
इत्यर्थः । ननु विष्णुर्यथा मध्यत इत्यत्र आगमस्य यथा विष्णुत्वं घटते, तथात्रादेशस्य
विरिच्चित्वं न घटते, किन्तु सूत्रस्यैवेति चेत तदैवं व्याख्येयम् । तद यथा, विरिच्चिर्ब्रह्मा
यथा एकं वस्तुपादाय गृहीत्वा अन्यदन्याकारं वस्त्वन्तरं करोति, वस्त्वन्तरं गृहीत्वा
स्वयमेव वान्यदन्याकारमोत्मानं करोति, तथा यो विधिः प्रवर्त्तते, स आदेशो विरिच्चिश्च
कथ्यते । समष्टि-व्यष्टिभेदेन ब्रह्मण एव सर्वरूपित्वाद् इत्यनेन व्याख्यानेन सूत्रस्य
तत्कार्यस्य च विरिच्चित्वं ज्ञेयम् । यदैकं वस्तु गृहीत्वा वस्त्वन्तरं करोति, तदा सूत्रस्य
विरिच्चिता । यदा चात्मानं अन्यद्वस्त्वन्तरं करोति, तदा सूत्रकार्यस्यैव विरिच्चितेति ।
तथाच स्वयमपि ग्रन्थकृता कर्तव्यत्वेनोपदेशो विधिरित्यनेन सूत्रस्य ईशो विधिर्विरिच्चिः
रित्यनेन तत्कार्यस्य च विरिच्चित्वं वक्ष्यते ॥३९॥

४१. लोपो हरः ।

हरो यथा नाशहेतुर्भवति तथा यो विधिः प्रवर्त्तते स लोपो हरश्चोच्यते ।
तत्र हरो द्विधा भवेत् । तत्रादर्शनमात्रहेतुर्हरः । आत्यन्तिक लयहेतुर्महा-
हरः । लुगित्यन्ये ।

४२. सूत्राणि षड्विधानि ।

संज्ञा च परिभाषा च विधिनियमएव च ।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम् ॥ इति
प्रतिषेधोऽधिकारश्च इति केचित् पठन्ति च ।
अत्र नामकरणं संज्ञा । यथा—तत्रादौ चतुर्दश सर्वेश्वरा इत्यादि ।
अन्यानि वक्ष्यन्ते ।

तत्त्व०—४१. लोप इति । हरति संसारं नाशयतीति हरः । यथा जगतो नाशस्य
प्रलयस्य हेतुर्हरो रुद्र स्तथा यो विधिविधानं वर्णनाशहेतवे प्रवर्त्तते सोऽपि हरउच्चते ।
लोप इति प्राचीनैः । हरोद्विधाभवेदिति—अत्रायमाशयः,—अष्टमूर्त्तिर्हरो जीवानां लयं
प्रति अदर्शनं प्रति हेतुर्निमित्तिकादिप्रलये श्रूयते, नतु तेषां सत्तालयं प्रति । तस्यैव
पञ्चमूर्त्यात्मक-पञ्चमूर्तेषु भौतिकदेहस्य लयत्वेऽपि जीवात्मनः सत्तास्थितेः । तथा चायं
हरविधिर्वर्णदिशं प्रति हेतुर्नतु तत् सत्ता लोपं प्रति; तस्य स्थानिवदभावमङ्गीकृत्य
कार्योत्पत्तेः । चित्स्वरूप महाहरस्तु जीवानामात्यन्तिकलयं प्रति-अविदयो-पाधिकाहङ्कार
नाशं प्रतिहेतु; तादृशलये अर्थात् ब्रह्मसायुज्ये जीवानां सत्तापि लुप्यते । तथा चायं
महाहरो वर्णनामात्यन्तिक लोपं प्रति हेतु; तादृशि महाहरे तेषां सत्तापि नैवस्वीक्रियते;
अर्थात् यतोवर्णा उद्भूता—स्तत्रैव नारायणे लीनाभवन्तीति तत्त्वम् ।

बाल०—आगमः । मध्यत इति ब्रह्म-रुद्रयोः सृष्टि-संहारयोर्वा मध्ये इत्यथः । तथा
प्रकृति-प्रत्ययोर्मध्ये आविर्भूय द्रव्योः पोषको भूत्वा यो विधिः प्रवर्त्तते, स विष्णुरुच्यते ॥४०

बाल०—लोपः । वृत्तिमाह हर इति । हरो यथा वस्तुनां नाशहेतुर्भवति तथा
वर्णादीनां नाशहेतुरिति शेषं समानं नन्वादेशो विरिच्चिरित्यत्र ब्रह्मगः समष्टि-व्यष्टिशरीर-
द्रव्यावच्छेदकल्पेन दृष्टान्तकृतेन सूत्र-तत्कार्ययो-विरिच्चितोक्ता भवता, सा तत्र संगच्छते;
इदानीन्तु लोपो हर इत्यत्र सूत्रतत्कार्ययोः कथं हरत्वं किन्तु सूत्रस्यैव तत् ? सत्यमुच्यते,
यद्यप्यत्र सूत्रस्यैव हरत्वं घटते, तथापि कार्य-कारणयोरभेदोपचारत्वेन द्रव्योस्तज्ज्ञेयम् ।
ननु यद्यप्येवं तथापि दृष्टान्ते समाधानं, न दार्षन्ते । नहि हरो यस्य नाशहेतुर्भवति, तं
नाशयन् स्वयं नश्यति इति चेत् तदैवं समाधेयं नाशस्यादर्शनार्थत्वात् । हरोऽयं नाशयति
तत्त्वाशे सति स्वयमप्यन्तद्वंते, न तु तिष्ठतीत्यांशिक-दृष्टान्तमिति । हरसंज्ञयोर्भेदमाह—
तत्रैति, अदर्शनस्य अदर्शनत्वमेव हेतुरदर्शनमात्रहेतः ॥४१॥

४३. असिद्धरूपं न त्यज्यं प्रतिज्ञेयं कृदन्तिका ।

अत्र व्याकरणे त्वन्यत्रेवासिद्धरूपं मध्ये मध्ये न त्यज्यते, किन्तु सिद्धं

तत्त्व०—४२. सूत्राणीति । सूत्रलक्षणमिति—सूत्रस्य लक्षणं चिह्नमिति यावत् । सूत्रस्य षट् प्रकाराः संज्ञादय इति फलितार्थः । अन्यानि वक्ष्यन्त इति—अनियमे नियम-कारिणी परिभाषा । कर्तव्यत्वेनोपदेशो विधिः । वहुत्र प्राप्तौ सङ्कोचनं नियमः । अन्य तुल्यत्वविद्यान्-मतिदेशः उत्तर प्रकरणव्याप्यविधिकारः । प्रतिपेधो निषेध इति । ग्रन्थान्तरे सूत्रलक्षणं यथा—

स्वल्पाक्षरमनल्पार्थं विशुद्धं सर्वतोमुखम् ।

विशेषकथनापेक्षं सूत्रं सूत्रविदो विदुरिति ॥

श्रीनामग्रहण-सुखाविष्टतया मात्रालाघवमनङ्गीकुर्वता ग्रन्थकृता प्राचीनलक्षणस्य यथाश्रु-तार्थमगृह्णतापि भक्ति व्यञ्जक-शिलष्टार्थेन तु महाजनमानं रक्षितमेव । सचार्थो यथा—स्वल्पानि-सु मङ्गलानि अल्पानि भगवन्नामनांमसंब्यानां मध्ये कतिपयान्यक्षराणि नामात्मकवर्णं यस्मिन् तत्स्वल्पाक्षरम् । यद्वा न धरति न श्चयोततीति अक्षरम् अच्युतो हरिः । नाम-नामिनोरभेदादवाक्षरशब्देन तज्जामानि लक्ष्यन्ते । सु शुभानि अल्पानि कतिपयानि अक्षराणि हरिनामानि यत्र तत् स्वल्पाक्षरम् । अनल्पः प्रचुरः अर्थः प्रयोजनं परमार्थश्च यस्मिन् तदनल्पार्थम् । विशुद्धं नाममयत्वात् पवित्रम् । सर्वतोमुखं—सर्वेषाम-भीष्मदाने चोन्मुखम् । पुन विशेषकथनं गुरुपदेशमपेक्षत इति विशेषकथनापेक्षम् । यतः सुरसरित-प्रवाह-न्यायेन गुरुपरम्परात् एव शक्तिः सञ्चर्यते । सूत्रविदः पण्डिता एवम्बिधं सूत्रं विदुर्जनन्तीति ।

तत्त्व०—४३. स्वव्याकरणस्यासाधारणवैशिष्ट्यं सूचयन् प्रतिजानीते—असिद्ध-रूपमिति । प्रायशः प्राचीन-व्याकरणेषु प्रकरण-व्याप्तिश्चेण विशुद्धलता दृश्यते । यथा हि सन्धौ प्राचर्त्तिं गवेन्द्र इत्यादीनि । तानि खत्वाख्यात-समासकार्यमपेक्षन्ते; सन्धिकार्येणैव निरपेक्षतया न सिध्यन्ति इत्यसिद्धानि । अस्माकन्तु व्याकरणे बालकमुवोधाय यत्रप्रकरणे यत् प्रयोजनं तत्रत्यसूत्रैव तत् साध्यते न त्वग्रिम प्रकरण सूत्रैरिति भेदः ।

संज्ञा आदिर्यस्य तत्प्रकरणं संज्ञादि । अत्र आदि पदेन प्रयत्नस्य ग्रहणम् । यदचपि सुवन्तादि सर्वप्रकरणेष्वेव पृथक् संज्ञाकरणं दृश्यते तथाप्येतावदुक्त-संज्ञानां सर्वप्रकरण-

बाल०—संज्ञा चेति । सूत्रलक्षणं सूत्रस्वरूपं सूत्रमिति फलितार्थः । अन्यानीति परिभाषादीनां लक्षणानीत्यर्थः । यद्वा सूत्रलक्षणं सूत्रचिह्नं चिह्नस्य षट् विधत्वेन सूत्राणा-मपि षट् विधत्वमत उक्तं सूत्राणि षट् विधानीति । सूत्रं किन्तावदित्यपेक्षायां सूत्रमुच्यते ।

स्वल्पाक्षरमनल्पार्थं विशुद्धं सर्वतो मुखम् ।

विशेषकथनापेक्षं सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥

इति शास्त्रान्तरोक्तम् ॥४२॥

कृत्वैव त्यज्यते, तत्तच्च कृत् पयन्तं ज्ञेयं, न समास-तद्वितयोरित्यर्थः ।
दर्शनीयन्त्वग्रे ।

॥ इति संज्ञादि ॥

व्यापित्वात् सामान्यत्वेन ग्रन्थादावुपन्यासः । इति शब्दः समाप्त्यर्थः “इति हेतु-प्रकरण-प्रकर्षादि-समाप्तिषु” इत्यमरः ।

॥ इति श्रीगोपालदासविरचिता अमृतास्वादिनी टीका संज्ञायाम् ॥

बाल०—स्वव्याकरणनिष्ठरचनावैशिष्ठचं ज्ञापयति असिद्धरूपमिति । अन्यत्रैवेति अन्यस्मिन् व्याकरणे यथा असिद्धरूपं मध्ये मध्ये त्यज्यते, तथात्र व्याकरणे त्वसिद्धरूपं मध्ये मध्ये न त्यज्यते, किन्तु सिद्धं कृत्वा एव त्यज्यते ॥४३॥

इति संज्ञादीति उक्तमिति शेषः । एवं सुवन्तपादादौ ये संज्ञादयो वक्ष्यन्ते, तेष्वपि गुणानुरूपं नामकरणं ज्ञेयमिति । संज्ञादीत्यत्रादिशब्देन परिभाषादीनां ग्रहणम् ॥

॥ इति संज्ञादि ॥



सन्धिप्रकरणम्

सर्वेश्वर सन्धिः

यदिदं सन्धिनिर्माणं वर्णनामारभे मुदा ।
तेन मे कृष्णपादाब्जे मनःसन्धिविधीयताम् ॥

४४. सन्धिरेकपदे नित्यं नित्यं धातूपसर्गयोः ।
अनित्यं सूत्रनिर्देशेऽन्यत्रचानित्यमिष्यते ॥
परिभाषेयम् । सा चानियमे नियमकारिणी ।

P32-76 लिखा गया

36 प-१९
Sandi.pms

✓ अथ सन्धि प्रकरणमारभमाणः श्रीमद् ग्रन्थकारो वर्णनां सन्धिविधि कलयन् तदुपमया श्रीकृष्णपादाब्जेन सहात्मनो मनः सन्धानं प्रार्थयते—यदिदमिति । यद् येन प्रकारेण वर्णनामिदं वक्ष्यमाणं सन्धिनिर्माणं मुदा हर्षण आरभे अहमिति शेषःः तेनप्रकारेण हे कृष्ण ! तव पादाब्जे चरणकमले मे मम मनसः सन्धिर्मलनं विधीयतां क्रियताम् । यद्वा कृष्णपादाब्ज इत्येकपदं; मनः सन्धिविधीयतामिति श्रीगुरुदेवं प्रति प्रार्थना ।

✓ तत्त्व०—४४. परिभाषा सूत्रमाह—सन्धिरिति । एकपदे सुवन्त-तिङ्गन्तरूपे सन्धिनित्यं यथा स्यात्तथा भवति । क्रमेण यथा—गोप्यौ, भवतीत्यदि । कृत्तद्वित्योरपि नामत्वेन सुवन्तत्वात् तत्र च सन्धिनित्यम् । यथा—भवयं वैष्णव इत्यादि । धातुश्च उपसर्गश्च धातूपसर्गौ, तयोरुपसर्गैः सह सन्धिनित्यं स्यात् । यथा—अधीते, व्याजहारेत्यादि । तथाहि श्रीपति सूत्रम्,—“धातूपसर्गयोरुपसर्गरेवेति ।” तेन “व्याकरणं” “व्युतपत्तिं” प्रभृतिषु चोपसर्गयोः सन्धिनित्यं ज्ञेयः । सूत्रनिर्देशे सन्धिरनित्यम् । यथा—“अद्वयमिद्ये एः”, “कृष्णात् टा इनः” इत्यादि । अन्यत्र—विलम्बोद्वारणादौ च सन्धिरनित्यमिति स्वयमेव वक्ष्यते । केचिदत्र “एकपदे” इत्यनेन समासमपि गृहीत्वा तत्रापि सन्धेनित्यत्वं मन्यन्ते । एके च—“नित्या समासे वाक्ये त्वित्यादिकं” पृथक् पठित्वा तथैव स्वीकुर्वन्ति । तेषांमते समासे हरि आसनमित्यसन्धिपक्षस्यासिद्धत्वं मन्ये । नित्यसमास वर्जं समासान्तरे सन्धेनित्यत्वमस्मद् ग्रन्थकृतः सम्मतमिति गम्यते । “ईशस्यानेकात्मके वामनश्च वेति” सूत्रे हरि आसनमित्यसन्धि रूपस्य दर्शयिष्यमाणत्वात् । ननु तर्हि भगवदिच्छेत्यादौ चानित्य-समासेसन्धेरनित्यतायां दोषः स्यादिति चेत् ? मैव, अनित्यसमासेऽपि यथानुशासनमनित्यमिष्यते ननु सर्वत्र यथेच्छं, प्रमाणाभावात् । तस्माद् भगवदिच्छेत्यादौ विष्णुदासो विष्णुपदन्त इत्याद्यनुशासनवलेन नित्यमेव सन्धिः स्यान्नतु विभाषया, तादृशाभिधान विरहादित्यदोषः । अथ काशिका भाषावृत्ति सुपचादिभिश्च वधू ऋतु रित्युदाहरणेन समासे सन्धेविकल्पत्व-ज्ञापितत्वात् तैः सहास्माकमैकमत्यं ज्ञेयमितिदिक् ।

वर्णनां सन्धिनिर्माणमारभमाणः श्रीमद्ग्रन्थकारस्तदृष्टान्तेन स्वस्य श्रीकृष्ण-पादाब्जविषयकमनःसन्धि श्रीकृष्णं प्रार्थयते यदिदमिति पद्येन । आरभे अहमिति शेषः । मुदा हर्षण तेन वर्णनां सन्धिनिर्माणेन । मनःसन्धिर्मनोमेलनं विधियतां क्रियताम् ।

पृष्ठ ११५

४५. सर्वप्रकरणव्यापी वर्णमात्रनिमित्तकः ।

वार्णो विकारः सन्धिः स्याद्विवयापेक्षकः क्वचित् ॥

किञ्च—अचो ये हलि संलग्ना स्तेसर्वे परतो मताः ।

हल् च तत्स्यादरामान्तं यत्र नान्याच् नचाङ्ग्रिभित् ॥

Amrit
only
प्रतिष्ठान

अमृतां—४५. लक्ष्यते ज्ञायतेऽनेनेति लक्षणम्; व्यावृत्तिव्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनमिति सन्ध्युपक्रमात् पूर्वं तल्लक्षणमाह—सर्वेति । इदं खलु व्याकरणं सम-प्रकरणात्मकम् । तत्रारभ्यमाणं सन्धिं प्रकरणं नाम प्रथमं, सुवन्तं द्वितीयं, आख्यातं तृतीयं, कारकं चतुर्थं, कृदन्तं पञ्चमं, समासं षष्ठं, तद्वितच्च सप्तममिति । तदेतत् सर्वप्रकरणं व्याप्तुमपेक्षकत्वेन प्रसरितं शीलमस्येति सर्वप्रकरणव्यापी । वर्णमात्रं वर्णएव निमित्तं प्राक् परभेदेन द्विविधकारणं यस्य स वर्णमात्रनिमित्तकः । वर्णस्यायं वार्णो वर्णसम्बन्धीत्यर्थः; विकारः स्वरूपादन्यथाभावः सन्धिः स्यात् । सच व्यचित् सुवन्तादौ विष्णुपदादिकं विषयं अपेक्षत इति विषयापेक्षकः ।

सर्वत्र लक्षणकरणे अव्याप्तिव्याप्तिरसम्भवश्चेति दोषत्रयं वर्जनीयम् । अतस्तेषां परिचय आवश्यक इत्यमी उच्यन्ते । तत्र लक्ष्यकै देशवृत्तित्वमव्याप्तिः; लक्ष्यवृत्तित्वे सत्यलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः; लक्ष्यमात्रावृत्तित्वमसम्भव इति । अत्रवार्णो विकारः सन्धिरित्युक्ते गोविन्द-वृष्णीन्द्र-सङ्कर्षणा-दावतिव्याप्तिः स्यादिति तत्त्विरासाय द्वितीयदलम्—वर्ण मात्र निमित्तक इति । गोविन्दादिस्तु वार्णविकारः सत्यपि प्रत्ययवर्णहेतु कत्वात्र केवल वर्णनिमित्तकः । तथापि “सस्य जोजे” इत्यादि विरच्छौ, तथा “सस्य हरो धे” इत्यादि हरविधी चातिव्याप्तिः प्रसज्येत, अतस्तद् वारणार्थं प्रथमदलम्—सर्वप्रकरणव्यापीति । एतादृशोहर-विरच्छ्योः सतोरपि वार्णविकारत्वे वर्णमात्र निमित्तकत्वे च तत्तद् कार्यस्यतु न सर्वप्रकरण व्यापित्वं, धात्वधिकारादिति तौ व्यावृत्तो । एवं सत्यपि ककुव, कृष्णभूदित्यादौ हरिगदाया निमित्तत्वाभावादव्याप्तिरापतेदत स्तद् व्युदासाय—विषयापेक्षक व्यचिदिति चतुर्थदल मुपन्यस्तम् । तेन सर्वप्रकरण व्यापित्वे सति, वर्णमात्र निमित्तकत्वे सति, व्यचिद् विषयापेक्षकत्वे च सति वार्णविकारत्वं सन्वेनिरवद्य लक्षणमिति ।

इदानीं हरि विष्णु इत्यादौ ये इराम उरामादयः सन्धिं ते तत्तद् विष्णुजनस्य पूर्वत्र वा परत्र वेति शङ्कां निरस्यनाह—किञ्चेति । ये अचः सर्वेश्वरा हलि विष्णुजने संलग्नास्ते सर्वेषरतो विष्णुजनानां परस्मिन् मता ज्ञेयाः । ननु कृष्ण राम इत्यादौ अन्त्यविष्णु जनेषु न कोऽपि सर्वेश्वरो दृश्यते इति चेतत्राह—हल् चेति । यत्र हलि विष्णुजने अन्याच

हे कृष्ण ! यद् येन प्रकारेण वर्णनां इदं सन्धिनिर्माणं मुदा हृषेण अहं आरभे, तेन प्रकारेण मे मम मनःसन्धिः मनसः सन्धानं तत्र पादाब्जे त्वया विधीयताम् इति समुदितार्थः ॥

बाल०—परिभाषामाह सन्धिरिति । नित्यमित्यनित्यमिति च क्रियाविशेषणम् । परिभाषालक्षणमाह अनियम इति । अनियमे नियमं कर्तुं शीलं यस्याः सा परिभाषा ॥४४

ततश्च कृष्ण अग्रे इतिस्थिते, कार्यार्थमक्षरं विश्लेषयेन्मेलयेच्च इति
न्यायेन अराम विश्लेषः । कृष्ण अ अग्रे; ततश्च—

४६. दशावतार एकात्मके मिलित्वा त्रिविक्रमः ।

दशावतारनामा वर्ण एकात्मके वर्णे परे सति तेन मिलित्वा त्रिविक्रमो
भवति । ततश्च आरामस्य पुनर्मेलनं, कृष्णाग्रे । एवं राधा आगता

आरामादि सर्वेश्वरो न दृश्यते इति शेषः । अङ्गिरि चरणं भिनत्ति स्पृशतीति अङ्गिरिभित्,
विष्णुजन ज्ञापकचिह्नविशेषश्च न दृश्यते तत् हल् व्यञ्जनवर्णः अरामान्तं ज्ञेयम् । अत्र हल्
शब्दस्य प्राचीनसूत्रत्वान्नपुंसकत्वम् ।

आरामविश्लेषइति—एतत् कार्यार्थमेकदेश विश्लेषणम् सर्वाङ्गविश्लेषो यथा—
कृष्ण=क् ऋष् ण अ इति ।

अमृता०—४६. दशावतार इति । ननु एकात्मके त्रिविक्रम इत्युक्ते येषामेकात्म-
कत्वसम्भवस्तेषामेव त्रिविक्रमो भवति नान्येषां, कथं तह्युक्तं—दशावतार इति ?
सत्यमत्र दशावताराग्रहणे त्रिविक्रम विधेविशेषत्वेन वलवत्त्वात् सन्ध्यक्षराणां प्रत्येकमेका-
त्मकत्वाद्वतुर्थ्येकत्वे हरे ए इत्यत्रापि त्रिविक्रम-कार्यप्रवृत्तिः स्यात्, ततस्तु 'हराये'
इत्यनिष्ठरूपं प्रसज्येत । एकात्मक इति किम् ? —मथुरा ईशः मथुरेशः ।

बाल०—सन्धिलक्षणमाह सर्वेति । सर्वप्रकरणं व्याप्तं शीलमस्य सर्वप्रकरणव्यापी
वर्णमात्रं वर्णं एव निमित्तमुपादानादिकारणं यत्र स वर्णमात्रनिमित्तकः । वर्णस्यायं वार्णः ।
विकारः स्वरूपादन्यथाभावः । विषयमपेक्षत इति विषयापेक्षकः । सर्वप्रकरणव्यापी
वर्णमात्रनिमित्तकः वर्णसम्बन्धी विकारः सन्धिः स्यादित्यन्यव्यः स च सन्धिः क्वचित्
सुवन्तादौ विषये विष्णुपदान्तविषयेऽविष्णुपदान्तविषये चापेक्षको भवति । ननु विकारः
सन्धिरित्येवास्तु लक्षणं किमेभिर्विशेषणैः । सत्यम् । यदि भवतोक्तः सन्धिः स्यात्तदा यस्य
कस्यापि सन्धित्वं स्यादतो वार्णं इत्युक्तः । तस्मिन्नपि गोविन्द-वृष्णीन्द्रावतिव्याप्तिरिति
वर्णमात्रनिमित्तक इत्युक्तः । तस्मिन् सत्यपि सन्धेः सर्वप्रकरणव्यापित्वसूचनाय सर्वप्रकरण-
व्यापीत्युक्तः । तस्मिन् सति सर्वत्रेवाग्रे सन्धिः प्राप्नोतीत्यतो विषयापेक्षक इत्यप्युक्तः । एवं
सर्वेषां हेतु-हेतुमद्भ्रावः कल्पनीय इति । ननु कृष्ण हरीत्यादौ येऽरामादयो विद्यन्ते, ते
परत्र पूर्वत्र वेति न ज्ञायन्ते । एवं के वाऽरामान्तादयस्तेऽपि न ज्ञायन्ते इत्यपेक्षायामाह—
अच इति परतः परत्र मता ज्ञाताः तद्वल अरामान्तं स्यादिति हलन्तानामिति पाणिनसूत्र-
दर्शनात् हलशब्दस्य ब्रह्मत्वम् । अङ्गिरि भिनत्तीति अङ्गिरिभित् व्यञ्जनवर्णस्य चिह्न-
विशेषः । यत्र हलि अरामादन्याच् न विद्यते, तद्वल् अरामान्तं स्यादित्युपलक्षणमेवं यत्र
हलि अरामादन्याच् न विद्यते, तद्वल् आरामान्तं स्यात्, तथा यत्र हलि उरामादन्याच् न
विद्यते, तद्वत् उरामान्तं स्यादित्यादि दिशा यत्र यत्र हलि यस्माद् यस्मादचोऽन्याच् न
विद्यते, तत्द्वल् तत्तदजन्तं स्यादिति सर्वत्र कल्पनीयम् ॥४५॥

राधागता, हरि हरि इति हरिहरीति, हरि ईहा हरीहा, विष्णु उदयः
विष्णूदयः, विष्णु ऊढा विष्णूढा, नरभ्रातृ ऋषिः नरभ्रातृषिः, गम्लृ
लृकारः गमलृकारः ।

४७. ऋद्धय-लृद्धययोरेकात्मकत्वं वाच्यम् ।

ऋलृद्धयं ऋद्धयं, लृ ऋ द्धयं लृद्धयमित्यादि ।

ईद्धशो विधिविरच्चिः । कर्तव्यत्वेनोपदेशो विधिरिति ।

ननु कृष्ण अग्रे इत्यादौ सूत्रस्य साफल्येऽपि राधा आगता इत्यादौ पूर्वत एव त्रिविक्रमपिद्वे स्तस्य निष्फलत्वम्, अतो वामन एकात्मके मिलित्वा इत्येवं सुवचमिति चेत् ? मैव, तथासति त्रिविक्रमस्य सन्धिविधानाभावाद् राधा आगता इत्येवमसन्धि रूपस्य नित्यस्थितिः स्यात् । अन्यथाविधानेन च वाहुल्यदोष आपतेत् । अतएव “पर्जन्यवलक्षण-प्रवृत्तिरिति परिभाषा खलवत्रैव ग्राह्या । सा च सप्तश्रीकृता प्राचीनैः; यथा,—अदीर्घो दीर्घतां याति पुनर्दीर्घेण दीर्घताम् । पर्जन्यवदिदं शास्त्रं जलेवृष्टिः स्थले यथा ॥ इति । केचित्तु लृरामस्य दीर्घत्वं न मन्यन्ते, तन्मते गमृकार इत्येव भवति । अत्र दशावतारवर्णस्य एकात्मक वर्णेन सह मेलनतयैक-त्रिविक्रम रूपो विकारः सन्धिः । एवमप्रेऽपि वोध्यम् ।

अमृता०—४७-४८. सूत्रयुगलं सुगमम् ।

बाल०—दशा । तेनेति तेन सहेत्यर्थः । ननु कृष्णाग्रे हरिहरीतीत्यादावेव दशावतारे त्रिविक्रमविधानस्य सार्थकं, राधागता बधूदयः स्किमणीहेत्यादौ तु निरर्थकं, तेन दशावतार इत्यत्र वामन एकात्मक इति क्रियताम् । सत्यम् । यद्येवं तर्हि सूत्रे दशावतारस्याग्रहणात् राधागतेत्यादौ त्रिविक्रमविधानाभावात् राधा आगता इत्यादि स्थितिः स्यात् परस्पर मिलनमपि न स्यात् कथनाभावात् । वक्ष्यते च ग्रन्थकृता वामनस्य त्रिविक्रमो नामीत्यत्र कृष्णस्य त्रिविक्रम इत्यनेन सिद्धत्वेऽपि सूत्रस्य प्रयोजनं हरीणामित्यादावेव तद्वदिह । यद्यपि राधागतादौ स्वत्वं फलं, तथापि कृष्णाग्रे इत्यादौ सम्यक् फलमिति न सूत्रस्य निरर्थकत्वम् । उक्तञ्चान्यैः—अदीर्घो दीर्घतां याति पुनर्दीर्घेण दीर्घताम् । पर्जन्यवदिदं शास्त्रं जले वृष्टिः स्थले यथेति । हरीहा हरिचेष्टा विष्णूढा स्किमण्णादि । नरभ्रातृषिरिति नरभ्राता नारायणः, स तु ऋषिरेव । ततश्च नरभ्राता चासौ ऋषिश्चेति श्यामरामसमाप्ताः । गमलृकार इत्येतत् पदं क्रमदीश्वरासमतं, तन्मते गमृकार इत्येव भवति ॥४६॥

बाल०—ऋद्धयम् । ऋ-लृद्धयमित्युक्तम् । एवं लृ ऋद्धय लृद्धयमित्यपि भवतीति ज्ञेयम् । ऋद्धति रामभागद्वययुक्त ऋषामो वेति वक्तव्यम् । होतृ ऋकार इत्यत्र होतृकारो होतृकारो वा । ऋद्-लृति लृद्धति लरामभागद्वययुक्त लृरामो वेति च वक्तव्यम् । होतृ लृकार इत्यत्र होतृलृकारः । गमृ-लृ-ऋकार इत्यत्र गमृलृकार इति ।

ईद्धशेति । ईद्धशो दशावतार एकात्मके मिलित्वा त्रिविक्रम इत्यनेन दशावतारस्य स्थाने त्रिविक्रमो विधिविरच्चिर्भवति । एवमुत्तरत्रापि इद्धयादि परे अद्वयस्य स्थाने

४८. अद्वयमिद्ये ए ।

अ आ इति द्वयं इ ई इति द्वये परे तेन मिलित्वा एरामो भवति ।
यादव इन्द्रः यादवेन्द्रः, गोकुल ईशः गोकुलेशः, मथुरा ईशः मथुरेशः ।

४९. प्रादेषैष्ययोर्वा तथा ।

प्र एषः प्रेषः, प्रएष्यः प्रेष्यः । पक्षे एद्ये ए—प्रैषः प्रैष्यः ।

५०. उद्ये ओ ।

अ आ इति द्वयं उ ऊ इति द्वये परे मिलित्वा ओरामो भवति ।
अद्वयमत्र पूर्वत्रोऽनुवर्त्तते । यदुक्तम्—कार्यिणा हन्यते कार्यो कार्यकार्येण
हन्यते; निमित्तश्च निमित्तेन यच्छेशमनुवर्त्तत इति । पुरुष उत्तमः
पुरुषोत्तमः, सुपर्ण ऊः सुपर्णोऽः, द्वारका उत्सवः द्वारकोत्सवः ।

अमृता०—४८. प्रादिति । एष एष्ययोः परयोः प्रादुत्तरः अरामस्तथा वा भवति,
अर्थात् पूर्वोक्त एरामो वा भवति । अराम एषैष्ययोरेरामेण मिलित्वा एरामो वा भवतीति
फलितार्थः । पक्षेऽद्ये ए वक्ष्यते नित्यिक एव ।

अमृता०—५०. उद्य इति । ननु वृत्तौ अआ इतिद्वयमितीदृशी व्याख्या कुतो
लब्धा, सूत्रे तद दर्शनविरहदिति चेत्तात्राह—अद्वयमिति । तदनुवर्त्तनमेव द्रव्यति प्राचीन
कारिकया—कार्यिणे त्यादिभिः । कार्यमस्यास्तीति कार्यो, यत् कियते तत् कार्यम्, येनविना
यन्नभवति तत्स्य निमित्तम् । तत्त्वात्र प्राङ् निमित्त परनिमित्तभेदेन द्विविधम् । अत्र उद्येन
परनिमित्तेन इद्यं परनिमित्तं हन्यते अर्थाद् वाध्यते । ओराम-कार्येण एराम-कार्यं हन्यते ।
ततोऽद्यं कार्यं तु नकेनापि वाध्यते तेन तदेवानुवर्त्तते । अनुवृत्तिरधिकारः । सा च
गङ्गास्रोतः,—सिंहावलोकित-मण्डूकप्लुति-भेदात् त्रिविधा । इह खलु अवाध्यत्वेन पूर्वतो
धारावाहिकतयोर्तारोत्तरामनुवर्त्तनाद् गङ्गास्रोतो नामाधिकारः । अन्तिमौ तु समास-
तद्विनयोर्दर्शयिष्यते । सुन्दरेष्ण पक्षे यस्य स सुपर्णो गरुडः, तेनोऽः कृष्णः ।

एरामादिरपि विधिविरिच्चिरिति ज्ञेयम् । विधिलक्षणमाह—कर्तव्यत्वेनेति कर्तव्यत्वरूपेण
य उपदेशः, स विरिच्चिः । अत्रोपदेशपदं करणघणन्तं कर्मघणन्तश्च गृहीतम्, यदा करण-
घणन्तं, तदा सूत्रस्यैव विरिच्चित्वं, यदा कर्मघणन्तं, तदा कार्यस्यैवेति । प्रतिपादितसूत्रस्य
तु पाणिनीयैरप्युक्तं, तद यथा—धातुसूत्रगणोणादि वाक्यलिङ्गानुशासनम् । आगमप्रत्यया
देशा उपदेशाः प्रकीर्तिता इति ॥४७॥

बाल०—अद्वयम् । सुगमम् ॥४८॥

बाल०—प्रात् । एषैष्ययोः परयोः प्रादुत्तरोऽरामस्तथा वा भवति एषैष्ययोरेरामेण
मिलित्वा एरामो वा भवतीत्यर्थः । प्रादिति सौत्रत्वादरामान्तनिर्देशः ॥४९॥

५१. ओमि च तथा ।

कृष्ण ओम् कृष्णोम् ।

५२. ऋद्धये अर् ।

अ आ इति द्वयं ऋ ऋ इति द्वये परे मिलित्वा अर् भवति । कृष्ण
ऋद्धिः कृष्ण् अर् द्धिः इति स्थिते जलतुम्बिका न्यायेन पूर्वविष्णुजनस्य
परोद्धर्वगमनम्; जलवालुकान्यायेन परसर्वेश्वरस्य पूर्वविष्णुजने प्रवेशः ।
कृष्णद्धिः ।

अमृता०—५१. ओमिचेति । अआ इति द्वयं ओमि परे तथा पूर्वोक्त ओरामः
स्यात् । अमित्यस्य ओरामेण मिलित्वा ओराम एव भवतीत्यर्थः । ओ द्वये औ इति
वक्ष्यमागेन औरामे प्राप्ते तद्वाधित्वा ओरामविधानम् ।

अमृता०—५२. ऋद्धय इति । जलतुम्बिकेति—जले तुम्बिका अलावुरिव यो न्यायः
प्रवर्त्तते स जलतुम्बिका न्यायः । अन्तः सार-शून्या शुष्कतुम्बिका यथा जलाभ्यन्तरे
न्यस्तापि जलोद्धर्वमेवप्लवते तथा पूर्वविष्णुजनः परोद्धर्वमेव गच्छतीत्यर्थः । जले वालुका इव
न्यायः इति जलवालुकान्यायः । जलोपरि निक्षिप्तापि वालुका यथा जलाधोदेश संलग्नति
तथा परस्थित-सर्वेश्वरः पूर्वविष्णु जने प्रविशतीत्यर्थः ।

बाल०—ऊद्धये । सुगमम् । ननु सूजेऽद्वयं न दृश्यते, वृत्तौ कथं अ-आ इति द्वयम्
उ-ऊ इति द्वयम् इत्युच्यते इति चेत् तत्रैवाह—अद्वयमत्रैति यद्यत्राद्वयमनुवर्त्तते, तदा इद्वय
इति ए इति च कथं नानुवर्त्तते इत्यत आह यदुक्तमिति । कार्यिणेति । कार्यिणा कार्यो
हन्यते बाध्यते, कार्येण कार्यं हन्यते बाध्यते, निमित्ताच्च निमित्तोन हन्यते बाध्यते, यत् शेषं
अवशिष्टं केनापि न बाध्यते, तदनुवर्त्तते इत्यर्थः । कार्यमस्यास्तीति कार्यो । यत्क्रियते
तत्कार्यम् । येन विना यन्न भवति तत्स्य निमित्तम् । तत्रात्र द्विविधं, प्राङ्गनिमित्तं
परनिमित्तच्च । अबाध्यत्वेनौत्तरोत्तरतः पुनर्वर्त्तनमनुवृत्तिरिति सा च कार्यनुवृत्तिः
कार्यनुवृत्ताः निमित्तानुवृत्तिरिति त्रिधा । अत्र उद्धयेन परनिमित्तेन इद्वयं परनिमित्तं
बाध्यते, ओरामकार्येण एरामकार्यं बाध्यते । अद्वयकार्यो तु केनापि न बाध्यते, अतस्तदनु-
वर्त्तते इति ज्ञेयम् । कार्यिणा कार्यो बाध्यते इति स्थानान्तरे बोद्धव्यम् । स्थानान्तरन्तु उद्दयं
व इत्यादौ ज्ञेयम् । सुपर्णोऽहं इति सुपर्णो गरुडस्तेनोऽहः सुपर्णोऽहः श्रीकृष्णः ॥५०॥

बाल०—ओमि । अ-आ इति द्वयम् ओमि च परे तथा सन्धिर्भवति । ओमित्यनेन
मिलित्वा ओरामो भवतीत्यर्थः ॥५१॥

बाल०—ऋद्धये । ऋद्धिवृंद्धि । जल-तुम्बिकेति जले तुम्बिका इव यो न्यायः प्रवर्तते,
स जल-तुम्बिकान्यायः । तेन जल-तुम्बिकान्यायेन तुम्बी अलावुः । तुम्ब्यलावुरुभे समे
इत्यमरः । सात्र शुष्कान्तःशून्यैव ज्ञेया । सा यथा जले अन्तस्थ्यक्त्वापि ऊद्धर्वमेव गच्छति,
तथा पूर्वस्थितो विष्णुजनः परोद्धर्वमेव गच्छतीत्यर्थः । जल-वालुकेति जले वालुका इव यो

५३. लृद्वये अल् ।

अ आ इति द्वयं लृ लृ इति द्वये परे मिलित्वा अल् भवति ।

यमुना लृकारायते यमुनलकारायते ।

५४. पुनरद्वयसन्धौ आडादेशः परनिमित्तवद् वक्तव्यः ।

अतिदेशोऽयम् । अन्यतुल्यत्वविधानमतिदेशः । अत्रारामस्य डित्त्वं

क्रियायोगे इति वक्ष्यते । आ इहि एहि, कृष्ण एहि कृष्णेहि । आ ऊढा

ओढा, कृष्ण ओढा कृष्णोढा । आ ऋद्धिः अर्द्धिः, कृष्ण अर्द्धिः कृष्णाद्धिः ।

आ लृकारायते अल्कारायते, यमुना अल्कारायते यमुनालकारायते ।

५५. ए द्वये ऐ ।

अ आ इति द्वयं ए ऐ इति द्वये परे मिलित्वा ऐ रामो भवति । कृष्ण
एकनाथः कृष्णेकनाथः । कृष्ण ऐश्वर्यं कृष्णैश्वर्यम् ।

अमृता०—५३. लृद्वय इति । लृकार इवाचरतीत्यर्थं कथडिलृकारायते ।

अमृता०—५४. पुनरिति । पुनरद्वयसन्धौ—अद्वयमिद्वये ए प्रभुति सन्धिचतुष्टये
विषये, आडादेशः पूर्वविहिताड् एरामादिरूप आदेशः, इरामादिभिरिति शेषः, यत्पर-
निमित्तम्-इरामादि, तद्वद् वक्तव्यः । तेन अद्वयमिद्वयेन मिलित्वा यथा एरामो भवति
तथा अद्वयं एरामेणापि मिलित्वा एरामएव स्यावतु एराम इत्यादिकं ज्ञेयम् । अतिदेश-
लक्षणमाह—अन्येति । उक्तच्चान्यैः—प्रकृतात् कर्मणो यस्मात् तवसमानेषु कर्मसु ।
धर्मोऽतिदिश्यते येन सोऽतिदेश इति स्मृतः ॥ इति । अत्रेति—क्रियायोगे आडोडित्त्वं
डरामस्याप्रयोगे वक्ष्यते—ईषद्वये क्रियायोगे इत्यादिनेत्यर्थः । ननु कथं—“तामुपैहि”
इत्यत्र न परनिमित्तवत्त्वम् ? सत्यंसूत्रे आडादेश इति आडःशब्देन उपसर्गं एवेष्टः,
अत्रतृप्तसर्ग-प्रतिरूपकाव्ययमेवाड्, ततो न दोषः ।

न्यायः प्रवर्तते, स जल-वालुकान्यायः । तेन जलवालुकान्यायेन वालुका यथा जलोपरि
निक्षिप्तापि अन्तरे प्रविशति, तथा परस्थितः सर्वेश्वरः पूर्वविष्णुजने एव प्रविशतीत्यर्थः ॥५२॥

बाल०—लृद्वये । लृकारायत इति लृकार इवाचरतीत्यर्थः ॥५३॥

बाल०—पुनरद्वयसन्धौ विषये आडादेशः अर्थादिरामादिना सहेति शेषः ।
आडःआदेश एरामादिः परनिमित्तवद् वक्तव्यः आड् पूर्वनिमित्तम् । तेन यथा अराम
इरामेण सह मिलित्वा एरामो भवति, तथा अराम एरामेणापि सह मिलित्वा एराम एव
भवतीत्येवं क्रमेण बोद्धव्यम् । अतिदेशलक्षणमाह अन्येति । अन्यतुल्यत्वस्य विधानम्
अन्यतुल्यत्वविधानम् । अत्रेति अत्र अस्य लक्षणस्योदाहरणेषु आरामस्य क्रियायोगे
डित्त्वमिति वक्ष्यते इत्यर्थः ॥५४॥

बाल०—ए द्वये । सुगमम् ॥५५॥

५६. स्वादीरेरिणोश्च तथा ।

स्व ईरं स्वैरं, स्व ईरी स्वैरी । स्वैरिणी च । नाम्नो ग्रहणे लिङ्गविशिष्ट-
स्यापि ग्रहणमिति न्यायात् ।

५७. ओ द्वये ओ ।

अ आ इति द्वयं ओ ओ इति द्वये परे मिलित्वा औरामो भवति । कृष्ण
ओदनं कृष्णौदनम्, कृष्ण औन्नत्यं कृष्णौन्नत्यम् ।

५८. प्रादूढोद्योश्च तथा ।

प्र ऊङः प्रौढः, प्र ऊङ्डः प्रौढः । ऊहमिति केचित् पठन्ति । प्रौहः ।
नेह-प्रोढवान्; अर्थवद् ग्रहणेऽनर्थकस्य न ग्रहणमिति न्यायात् ।

५९. इद्वयमेव यः सर्वेश्वरे ।

इ ई इति द्वयमेव सर्वेश्वरे परे यरामो भवति ननु मिलित्वा । यद्यत्यराम
उच्चारणार्थः । एवमन्यत्रापि । हरि अर्चनं हर्यर्चनं, हरिआसनं हर्यासनं,

अमृताऽ—५६. स्वादिति । ईरेरिणोः परयोः स्वादुत्तरोऽरामः तथा पूर्ववन्
मिलित्वा एराम एव भवतीत्यर्थः । अत्र अद्वयमिद्वये ए इत्येरामे प्राप्ते विशेषविधिरयम् ।
ननु सूत्रे स्त्रीत्वाग्रहणात् कथं स्वैरिणीति सिद्ध्यति ? तत्राह—नाम्न इत्यादि । नाम्नः
शब्दस्य ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य लिङ्गयुक्तस्यापि ग्रहणं भवति । लिङ्गयते ज्ञायतेऽनेनेति
लिङ्गं, स्त्रीत्व-पुस्त्व नपुसकत्व-ज्ञापकचित्तमित्यर्थः ।

अमृताऽ—५८. प्रादिति । ऊढोढ्योः परयोः प्रादुत्तरोऽरामस्तथा पूर्ववद् मिलित्वा
औराम एव भवति । अत्र “उद्वये ओ” इत्योरामे प्राप्ते विशेषविधानमिदम् । अर्थवदिति—
प्रकृति-प्रत्यय-समुदायेनैवार्थं प्रकाशकत्व-नियमः; इह तु कृत्वन्तस्य ‘ऊढवत्’ शब्दस्यैक-
देशऊढ इत्यंशस्यार्थशून्यत्वात् तस्मिन् परे सूत्रस्य प्रवृत्तिर्नस्यादिति भावः ।

बाल०—स्यात् । ईरेरिणोः परयोः स्वादुत्तरोऽरामस्तथा भवति मिलित्वा ऐरामो
भवतीत्यर्थः । स्वादिति पूर्ववत् । ननु सूत्रे ईरिन्शब्दोऽस्ति तर्हि कथं स्वैरिणी इति भवतु
इति चेतत्राह—नाम्न इति लिङ्गेति लिङ्गयते ज्ञायते स्त्रीत्वादिकमनेनेति लिङ्गमावादि
तद्विशिष्टस्य तदयुक्तस्य इत्यर्थः ॥५६॥

बाल०—ओद्वये । सुगमम् ॥५७॥

बाल०—प्रात् । ऊढोढ्योः परयोः प्रादुत्तरोऽरामस्तथा भवति मिलित्वा औरामो
भवतीत्यर्थः । प्रादिति पूर्ववत् । अर्थवदिति अत्र ऊढगदः सार्थको गृह्णते, अतः
ऊढवच्छब्दैकदेशस्य ऊढेत्यस्य अर्थशून्यत्वात्तस्मिन् परे न भवतीत्यर्थः । अत्रार्थं एव
नास्तीति न, किन्तु यत्र पदार्थं गृहीत्वा यत्कार्यं कियते, तदतिरिक्तार्थोऽनर्थक इति ॥५८॥

दधि उपेन्द्रस्य दध्युपेन्द्रस्य, रुक्मणी एषा रुक्मण्येषा । एतावतैव सिद्धिः । द्वित्वविकल्पेन तु मतान्तराणि वक्ष्यन्ते । तस्मादसिद्धरूपं न त्याज्यमिति प्रतिज्ञा नात्र व्यभिचरति । कथं हरिहरीति ? एकात्मकतामवलम्ब्य त्रिविक्रमविर्वेषेषत्वेन बलवत्त्वात् । तथाहि,—समस्तव्यापि सामान्यं, एकदेशव्यापी विशेषः । सामान्य विधिस्तुसर्गो विशेषविधिरपवादः । इति स्थिते पूर्वं परयोः परविधिर्बलवान्, नित्यानित्ययोर्नित्यः, अन्तरङ्गं वहिरङ्ग्योरन्तरङ्गः, उत्सर्गपवादयोरपवादः । तेषु चोत्त-

अमूला०—५८. इद्यमिति । ननु मिलित्वेति एवकारात्तद्व्यावृक्तिपूर्वक नियमः । एतावतैवेति—एतदुदाहरणानामनेन हि लक्षणेन सिद्धिर्भवति । असन्धिपक्षस्य चात्रानुकूलतया पृथक्सूत्रविधानेन वक्ष्यमाणत्वाद् “सिद्धरूपं न त्याज्यमिति” प्रतिज्ञाया नात्र व्यभिचार इत्याशयः । प्रागुक्त—हरिहरीत्यादावस्य सूत्रस्य प्राप्तिशङ्कां निरस्यन् समादधाति—एकात्मकतामित्यादि । तमेव सिद्धान्तं द्रव्यति—तथाहीत्यादि न्यायैः । अत्र परनिमित्तस्य सर्वेश्वर मात्रस्य समस्त-व्यापित्वात् सामान्यत्वम्, त्रिविक्रम विधानसूत्रे परनिमित्तस्यैकात्मकस्य एकदेश व्यापित्वाद् विशेषत्वं वोध्यम् । तेषुचेति—तेषु चतुर्षु न्यायेषु उत्तरोत्तरो यथानिदिष्टकमेण हि परपरो न्यायो वलवानित्यर्थः । तेनच परविधेनित्यो वलवान्, नित्यादप्यन्तरङ्गः, तस्मादप्यवादो वलवानिति फलितार्थः । दशावतार इति—दशावतारे सामान्यत्वं यदाशङ्कां तदा तत्र त्रिविक्रम विधानसूत्रे दशावतारस्थाने अद्यमित्येवमेव क्रियते विधीयते मयेतिशेषः ।

अत्रायमाशयः—अद्यस्य त्रिविक्रमविधानस्य केनाप्यवाध्यत्वाद् विशेषत्वं सिद्धम् । तेनसहैकत्र यस्मादिरामादीनामपि त्रिविक्रम विधानं कृतं तस्माद् दशावतारस्थापि विशेषत्वं निश्चेतत्वम् । यदि दशावतारस्य सामान्यत्वं स्यात्तदा अद्यस्य दशावतारान्तर्गतत्वेन त्रिविक्रमविधानमकृत्वा अद्यमेकात्मके मिलित्वा त्रिविक्रम इत्येवं पृथक्त्वेन हि सूत्रं विधीयेतेत्यर्थः । ननु अद्यमित्येव कृते ईद्योद्यादीनां कागतिरिपि चेत्तात्राह—

आल०—इद्यमेव । ननु मिलित्वेति सर्वेश्वरेण सहेति एवशब्दोपादानादिति शेषः । एतावतैव सिद्धिरिति एषामुदाहरणानामनेन लक्षणेनैव सिद्धिरित्यर्थः ।

द्वित्वेति । द्वित्वच विकल्पच तयोः समाहारः द्वित्व-विकल्पं गवाश्वादित्वात् । तेन द्वित्व-विकल्पेन पुनर्मतान्तराणि कार्याणि वक्ष्यन्ते । कथमिति सिद्धान्तमाह एकात्मकतामिति सर्वेश्वरमात्रे परे यरामो भवति इति यरामविधेः सामान्यत्वम् । एकात्मकतामित्यत्र स्वरूपमात्रे ताप्रत्ययः, एकात्मकस्वरूपमित्यर्थः । उक्तमर्थं द्रव्यति तथाहीत्यादिना तेषु चोत्तर इत्यन्तेन । समस्तमनेकदेशं व्याप्तुं शीलमस्येति समस्तव्यापी । एकदेशं व्याप्तुं शीलमस्येति एकदेशव्यापी उत्सर्गं इति उत्सर्गनामेत्यर्थः । एवमपवादेऽपि वलवानिति नित्यादिष्वपि योज्यम् । तेष्विति । ननु तेष्वित्यत्र चतुर्षु अष्टसु वेति किं व्याख्येयमिति

रोत्तर इति । दशावतारे सामान्यत्वश्चेत्तत्राद्वयमित्येव क्रियेत, विष्णुदय
इत्यादावपि परपर सूत्र प्राप्तेः । तदेवमेते चान्ये च न्याया युक्त्या
प्रसिद्ध्या च स्वीकृतत्वात् पूर्वमुत्तरश्च ग्रन्थं व्याप्नुवन्ति ।

६०. उद्धयं वः ।

उ ऊ इति द्वयं सर्वेश्वरे परे वरामो भवति । मधु अरिः मध्वरिः, विष्णु
आश्रितः विष्णवाश्रितः ।

विष्णुदय इति । हरिहरि इतीत्यादिरिद्यमेव यद्यनेन, विष्णुउदय इत्यादिरुद्धयं व
इत्यनेन, एवं ऋद्धयं लृद्यश्च परपर सूत्र द्वयेन वाध्यत एव । ततस्तेषामिद्वयादीनां
त्रिविक्रमविधानस्य निष्कलत्वापत्तोर्न तत् करणं प्रयोजनमिति हेतोस्तत्र अद्वयमित्येव
क्रियेत । अतस्तदकरणाद् दशावतारस्य विशेषत्वमवगन्तव्यमिति । एकात्मकतामवलम्ब्य
दशावतारस्य विशेषतया बलवत्त्वात् तत् सन्धेनित्यत्वम्, अतएव “ईशस्यानेकात्मके
वामनश्च वेति” विभाषाविधाने अनेकात्मकस्य ग्रहणमित्यप्यनुसन्धेयम् । तेनेह—
एकात्मकेतर सर्वेश्वर एव परे इत्यादीनां यरामादयो भवन्तीत्येवं व्याख्याने हि सर्वं
समझसमिति । एवमग्रिमत्रितयेऽपि वोद्धव्यम् ।

अमृता०—६०. उद्धयमिति । सर्वेश्वरे इति पूर्वतोऽनुवर्तते । अत्रापि एकात्मके-
सन्देहो मैवं ; यद्यत्र तेषु चाष्टस्त्रिति व्याख्यायते, तदा फलाभावः प्रत्युतपौनरुक्तमेव ।
पूर्व-परयोः परविधिर्वर्णवाननित्यादिना व्याख्यानेनाष्टम् न्यायेषु उत्तरोत्तरन्यायानां
बलवत्त्वसिद्धे रताएव युग्मत्वेन निर्दिष्टेषु तेषु च चतुर्षुन्यायेषु उत्तरोत्तरन्यायो बलवानित्येवं
व्याख्येयं, तेन उत्सर्गपिवादयोरपवाद इत्यस्य सर्वम्भ्य एव बलवत्त्वं व्यक्तम् । दशावतार
इति त्रिविक्रमता दशावतारस्य भवति, यरामता इद्वयस्य एव भवति । दशावतारे
त्रिविक्रमविधेः सामान्यत्वं यदि वक्तव्यं, तदा तत्र त्रिविक्रमसूत्रे अद्वयमित्येव क्रियेत । ननु
अद्वयमात्रे कथं त्रिविक्रमः प्रवर्ततां हरि हरीतीत्यत्र विष्णुदय इत्यादावपि । तस्य प्रवृत्ते-
रित्याह विष्णुदय इत्यादाविति । यथा हरिहरीतीत्यत्र इद्वयमेव यः सर्वेश्वर इत्यस्य
प्राप्तिरिति अद्वयमित्येव क्रियेत, तस्मादद्वयं न कृत्वा यद्यशावतार इति कृतम्, ततएव
हेतोहरिहरीत्यादौ त्रिविक्रम एव प्रवर्तते इत्यर्थः । दशावतारे सामान्यत्वं चेत, तदाऽद्वयं
मिलित्वा त्रिविक्रम इत्येवं क्रियेत । यस्मादित्येवं सूत्रं न कृतं, तस्माद्यशावतारे एकात्मक-
त्वाऽपेक्षया सामान्यत्वं नास्त्येव इति ध्वन्यर्थः । तदेवमिति तत्समात् प्राचीनैः स्वीकृतत्वा-
देतोरेवमुक्तप्रकारेणार्थपोषकत्वेन एते पूर्वपरयोः परविधिर्वर्णवाननित्यादय अन्ये उक्ता
वक्ष्यमाणाश्च न्यायाः स्थित्यनतिक्रमाः केचित् युक्त्या तकेण स्वीकृताः, केचित् प्रसिद्ध्या
च लोकप्रसिद्ध्या पूर्वमुत्तरश्च ग्रन्थं व्याप्नुवन्ति इति ज्ञेयम् । तकं-प्रसिद्ध्योरेषा-
मनुसारित्वं ज्ञेयम् । यथा पूर्वपरिविरोधे च कोञ्चित्यर्थोऽभिमतो भवेदित्यादीनामूहनं
तकं इति ॥५८॥

६१. ऋद्यं रः ।

ऋ ऋ इति द्वयं सर्वेश्वरे परे ररामो भवति । रामभ्रातृ उदयः
रामभ्रात्रुदयः । रामभ्रातृ ऐश्वर्यं रामभ्रात्रैश्वर्यम् ।

६२. लृ द्वयं लः ।

लृ लृ इति द्वयं सर्वेश्वरे परे लरामो भवति । शक्लु अर्थः शक्लर्थः ।
श्रीपतेरेव । व्याडि-गालवयोर्मतेन मध्ये एव य-व-र-ला भवन्ति ।
हरियर्चनं, भधुवरिः भुवादि इत्यादि ।

६३. ए अय् ।

एरामः अय् भवति सर्वेश्वरे परे । कृष्णे उत्कर्षः कृष्णयुत्कर्षः ।

६४. ऐ आय् ।

ऐ रामः आय् भवति सर्वेश्वरे परे । यमुनायै अर्थः यमुनायायर्थः, गोप्यै
आसनं गोप्यायासनम् ।

६५. ओ अव् ।

ओरामः अव् भवति सर्वेश्वरे परे । विष्णो इह विष्णविह ।

तरेसर्वेश्वरे परे वरामः स्यादिति वक्तव्यम् । एवग्रिमसूत्रद्वयेऽपि ज्ञेयम् ।

अमृता०—६२. लृद्यमिति । श्रीपतेरिति—श्रीपते: पण्डितस्य मते प्रागुक्त प्रकारेण
इद्वयादीनामेव स्थाने यरामादयो भवन्ति । अत्र एव शब्द उपमानवाचकः,
‘एवौपम्येऽवधारणे’ इति विश्व कोषात् । व्याडि-गालवौ पण्डितविशेषौ, तयोर्मते तु
मध्ये एव यवरला भवन्ति न तु इरामादय इत्यर्थः । ६३, ६४, ६५, ६६ । एथित्यादि
चतुष्टयं स्पश्यम् ।

बाल०—उद्यं । सुगमम् । मधुरसुरविशेषः ॥६०॥

बाल०—ऋद्यं । सुगमम् ॥६१॥

बाल०—लृद्यं । शक्लृधातोरर्थः शक्तिः, सा तु भगवत् एव । श्रीपतेरिति श्रीपते:
पण्डितस्य मते एवमुक्तप्रकारेण इद्वयादीनां स्थाने सर्वेस्वरे परे यादयः प्रयोगा भवन्ति ।
एव शब्दोऽत्र उपमानवाचकः एवौपम्येऽवधारणे इति विश्वः । व्याडीति । व्याडिगालवौ
पण्डितविशेषौ, तयोर्मतेन मध्ये एव इति न तु इद्वयादय इत्यर्थः ॥६२॥

बाल०—ए अय् । सुगमम् ॥६३॥

बाल०—ऐ आय् । सुगमम् ॥६४॥

बाल०—ओ अव् । सुगमम् ॥६५॥

६६. औ आव् ।

ओरामः आव् भवति सर्वेश्वरे परे । कृष्णो अत्र कृष्णावत्र ।

६७. ए ओभ्यामस्य हरो विष्णु पदान्ते ।

ए ओभ्यां विष्णु पदान्ते स्थिताभ्यां परस्य अरामस्य हरो भवति ।
हरे अत्र हरेऽत्र, विष्णो अत्र विष्णोऽत्र

६८. अयादीनां यवयोर्वा ।

अय् आय् अव् आव् इत्येषां विरच्चीनां यवयोर्वा हरो भवति विष्णु-
पदान्ते विषये । कृष्णयुतकर्षः कृष्णउत्कर्षः; यमुनायायर्थः यमुनायाअर्थः;
गोप्यायासनं गोप्याआसनं; विष्णविह विष्णदहः कृष्णावत्र कृष्णाअत्र ।
यवाविमावीषतस्पर्शिनावीषतस्पर्शितरौ च मतौं ।

६९. तेषां न सन्धिनित्यम् ।

तेषां यवलोपिनां नित्यं सन्धिनं भवति । प्रतिषेधोऽयम् । कृष्णउत्कर्ष
इत्यादि ।

७०. ओरामान्तानामनन्तानाश्चाव्ययानां सर्वेश्वरे ।

ओरामान्तानामनन्तानाश्च केवलानामव्ययानां सर्वेश्वरे परे सति पूर्वस्य

अमृता०—६७. एओभ्यामिति । अत्र “एअय्” इत्येरामस्य अयादेशे, तथा
“ओअव्” इत्योरामस्य अवादेशे च प्राप्ते नियमोऽयम् । तेन विष्णुपदान्ते एओभ्यामरामे-
तरस्मिन्नसर्वेश्वरे परे हि अयवौ आदेशीज्ञेयौ, अरामे परे तु तस्य हर एव स्यादित्यर्थः ।
अविष्णुपदान्ते एओरामयोरेव अयवौ नित्यमेव सिद्धौ ।

अमृता०—६८. अयादीनामिति । अत्र अय गती अवरक्षणे इतिधातुद्वयस्य यवयोर्हरे
प्रसक्ते विरच्चीनामित्युक्त्या तदतिव्याप्तिनिरस्ता ।

अमृता०—६९. सन्धिनिषेधमाह—तेषामिति । पूर्वसूत्रस्य वानुवृत्ति-निरासार्थमिति
नित्यपदं न्यस्तम् ।

बाल०—औ आव् । सुगमम् ॥६६॥

बाल०—एओभ्यां । सुगमम् ॥ ए अय् इत्ययादेशे प्राप्ते ओ अव् इत्यवादेशे
प्राप्ते नियमोऽयम्, तेन अरामादन्यस्मिन् सर्वेश्वरेऽयादिर्भवति । एओभ्यान्तु परस्यारामस्य
हर एव स्यादिति भावः ॥६७॥

बाल०—अय् । सुगमम् ॥६८॥

बाल०—तेषां । वानुवृत्तिशङ्कनिरासार्थं नित्यमिति कृतम् ॥६९॥

च परस्य च सन्धिर्न भवति । नो उपेन्द्रः नो अच्युतः । कथं तद्विते विप्रत्ययान्तस्य गोशब्दस्याव्ययत्वे गोऽभवदिति ? लाक्षणिक-प्रति-पदोक्त्योः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणमिति न्यायेन स्यात् ।

अरामादयः सम्बोधनादौ । अत्र सम्बोधने—अ अनन्त । स्मरणे—आ एवमच्युतलीला । भर्तुसने—इ अच्युतं न भजसि । वाक्पूरणे—ई ईदृशः संसारः । आमन्त्रणे—उ अच्युत । प्रतिषेधे—ऊ उपसन्नं मां

अमृतां—७०. ओरामान्तानामिति । केवलानां विष्णुजनसंयोग-रहितानामिति अनन्ताव्ययानामेव विशेषणं, प्राचीनसम्मतत्वात् । ओरामान्ताव्ययानान्तु केवलत्वं न विवक्षा । अहो अहमित्यादि प्रयोगोहश्यते प्राचीन काव्येषु ।^१ “अकेवलार्थमिदं वचनमिति” पद्मनाभेन चोक्तम् । केवलशब्दं प्रतिपदोक्तपरवेन व्याख्याय तस्य ओरामान्ताव्यय-विशेषणत्व-स्वीकारे तु मूलोक्ता “कथं तद्वित” इत्यादि शङ्कैव नोपपद्यत इति विभाव्यम् । पूर्वस्य परस्य चेति असन्धिर्द्वान्तद्वयेनैव सुव्यक्तः ।

तद्विते विप्रत्ययान्तस्येति—अगौगौरभवदित्यर्थे विप्रत्यय स्तद्वितः; केवलप्रत्ययस्य वैर्हरः; अव्ययात् स्वादेमहाहरः । इत्येतैः सिद्धस्य गोशब्दस्य सन्धि दृष्टा तत्राव्याप्तिशङ्कां निवारयति सिद्धात्मेन—लाक्षणिकेत । प्रतिपदोक्तं स्वाभाविकम् । विप्रत्ययान्त-शब्दस्याव्ययत्वं तद्वितप्रकरणे वक्ष्यते ।

केवलानन्तानामसन्धिमुदाहरति—अरामादय इत्यादिना । अ अनन्तेति हे अनन्तेत्यर्थः । भर्तुसनस्तिरस्कारस्तस्मिन् भो अवैष्णव इ अच्युतं न भजसि ? त्वांधिगित्यर्थः । आमन्त्रगमत्रसम्बोधनम् । प्रतिषेधो निषेध स्तत्र उपसन्नमनुगतं मां उ-

बालां—ओरा । एओभ्यामस्य हर इत्यादिना प्राप्तेऽयं प्रतिषेधः । ओरामान्तानामव्ययानां अनन्तानां विष्णुजनसंयुक्तत्वेन केवलत्वाभावात् । अथवा वृत्युक्त-केवलशब्देन सर्वेषामेवाव्ययानां केवलत्वं लक्ष्यते । तस्मादोरामान्ताव्ययानामपि केवलत्वं लाक्षणिकौरामस्तं वर्जयित्वा प्रतिपदोक्तत्वापेक्षयोक्तम् । सविशेषणे विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंकामतः सति विशेष्ये बाधे इति न्यायात् । तेन नन्यापुक्रान्तस्याव्ययस्यापि केवलत्वंच्च ति । अन्यथा गोऽभवदित्यादावप्यतिव्याप्तिः स्यात् । अलक्ष्ये लक्षणगमत्रमतिव्याप्तिः । लक्ष्ये लक्षणगमनं व्याप्तिश्चेति । नो इति निषेधार्थम् । कथमिति ननु अगौगौरभवदित्यर्थे तद्विते सर्वेविप्रत्ययान्तस्य गोशब्दस्याव्ययत्वे सति गो अभवदित्यत्र गोऽभवदिति कथं सिद्ध्यतु इत्याक्षेपे सिद्धान्तमाह लक्षणिकेति । लाक्षणिक-प्रतिपदोक्तयोरित्यत्र मध्ये इति शेषः । प्रतिपदोक्तं प्रतिस्थानोक्तं स्वभावसिद्धमित्यर्थः । पदं व्यवसिति त्राण-स्थान-लक्ष्माङ्ग्लिवस्तुषु इति नानार्थवर्गः ।

१—अहो अहं नमो महायदुदृत्य सुमध्यमा । उल्लास्य नयने दीर्घे साकांक्षमहीक्षितः ॥ इति पाणिनिमुनिकृत-जाम्बवतीविजयकाव्ये श्रीकृष्णस्योक्तिः ।

त्यजसि । आङ्गस्तु सन्धिर्भवत्येव । आ अनन्तं आनन्तम्, अनन्तमर्यादां
कृत्वेत्यर्थः ।

ईषदर्थे क्रियायोगे व्याप्ति-मर्यादयोश्च यः ।

एतमातं डिंतं विद्याद् वाक्य-स्मरणयोरडिंदिति ॥

७१. ईद्वदेतां द्विवचनस्य मणीवादिवर्जम् ।

द्विवचनस्थानीयानां ई ऊ एरामाणां सम्बन्धे सर्वेश्वरे परे सन्धिर्न भवति ।
हरी अत्र, विष्णु अत्र, अमृ अत्र, गङ्गे अत्र, भजेते अजितं, अमुके
अत्र स्तः । चान्द्रास्त्वत्र सन्धिमिच्छन्ति । अमुकेऽत्रस्तः । मणीवादौ तु

त्यजसि मात्यजेत्यर्थः । सर्वेश्वरे इति किम्—पूर्वेसति सन्धिर्भवत्येव । तथा—विवेहि अ
विधेह्य, रक्ष उ रक्षो । वृत्तौ केवलानामिति किम्—प्रईरयति प्रेरयति, खलु आगतः ।
खल्वागतः, इत्यादयस्तु निर्बाधाः । आङ्गस्त्वति—आङ्गोऽपि केवलानन्ताव्ययत्वात्
सन्धिनिषेदे प्राप्ते नियमोऽयम् । ननु आङ् इत्यस्यडित्वे किमानं? तत्र प्राचीनकारिकां
प्रमाणत्वेनोपन्यस्यति—ईषदर्थ इत्यादि । कमेणोदाहरणानि यथा,—आ आलोचितं
आलोचितम्, ईषदालोचितमित्यर्थः । आ इहि एहि; आ एकदेशात् एकदेशात्; आ अनन्तं
आनन्तमिति । निरनुवन्धस्य आरामस्य वाक्ये यथा—आ एवं किलैतत्, स्मरणे—आ
एवमच्युतलीलेति ।

अरामादयः सम्बोधनादौ वर्त्तन्ते, तेषां सन्धिनिषेदेन रूपाणि दर्शन्ते इति शेषः । अत्र
सम्बोधने यथेति शेषः । एवं स्मरण इत्यादावपि । अ अनन्तेति हे अनन्तेत्यर्थः । स्मरण
चिन्तनं तस्मिन् यथा आ एवेति एवमुक्तप्रकारेण अच्युतलीला आ स्मरणीया इत्यर्थः ।
भर्त्सने तिरस्कारे रूपं यथा—इ अच्युतेति भो अवैष्णव अच्युतं न भजसि इत्वा
धिगित्यर्थः । वाक्-पूरणं वाक्-पोषणं तस्मिन्बर्थे रूपं यथा—ई ईद्व इति हे भ्रातरीद्वः
संसार ई एतादृशो भवितुमर्हतीत्यर्थः । आमन्त्रणं सम्बोधनं कामाचारकरणमिति यावत्
तस्मिन् यथा—उ अच्युतेति अच्युत उ भोः स्वाभिप्रेतश्चेन्मामुद्धर । प्रतिषेधे निषेधे रूपं
यथा—उ उपसन्नमिति तवानुगतं मां त्यजसि उ मा त्यज । सर्वेश्वरे परे इति किम्?
एहि अ एह्य । अत्र इ अत्रे । प्र उ प्रो । पूर्वसर्वेश्वरत्वादित्यादौ वृत्तौ केवलानामित्यु-
पादानात् प्रैतीत्यादौ च सन्धिर्भवत्येव ।

आङः । डित्र आरामस्य अव्ययस्य सन्धिर्भवत्येव । आङ्गोऽपि केवलानन्ताव्ययत्वात्
सन्धिनिषेदो भवितुमर्हति । स तु नाचार्याणां सम्मत इति नियमसूत्रमेतत् कृतम् ।
सानुवन्ध-निरनुवन्धयोरारामयोर्भेदार्थः सिद्धान्त कारिकामाह ईषदिति । ईषदर्थे इति
ईषदर्थे अल्पार्थे आ श्यामः । क्रियायोगे आगच्छति । व्यासौ आ वैकुण्ठं व्यासकीर्तिः ।
मर्यादायाम् आ वैकुण्ठं संसारः । वाक्ये आ एवं किलैतत् । स्मरणे आ एवमच्युत-
लीलेति ॥७०॥

सन्धिर्भवत्येव । विकल्प इत्येके । मणी इव मणीव, एवं दम्पती इव दम्पतीव, रोदसी इव रोदसीव, जम्पती इव जम्पतीव ।

७२. अदसोऽमीत्यस्य ।

अदः शब्दसम्बन्धिनः अमी इत्यस्य पदस्य सर्वेश्वरे परे सन्धिर्भवति । अमी अच्युतप्रियाः । अमीति किम्,—अमुकेऽत्र स्युः । ओरामान्ताद्या असन्धयः पाणिनीयानां प्रगृह्यसंज्ञाः ।

७३. महापुरुषस्य च ।

अमृताऽ—७१. ईदूदेतामिति । द्विवचनस्थाने जाता द्विवचनस्थानीयाः, तेषां ई अएरामाणां क्रमेण यवअयादेशे लोपे च प्राप्ते निषेधोऽयम् । चन्द्रेणप्रोक्तं चान्द्रं व्याकरण, तदधीयन्ते विदुर्वेति चान्द्रा वैयाकरणा द्विवचनान्तानामपि ईरामादीनां सन्धिमिच्छन्ति । मणीवादौत्विदि—वामन-जयादित्यपद्मनाभादि-प्राचीनमत-दर्शनादेवं सिद्धान्तितम् । “मणीवोष्टस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम ।” इति भारत पद्मस्य मणीवोष्टस्येति प्रयोगे वशब्दो वाशब्दो वा इवार्थे इति तु कैयटादयः । काशिकायां सएव प्रयोगः सन्धिपक्षत्वेनो दाहृतः । एवंमतद्वयं दृष्टैव “मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्य इत्येके इवार्थे वकारोऽय-मित्यन्ये” इति भाषावृत्तिकारः । स्वमते तु मणीभार्यापती इत्यादेद्विवचन त्वादीरामस्य सन्धिनिषेधे प्राप्ते हि तदवाधनार्थं (सन्धिप्राप्त्यर्थं) तन्निषेधवचने वर्जनमिति ज्ञेयम् । तथापि इव शब्देष्वरे एषां सन्धिः स्यान्तत्वन्यशब्दे परे । यथा—मणीआनयेत्यादौ चेति विवेच्यम् । मणीवादिगणो यथा,—मणीभार्यापती चैव दम्पती रोदसी तथा । वाससी जम्पती चैवमिव जायापतीतथा ।

अमृताऽ—७२. अदस इति । अमुक इति अदस-शब्दादक प्रत्ययेन सिद्धस्य अमुक शब्दस्य वहुत्वेष्वप्यम् । अमीत्यत्र सन्धिस्तु अनु करणत्वात् । अदस इति किम् ?—“अम्यत्र प्रतिभाति मे ।” इहअमोरोगः, अमाकला वा विद्यतेऽस्य इति तद्वितेनि प्रत्ययान्तस्य न निषेधः ।

बाल०—ईदू । द्विवचनस्थानीयानां द्विवचनरूपस्थानिसम्बन्धिनां द्विवचनसम्बन्धिनामित्यर्थः । हरि अत्रेत्यादावुदाहरणे इद्यमेव यः सर्वेश्वरे इत्यादिना सूत्रेण यरामादिप्राप्तेनिषेधोऽयम् । अजितं श्रीकृष्णमित्यर्थः । अत्र विषये चान्द्रास्तु सन्धिमिच्छन्तयेव विकल्प इत्येके, क्रमदीश्वरादयः । मणीवादिर्गणो यथा । मणी भार्यापती चैव दम्पती रोदसी तथा । वाससी जम्पती चैवमिव जायापती तथा ॥७१॥

बाल०—अदस इत्युपादानात् अमरोगे इत्यस्य धातोः कृतप्रत्ययान्तस्य अम इत्यस्मात् तद्वितेऽणिप्रत्यये कृते यदमीति भवति, तस्य सन्धिर्भवत्येव तथा अमा कला चन्द्रो विद्यतेऽस्य अमीचन्द्र इत्यस्यापि सन्धिः । असन्धय इति असन्धिनामान इत्यर्थं । पाणिनीयानां पण्डितानां मते ओरामान्ताद्या असन्धिनामानः प्रगृह्यसंज्ञा भवन्ति ॥७२

महापुरुषस्य च सम्बन्धे सर्वेश्वरे परे सन्धिनं भवति । दूराह्वानादावन्त्य
सर्वेश्वरस्य महापुरुषत्वं मतम् । आगच्छ हरे३ आगच्छ । तिष्ठहरे३ अत्र
तिष्ठ । सर्वेश्वरे परे निषेधा-दत्र तु सन्धिः—गच्छ आ३च्युतदत्त
गच्छा३च्युतदत्त ! आदिमहापुरुषमिदं सम्बोधनम् । तथाहि तत्सूत्राणि ।

७४. दूराह्वानादौ यत्नविशेषे वाक्यस्यान्ते सम्बोधन पदस्य संसारो
महापुरुषः । कियान्वयावच्छिन्न पद समूहो वाक्यम् ।

७५. अन्त्यसर्वेश्वरादिवर्णः संसारसंज्ञाः । टिसंज्ञेति प्राच्छः ।

अमृता०—७३. महेति स्फुटम् । अन्त्यसर्वेश्वरस्य महापुरुषत्वं मतमितिदूराह्वानादि
यत्न विशेष इत्यादिना वक्ष्यते । आगच्छेत्यत्र तिष्ठेत्यत्र च क्रमेण—“एअय्” “एओभ्या-
मस्य हर” इति द्वयेन सन्धौ प्राप्ते निषेधः । सर्वेश्वरे परे निषेधात् तत् पूर्वत्वे सति
सन्धिर्भवत्येवेति भावः । आश्च्युतदत्तेत्यत्र “गुरोरनृतोऽनन्तस्याप्येककस्य प्राचामिति”
वक्ष्यमाणेन महापुरुषत्वमित्याह—आदीति । महापुरुषे वामनमपि त्रिविक्रममुच्चारयन्ति
लिखन्ति चेति नियमात् अच्युतदत्तेत्यस्य आद्यं रामस्य त्रिविक्रमत्वेनोच्चारणं लेखनन्त्वं ।
प्रसङ्गान्महापुरुष सूत्राणि दर्शयन्ते ।

अमृता०—७४. दूरेति । यत्रविशेषे विवृतरूप-प्रयत्ने इत्यर्थः । वाक्यलक्षणमाह—
क्रियेत्यादिना । किया सत्तादिलक्षणो धात्वर्थः, तस्या अन्वयेन सम्बन्धेन अवच्छिन्नो युक्त
इति कियान्वयावच्छिन्नः कियान्वयित इत्यर्थः, पदानां समूहः समुदायो वाक्यं स्यात् ।
तथा च—“वाक्यं स्याद् योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्त पदोच्चयः इति साहित्यदर्पणम् ।
एवमेव नैयायिकानामपि लक्षणम् । तत्र योग्यता—शब्दानां परस्पर-सम्बन्धे बाधाभावः ।
तेन वह्निना सिच्चतीत्यादेवक्यत्वनिरासः । आकांक्षा—प्रतीति पर्यवसान-विरहः श्रोतृ-
जिज्ञासारूपः । तेन गौरश्व पुरुष इत्यादि पदसमूहस्य न वाक्यत्वम् । आसत्तिर्बुद्धे
रविच्छेदः तेनाधुनोच्चारितस्य कृष्णशब्दस्य दिनान्तरोच्चारितेन कृपयेति पदेन नान्वयः ।
एषु सर्वत्र कियान्वयित्वासम्भवात् वाक्यत्वमिति फलितार्थः ।

बाल०—सुगमम् ॥७३॥

बाल०—दूराह्वानादाविति दूराह्वानादौ यत्नविशेष इत्यनेनान्त्यसर्वेश्वरस्य
महापुरुषत्वं मतमिति वक्ष्यते । आगच्छ हरे३ आगच्छ इत्यत्र ‘ए अय्’ इत्यनेन प्राप्ते
सन्धिनिषेधः । तिष्ठ हरे३ अत्र तिष्ठ इत्यत्र तु ‘ए ओभ्यामि’ त्यनेन प्राप्तसन्धिनिषेध इति ।
सर्वेश्वरे परे निषेधात् सर्वेश्वरपूर्वत्वेऽत्र सन्धिर्भवेदिति भावः । आ३च्युतदत्तेत्यत्र गुरोरनृ-
तोऽनन्तस्याप्येककस्य प्राचामित्यनेन वक्ष्यमाणेनाच्युतदत्त शब्दस्याद्यरामस्य महापुरुषत्व-
मित्याह आदीति महापुरुष वामनमपि त्रिविक्रममुच्चारयन्ति लिखन्ति च तज्ज्ञा अतोऽच्यु-
तदत्तस्याद्यरामस्य त्रिविक्रमपाठश्चेति । प्रसङ्गादयथा महापुरुष लक्षणानि दर्शितानि,
तथा तेन प्रकारेण हि निश्चितं तत् सूत्राणि महापुरुषलक्षणानीदानीं दर्शयन्ते ॥७४॥

आगच्छ हरेऽ । तिष्ठहरेऽ । आदिपदेन गाने रोदने विचारेचेति
सारस्वतादयः । सम्बोधनमात्रे चेति काशिका । कृष्णं भजस्व वैष्णवाऽ ।
वाक्यस्यान्तं एव नत्वाह—हरे आगच्छ । कृष्णाऽ एहीति प्रक्रिया-
कौमुद्यांभ्रमः ।

सारस्वत प्रक्रियायां भ्रमा ये सन्ति भूरयः ।
लिखितुं ते न शक्यन्ते ज्ञेयास्त्वस्यानुसारतः ॥
सर्वेषामभतं यत् स्यात् स भ्रमः परिचोयते ।
वहूनामभतं यत्तत् केषाच्चिन्मतमिष्यते ॥

अमृता०—७५. अन्त्येति । अन्ते भवः अन्त्यः, सचासौ सर्वेश्वरश्चेति अन्त्य सर्वेश्वरः ।
स आदिर्येषां ते अन्त्यसर्वेश्वरादयः; ते च ते वर्णश्चेति अन्त्यसर्वेश्वरादिवर्णः संसार-
संज्ञकाः स्युः । आदिपदं सारस्वतादिमतेन विवृणोति—आदीति । मतान्तरमाह—सम्बो-
धनेति । सम्बोधनपदमात्रे अर्थात् दूराह्वानाद्यभावेऽपि, च शब्दात् दूराह्वानादावपि
महापुरुषः स्यादिति काशिका आहुः । गौरवे वहृत्वम् । सम्बोधनमात्रत्वेऽपि वाक्यस्यान्तं
एव महापुरुषः स्यात्, तदभावेतु भ्रमएवेत्याह—कृष्णाऽ एहीति । ६।१।२५। ननु
सारस्वत प्रक्रियायामपि “देवदत्ताऽ एही” त्युदाहरणे वाक्यस्याद्यपदे हि महापुरुष-प्रयोगो
दृश्यते, तत्स्याअपि भ्रम एव, कथं तर्हि तां विहाय केवल प्रक्रियाकौमुद्यानामोल्लेख
इति चेत्तत्राचष्टे—सारस्वतेति । कस्तावद् भ्रम इत्यपेक्षायामाह—सर्वेषामिति । वहूना-
ममते केषाच्चित् मतस्वयमापद्यत इत्यर्थः ।

दरा । स्वाभाविकाद् यत्नादधिको यत्नोऽत्र यत्नविशेषः, दूरात् आह्वानमाकोशनं
दूराह्वानं तव आदिर्येष्य स दूराह्वानादिः तस्मिन् दूराह्वानादावर्थविषये यत्नविशेषे सति
वाक्यस्यान्ते वर्तमानस्य सम्बोधनपदस्य संसारो महापुरुषः स्यात् ।

वाक्यलक्षणमणमाह कियेति । किया सत्तादिलक्षणो धात्वर्थः । तस्याः कियाया
अन्वयेन सम्बन्धेन अवच्छिन्नः युक्तः कियान्वयावच्छिन्नः । पदानां समूहः पदसमूहः, पदमत्र
विष्णुपदम् । समूहशब्दोऽत्रानेकत्ववाची । तथा च कियासम्बन्धयुक्तः विष्णुपदसमूहो वाक्यं
स्यादिति निर्गलितार्थः । तिङ्ग्सुवन्तत्वयो वाक्यं किया वा कारकान्विता इत्यमरः ॥७४॥

बाल०—अन्त्य इति । अन्ते भवः अन्त्यः । अन्त्यश्चासौ सर्वेश्वरश्चेति अन्त्यसर्वेश्वर
अन्त्यसर्वेश्वर आदिर्येषां ते अन्त्यसर्वेश्वरादयः । ते च ते वर्णश्चेति अन्त्यसर्वेश्वरादिवर्णः ।
सम्यक् सारः संसारः श्रीकृष्ण इति संसारपदस्य भगवन्नामता । अन्त्यसर्वेश्वरप्रभृतयो वर्णः
संसारसंज्ञा भवन्तीत्यर्थः । टिसंज्ञाचेति प्राचामिति शेषः । सूत्रे दरह्वानादावित्यादि
पदगृहीतार्थात् सारस्वतादिमतेनैव स्पष्ट्यति आदीति । सूत्रास्यादिपदेन गाने रोदने
विचारे चार्थं विषये वाक्यस्यान्ते वर्तमानसम्बोधनपदस्य संसारो महापुरुष इति
सारस्वतादयः पण्डिता वदन्तीत्यर्थः । मतान्तरमाह सम्बोधनेति सम्बोधनपदमात्रे

७६. है हे प्रयोगेतु हैहयोरेवानन्त्ययोरपि ।

है३ कृष्ण, है३ कृष्ण, कृष्ण है३, कृष्ण है३ ।

७७. प्रत्यभिवादवाक्ये संसारः, नतु स्त्रीशूद्रविषये ।

अभिवादये विष्णुमित्रोऽहमित्यनन्तरं गुरुराह—

आयुष्मानेधि विष्णुमित्राऽ । पूर्वोक्त विधीनां स्थानविशेषमाह ।

अमृता०—७६. है हे इति । एवकारात् है हे प्रयोगे तु तयोरेवनिपातयोः संसारस्य महापुरुषत्वं न तु सम्बोधनपदस्य । अनन्तयो रिति आद्य-मध्यस्थयोः है हे शब्दयोः । अपि शब्दादन्त्ययोश्च तयोर्महापुरुषत्वं भवेदेवेत्यर्थः ।

अमृता०—७७. प्रत्येति प्रत्यभिवादो नाम यदभिवाद्यमानो गुरुराशिषं प्रयुड्क्ते । तत्र अस्त्री-शूद्र विषये यद्वाक्यं तस्य सम्बोधनपदस्य संसारो महापुरुषः स्यात् । अभिवादये विष्णु मित्रोऽहमित्येतत् गुरोरभिवाद्यमानतां दर्शयितुमुपन्यस्तम् । स्त्रियां शूद्रे च विषये न भवति, यथा—अभिवादये गार्ग्यंह, भो आयुष्मतीभव गार्गि ! अभिवादयेदेवदत्तोऽहं, भो आयुष्मान् भव देवदत्त ! असूयकेऽपिकेचित् प्रतिषेधमिच्छन्ति अभिवादवाक्ये यत्संकीर्तिं नाम गोत्रं वा तद् तत्र प्रत्यभिवाद वाक्यान्ते प्रयुज्यते तत्रैव प्लुत इष्यते; तेन नेह—हरिदत्त ! आयुष्मानेधि । पूर्वोक्ते ति—पूर्वमुक्ता ये विधयः, दूराह्वानादिषु प्रत्यभिवादवाक्ये च महापुरुष सम्बन्धीयविधयः तेषामित्यर्थः ।

चकारात् दूराह्वानादावपि वर्त्माने तस्मिन् महापुरुषः स्यादिति काशिका आहुरिति गौरवे वहुवचनम् । यद्यपि सम्बोधनमात्रे चेत्युक्तं, तथापि वाक्यस्यान्ते एव न तदभाव इत्याह वाक्येति । भ्रम इति वाक्यस्यान्ते महापुरुषोदाहरणादिति शेषः । सारस्वतेति भूरयः वहवो ये भ्रमाः सन्ति, मया ते लिखितुं न शक्यन्ते; पुनरस्य प्रक्रियाकौमुद्युदा हरणस्यानुसाराद्भूवद्भूत्र्यंया इत्यर्थः । भ्रमः क इत्यपेक्षायामाह सर्वेषामिति परिचीयते ज्ञायते वहनमित्यवान्तरानेकानामित्यर्थः ॥७५॥

बाल०—है हे । दूराह्वानादी यत्नविशेषे गम्ये वाक्यस्यान्ते वर्तमान-सम्बोधन-पदसम्बोधिनो है-हयोः प्रयोगे तु सति सम्बोधनस्यानन्त्ययोरपिकारादन्त्ययोश्च तयोर्यः संसारः, स एव महापुरुषः स्यान्ते तु सम्बोधनस्य संसारः ॥७६॥

बाल०—प्रत्य । अभिवादी नमस्कारस्तं प्रत्यभिवादस्य गुर्विदेराशीवंचनं प्रत्यभिवादस्तथाभूते वाक्ये वर्त्मानसम्बोधनपदस्य संसारो महापुरुषः स्यात् । स्त्रीशूद्रौ विषयौ यस्य तस्मिन् प्रत्यभिवादवाक्ये तस्य संसारो महापुरुषो न तु स्यात् । अभिवादये इति नमस्करोमीत्यर्थः । इति इत्यस्याभिवादवाक्यस्यानन्तरमित्यर्थः । स्त्रीशूद्रविषये यथा । आयुष्मती भव गार्गि आयुष्मान् भव भद्रमास । स्वयं ग्रन्थकृद्वृत्तिकाराभिमानी सन् आह पूर्वोक्ते ति पूर्वमुक्ता विषयाः सूत्राणि येषां तेषां महापुरुषाणां स्थानविशेषमाह ग्रन्थकृदिति शेषः ॥७७॥

७८. गुरोरनृतोऽनन्तस्याप्येककस्य प्राचाम् ।

ऋरामवर्जितस्य गुरोरनन्तस्यापि वर्णस्य यः संसारस्तस्यैककस्य
सम्बोधने महापुरुषः स्यात् प्राचामाचार्यणां मते नत्वन्येषाम् ।

७९. वामनो लघुः ।

८०. त्रिविक्रमो गुरुः ।

८१. सतुसंगात् पूर्वो वामनोऽपि गुरुः ।

८२. मिथः संलग्नो विष्णुजनः सतुसंगसंज्ञः, संयोगश्च ।

वीर्ण्णुमित्र ? विष्णुमीर्ण्ण ? मतान्तरे विष्णुमित्रार्ण्णइत्येव । अनृतः
किम् ? कृष्णमीर्ण्ण, कृष्णमित्रार्ण्ण ? आगच्छेति सर्वस्यादौ योज्यं,
वाक्याधिकारात् ।

अमृता—७८. गुरोरिति । न ऋत् (ऋरामः) अनृत तस्य । अनन्तस्येति आद्यस्य
मध्यस्य च; अपिशब्दादन्त्यस्य च गुरुर्वर्णस्य यःसंसारस्तस्य एकैकस्य पर्यायेण सम्बोधने
विषये महापुरुषो भवति । प्राचामिति पाणिन्यादीनामाचार्यणमेव मते नत्वाधुनिकाना-
मित्यर्थः ।

अमृता०—७९. प्रसङ्गाल्लघुगुर्वादीनां लक्षणान्याह—वामन इति । सूत्रद्वयं
स्पष्टम् ।

अमृता०—८१. सतुसङ्गादिति । यथोक्तं छन्दोमञ्चरीकृता,—सानुस्वारश्च
दीर्घश्च विसर्गी च गुरुर्भवेत् । वर्णसंयोगपूर्वश्च तथा पादान्तगोऽपिवा ॥ इति ।

अमृता०—८२. मिथ इति । मिथःसंलग्नः परस्पर संयुक्त इत्यर्थः । मतान्तर
इति—आधुनिकानां मते वाक्यस्यान्त एव । प्रत्यभिवादवाक्ये यथा,—अभिवादये
विष्णुधर्माहं, चिरं जीव भोवीर्ण्णुधर्मन् ! विष्णुधार्ण्णन् ! विष्णु धर्मार्ण्ण इति ।

बाल०—गुरोः । न ऋत् अनृत तस्य । वृत्तिमाह ऋरामेति दूराह्वानादावित्यनुवर्त्तत
एव । तेन दूराह्वानादौ यत्विशेषे वाक्यस्यान्ते वर्त्तमाने सम्बोधने पदे ऋरामवर्जितस्य
गुरुरूपस्य अन्त्यस्य अन्तभवरहितस्य आद्यस्य मध्यस्यापि शब्दादन्त्यस्य वर्णस्य यः
संसारस्तस्य संसारस्यैककस्य स्थाने क्रमेण महापुरुषः स्यात् । प्राचां पाणिन्यादीनामा-
चार्यणां मतेऽयं न त्वन्येषामाधुनिकानामित्यर्थः । आनुसङ्गिकतया लध्वादीनां
लक्षणान्यप्याह वामनेत्यादि ॥७८॥

बाल०—वाम—सुगमम् ॥७९॥

बाल०—त्रिवि—सुगमम् ॥८०॥

बाल०—सतुस—सुगमम् ॥८१॥

द३. पृष्ठप्रतिवचने हेर्वा ।

अकार्षीर्मालां विष्णुमित्र ? अकार्ष ही३ । अकार्ष हि ।

द४. आक्षेपगर्भं निगृहीत-परमतस्यानुवादे वाक्यस्य संसारो वा ।

अनित्या हरिभक्तिरित्यात्था३ । पक्षे नतु ।

द५. आग्रे डितस्य संसारो भर्त् सने पर्यायेण ।

अवैष्णवा३ अवैष्णव ! अवैष्णव अवैष्णवा३ ।

अमृता०—द३. पृष्ठेति । पृष्ठस्य जिज्ञासितस्य प्रतिवचनं प्रत्युत्तरं, तत्र निग्रातस्य हिशब्दस्य संसारो महापुरुषो वा भवति । प्रतिवचनं पृष्ठस्यैव भवति तथापि पृष्ठपदं स्पृष्टार्थम् । कृष्णार्थं मालाकरणाय प्रेषितं विष्णुमित्रमाचार्यः पृच्छति—अकार्षीरिति । अथविष्णुमित्रस्तत्र प्रत्युत्तरमाह—अकार्षमिति ।

अमृता०—द४. आक्षेपेति । आक्षेप उगालम्भनं गर्भेयस्य स आक्षेपगर्भः, तस्मिन् निगृहीतस्य उपपत्तिभिः खडितस्य परमतस्य अनुवादे अनुकथने सति वाक्यस्य यः संसार-स्तस्य महापुरुषो वा स्यात् । अनित्या हरिभक्तिरिति केनचित् प्रतिज्ञातं, तत आचार्यः प्रमाणेस्तन्मतं निरस्य तद्वाक्यस्यैवानुवादेन तमुपालम्भत—अनित्येति । पक्षे न महापुरुषः ।

अमृता०—द५. आग्रे डितस्येति । भर्त् सने गम्यमाने आग्रे डितस्य द्विस्त्रिरुक्तस्य संसारः पर्यायेण महापुरुषः स्यात् । अत्र वाक्यादेरामन्त्रितस्येति विशेषणमुन्नेयम् । समासे-द्विरुक्ति प्रकरणे “वाक्यादेरामन्त्रितस्यासुया-सम्भति-कोप-कुत्सन-भर्त् सनेषु” इत्यनेन

बाल०—मिथः । मिथः संलग्नः परस्परं संयुक्त इत्यर्थः । संयोगसंज्ञेत्यन्ये । यथोक्तं छन्दोमञ्जरीकृता । सानुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गीं च गुरुम् वेत् । वर्णसंयोगपूर्वश्च तथा पादान्तगोऽपि वा । वाक्यस्यान्ते वर्तमान सम्बोधनपदे महापुरुष इति यदुक्तः, तत् सर्वस्यादावागच्छेति योजनं विना नाहंति इत्याह आगच्छेति । हेतुमाह वाक्येति ॥८२॥

बाल०—पृष्ठ । प्रतिवचनं प्रत्युक्तिः । पृष्ठस्य प्रतिवचनं पृष्ठप्रतिवचनं तत्र वर्तमानस्य हिशब्दस्य संसारो महापुरुषो वो स्यात् । प्रतिवचनं पृष्ठस्यैव भवति, तथापि शब्दोपादानं स्पृष्टार्थम् । कृष्णार्थमालाकरणे प्रेरित-विष्णु-मित्रं वैष्णवाचार्यों जिज्ञासते-कार्षीरिति तदनन्तरं स प्रत्युत्तरमाह अकार्षमिति पदमत्र पूर्वतोऽनुकृष्णीयम् ॥८३॥

बाल०—आक्षे । आक्षेपो गर्भं यस्य स आक्षेपगर्भस्तस्मिन्निगृहीतं यत् परस्य मतं तन्निगृहीतपरमतम्, तस्यानुवादे आक्षेपगर्भं निन्दान्तरे सति वाक्यस्य यः संसारः महापुरुषो वा स्यात् । अनुवादः पश्चात् कथनम् । रेऽवैष्णव या हरिभक्तिरनपायिनी साऽनित्या त्वमित्यात्थ ब्रवीसि त्वां विगित्याक्षेपगर्भत्वम् ॥८४॥

द६. अंगेत्यनेन युक्तस्याख्यातस्य संसारो भर्तुसने साकाङ्क्षता चेत्
हर्हि विनाङ्ग्रं प्रीणीही ३ इदानीं दुःखमाप्स्यसि । इदानीमित्यादे
रत्राकाङ्क्षा; एतांविना तु न स्यात् ।

द७. विचारे पूर्ववाक्यस्य संसारः ।
तमालो नु३ कृष्णो नु ।

द८. प्रतिश्रवणे च संसारः ।

द्विरक्तिविधान सामर्थ्यात् । “आम्रेडितं द्विस्त्रिरक्तं” मित्यमरः । इह “पर्यायेण” पदेन
वेति निर्वाचितम् ।^१

अमृता०—द६. अङ्ग इति । चेद्यदि तिरस्कारे साकाङ्क्षता स्यात् तर्हि सम्बोधन
सूचकेन अङ्गेति शब्देन युक्तस्य आख्यातस्य क्रिया पदस्य संसारो महापुरुषः स्यात् ।
अत्रोदाहरणे ‘इदानीं दुःखमाप्स्यसि’ इत्येतस्याकाङ्क्षत्वम् । एतां विना तु न स्यादिति—
विवक्षितार्थस्यापरिसमाप्तेरित्यर्थः । यथाहि अङ्ग भजस्व कृष्णम् । अङ्गेत्यनेन युक्तस्येति
किम्—अङ्ग विष्णुदास सत्यं वदसि । भर्तुसन इत्येव, तदभावेतु न—अङ्ग पठैतव भक्ति
लभेयाः ।

अमृता०—द७. विचार इति । सन्दिग्धवस्तुनि प्रमाणेन तत्त्वपरीक्षा विचारः,
तस्मिन् पूर्ववाक्यस्य संसारो महापुरुषः स्यात् । पूर्वेत्यनेनात्र परवाक्यप्रयोग आक्षिप्यते ।

अमृता०—द८. प्रतिश्रवण इति । अभ्युपगमः स्वीकारः । अविशेषात् प्रतिश्रवणस्य
सर्वे एवार्था ग्रहणीया इति त्रिष्वर्णेषूदाहरणत्रयं दर्शयति—हरिमन्त्रमित्यादिभिः ।

बाल०—आम्रे । भर्तुसने गम्यमाने पर्यायेण क्रमेण आम्रेडितस्यद्विस्त्रिरक्तस्य
संसारोमहापुरुषः स्यात् । आम्रेडितं द्विस्त्रिरक्तमित्यमरः ॥८५॥

बाल०—अङ्ग । आकाङ्क्षया सह वर्तमानां साकाङ्क्षां तस्य भावः साकाङ्क्षता ।
चेद्यदि भर्तुसने साकाङ्क्षता स्यात्, तर्हि सम्बोधनसूचकेन अङ्गेति शब्देन युक्तस्यान्ते
वर्तमानस्याख्यातपदस्य संसारो महापुरुषो भवति । हे अङ्ग हे भ्रातः यतो हर्हि विनाङ्ग्यत्र
प्रीणीहि प्रीतियुक्तो भवसि, अत इदानीमित्यादि योज्यम् । इदानीमित्यादिरिति
प्रथमान्तपाठो लिपिकारप्रमादकृतः । षष्ठ्यन्तः पाठोऽत्र ज्ञेयः । आकाङ्क्षशब्दस्य
धर्मवाचित्वात् । एतां आकाङ्क्षाम् ॥८६॥

बाल०—विचा । सन्दिग्धे वस्तुनि प्रमाणेन तत्त्वपरीक्षाविचारस्तस्मिन् सति
पूर्ववाक्यस्य संसारो महापुरुषः स्यात् । नु शब्दो वितर्के । भवत्ययं तमालः कृष्णो
वेत्यर्थः ॥८७॥

१—अत्रासूयादि चतुर्वर्षपि महापुरुष इष्यते मुनिना, वार्तिकेन तु तद्विकल्प-विधानादस्मद्ग्रन्थकृता
तदुपेक्षितमित्यनुसन्धेयम् ।

प्रतिश्रवणमभ्युपगमः प्रतिज्ञानं श्रवणाभिमुख्यश्च । हरिमन्त्रं देहि,
हरिमन्त्रं ददामी३ । हरिभक्तिनित्या भवितुमर्हती३ । विष्णुमित्र भो
किमात्था३ । एवमन्येऽपि ज्ञेयाः । विचार-प्रश्न-पूजासु चतुर्व्यूहस्य वक्ष्यते
दर्द. पूर्वार्द्धस्य त्वरामः स्यादिदुतावुत्तरस्य हि ।
विभक्तावयवात्समाच्छकारो द्विर्भवत्युत ॥
हरा३ इच्छत्रमेतत्ते; पटा३ उच्छत्रमित्यपि ।

अमृता०—दर्द. पूर्वेति । विचार-प्रश्न-पूजासु गम्यमानासु चतुर्व्यूहस्य सन्ध्यक्षरस्य
पूर्वार्द्धस्य आराम आदेशः सन् अधिकारमहापुरुषः स्यात् । उत्तरस्य इदुतौ इरामोरामौ
आदेशौ हि निश्चितं स्यातां नतु महापुरुषौ इत्येव हि शब्दार्थः । उत पुनर्विभक्तः अवयवोऽङ्ग
यस्य तस्मादिरामोरामस्वरूपात् छरामो द्विर्भवति । ननु दृष्टान्तद्वये हरे पटोरित्येत्यो
श्रतुर्व्यूहयोर्विश्लेषे स्वत एव अइ अउ इत्येवमवयव-विभागो भवत्येव, किर्तिहिकिलादेशेनेति
चेत् ? मैव, एरामस्याङ्गविभागे आइ, अई इत्यपि स्वरूपः सम्भवेत्, तथाएरामस्य विभागे
उत्तरस्य एराम-ओरामावेव सम्भवेतां, नतुइउरामौ । तस्मादादेशेनानेन तत्तत्सम्भावना
निरासिता इतिज्ञेयम् । उदाहरति—हराइति । विचारे—एतच्छत्रं तेऽन्यस्यवेति
विचार्यमाणे एतद्वचनम् । एवं पटा३ इति । प्रश्नेत्रमेतत्तो इतिज्ञीप्रसायामुक्तिः । तथैव
पटा३ इति । पूजात्र प्रशंसावचनम्; तत्र—पटा३ उच्छत्रमेतत्तो तुभ्यमिति ।

बाल०—प्रति । प्रतिश्रवणेऽर्थे वाक्यस्य संसारो महापुरुषः स्यात् । प्रतिश्रवणं
विधा भिद्यत इत्याह प्रतीति । अम्युपगमी देयतया स्वीकारः । प्रतिज्ञानं प्रतिज्ञा ।
श्रवणाभिमुख्यं श्रवणेऽभिमुख्यता । क्रमेणोदाहरणत्रयमाह हरिमन्त्रमिति एवमुक्तप्रकारेण
अन्येपि महापुरुषस्य प्रयोगा ज्ञेयाः । विधिवाक्यमाह विचारेति । विचार-प्रश्न पूजासु
गम्यमानासु चतुर्व्यूहस्य महापुरुषत्वं वक्ष्यते । वक्तव्यं पूर्वार्द्धस्येत्यनेन इति शेषः ॥८॥

बाल०—पर्वा । विचारप्रश्नपूजासु गम्यासु चतुर्व्यूहस्य सन्ध्यक्षरस्य पूर्वार्द्धस्या-
पूर्वार्द्धस्यारामः सन् स तु महापुरुषः स्यात् । उत्तरस्य परार्द्धस्य इदुतौ इ उरामौ निश्चितं
स्याताम् । हिशब्देन नियमात् तौ महापुरुषौ न स्याताम् । तस्मात् इउरामस्वरूपाद्
विभक्तावयवाद् विभागीकृताङ्गात् पर उत पुनश्छकारो द्विर्भवति द्विप्रकारः स्यादित्यर्थः ।
सन्दिग्धे वस्तुनीत्यनेन विचार उक्तः । प्रश्नः ज्ञीप्रसा । पूजा सत्कारव्यापारणा । चतुर्व्यूहस्य
सन्ध्यक्षरत्वात् सन्धिविश्लेषे कृते एओरामयोरुत्तरार्द्धस्य इरामोरामौ भवेताम् । ऐ-औ
रामयोः परार्द्धस्य तु तौ न भवेतामिति वर्णस्वरूपनिष्पक-तप्रत्ययान्तौ इदुताविति
दर्शितम् । उदाहरणे हरा इति हे हरे एतच्छत्रं तव भवति किं न वेत्यर्थः । एवं हे पटो
एतच्छत्रं तव भवति किं न वेति च । अत्र तु हरिशब्दस्य भगवद्वाचित्वात् पटुशब्दस्य
निपुणवाचित्वादादराधिक्येन पूज्यत्वं एतच्छत्रं तव किं न वेत्यनेन तु युगपत् प्रश्न-
विचारत्वमिति ॥९॥

८०. ओरामस्य बुद्धनिमित्तस्येतौ सन्धिर्वा ।

बुद्धनिमित्तको य ओरामस्तस्य सन्धिर्वा स्यादिति शब्दे परे । बुद्ध-
संज्ञाच वक्ष्यते । विष्णोइति विष्णविति वा । बुद्धनिमित्तस्येति किम्—
गवित्ययमाह । अत्रानुकार्यानुकरणयोर्भेदस्याविवक्षितत्वादसत्यर्थवत्त्वे
विष्णुभक्तिर्नोपपद्यते । विष्णुभक्तिसंज्ञा च वक्ष्यते ।

८१. ईशस्यानेकात्मके वामनश्च वा ।

अमृता०—८०. ओरामस्येति । बुद्धनिमित्क इति पीताम्बरसमासेकः । वक्ष्यत
इतिसम्बोधने सुर्वृद्दसंज्ञ इत्यनेनेतिशेषः । व्यावृत्तिमाह—गवित्ययमाहेति । गौरिति वक्तव्ये
केनचित् वाक्शक्ति—वैकल्याद् “गो” इत्युक्तम्, तमन्यो यदानुकरोति तत्रैतत् प्रत्युदाहरणं
ज्ञेयम् । अत्रेति—अनुक्रियते यः सोऽनुकार्यः, प्रथमोक्तशब्दः । येनानुक्रियते सोऽनुकरणः;
पश्चादुक्तः । अयमाशयः,—शाविदिका खलु अनुकार्यानुकरणयोः शब्दयो—र्विवक्षया
भेदमभेदच्च स्वीकुर्वन्ति । तत्रानुकार्यानुकरणयो भेदविवक्षायामनुकरणस्य भिन्नशब्दत्वा
दर्थं वत्त्वैन नामत्वं, तेन च विष्णुभक्तिः प्रयुज्यत एव । तयोरभेद विवक्षायान्तु अनुकरण-
स्यानुकार्यादभिन्नत्वात् हि पृथगर्थत्वम् । ततश्च “अधातुविष्णुभक्तिकमर्थवत्त्वाम्” इति
नियमानुसारेण न तस्यनामत्वं नवा तत्र विष्णुभक्तिरप्तवया, किन्तु “नापदं शास्त्रे
प्रयुज्जीते” ति शास्त्रशासनानुरोधेन सावृत्वं मतम् । तथा च वैयाकरणभूषणसारे—
“अतएव गवित्याह भू सत्तायामितीदशम् । नप्रातिपदिकं नापि पदं साधु तु तद्सृतम् ॥
इति । अत्रानुकार्यानुकरणयो भेदे सति “गौरित्ययमाह” इत्येवंसविष्णुभक्तिकं रूपं स्यात् ।
तथाहि न्यासकारा:—“अत्रानुक्रियमाणस्यानुकरणस्य यदिभेदो विवक्ष्यते ततोऽर्थवत्त्वायां
सत्यां स्याद् विभक्तिः । सतु न विवक्ष्यत इतिकुतस्तस्याः प्रसङ्गः । नहीं ह शब्दशास्त्रे
वस्तुनः सत्त्वं शब्दसंस्कारस्य प्रधानं कारणं, किर्त्ति? विवक्षा च, साचेह नास्तीति” ।

अमृता०—८१. ईशस्येति । वृत्त्युदाहरणानि स्पष्टानि । ननु “अन्यत्रचानित्य
मिष्यत” इति परिभाषयैव सन्धेविकल्पत्वसिद्धं वर्मन विधानमेवात्र युक्तं स्यात्, किं
तर्हि असन्धिविधानेनेति चेतत्राह—अन्यत्रेति । अत्र तुविधानसामर्थ्यान्मध्ये शीघ्रोच्चारणेऽपि

बाल०—ओरा । वृत्तिमाह बुद्देति । बुद्धेनिमित्तं यस्येति पीताम्बरे कप्रत्ययः ।
वक्ष्यत इति सम्बोधने सुर्वृद्दसंज्ञा इत्यनेनेति शेषः । बुद्धनिमित्तोरामादन्यत्र तु न स्यादिति
व्यावर्त्यति बुद्देति । अयं जनो गो इति वक्तीत्यर्थः । अत्रेति गोशब्दोऽनुकार्ये
गोव्यक्तिबोधकः अनुकरणः गोशब्दमात्रबोधकोऽपि स एत्र किन्तवत्र तयोरनुकार्यानुकरण-
भूतयोर्गोशब्दयोर्भेदो न विवक्षित इत्यविवक्षितत्वादुन्मत्त-प्रलपितवदनर्थवत्त्वं तस्मिन्नर्थवत्त्वे
सति गवित्यत्र विष्णुभक्तिर्नोपपद्यते नोपपन्ना भवति । अर्थवत्त्वैनव नामसंज्ञस्य वक्ष्यमाण-
त्वादिति बुद्धनिमित्ताभावात् सन्धिरित्यभिप्रायो वक्ष्यते इति ‘स्वादितिवाद्या विष्णुभक्तयः’
इत्यनेनेति शेषः ॥८०॥

ईशसंज्ञस्य एकात्मकान्य सर्वेश्वरे परे सन्धिर्वा स्यात्; त्रिविक्रमस्य
वामनश्च वा । हरि आसनम्, रुक्मिणि एषा रुक्मिणी एवेति । अन्यत्र
चानित्यमिष्यत इति मध्ये विलम्बोच्चारणे सन्धिर्वा स्यादित्यर्थः ।
सूत्रेषु तु संहिता संज्ञेषु शीघ्रोच्चारणेऽपि विकल्प्यते ।

८२. ऋद्धयाद्वययोर्च्छृति ।

विभाषेति विशेषः । ननु । चास्त्वेवं यदि “अन्यत्र चानित्यमिष्यते” इत्यनेन मध्ये
विलम्बोच्चारणे सन्धिर्विभाषा स्यात्तदा तेनैव सूत्रेष्वपि विभाषा-सिद्धे किमर्थमनित्यसूत्र
निर्देश इति वचनम् ? तदेवाच्छ्वे—सूत्रेष्वित्यादि । संहिता परसन्निकर्षः, निरतिशयमान-
न्तर्यम् अर्द्धमात्राकालमात्रेणाव्यवाय इति प्राचीनाः । साचासौ संज्ञा चेति संहितासंज्ञा,
साविद्यते येषां तानि संहिता संज्ञानि; तेषुसूत्रेषु, अर्थाद् यत्र-न्यत्र परसन्निकर्षत्वात्
सन्धिकार्यं प्राप्नोति तत्रत्रास्मद्ग्रन्थसूत्रेषु मध्ये शीघ्रोच्चारणेऽपि सन्धे विकल्पत्वमिष्यत
इति सूत्रनिर्देशे तदनित्यतोक्ते: सार्थक्यम् । यथा—“कृष्णस्य ए वैष्णवे वहुत्वे” इत्यादीनि ।
किञ्च—संहितासंज्ञायां संहिताधिकारनिविष्टानि यानि सूत्राणि तानि संहितासूत्राणि,
तेष्वपि वैकल्पिकप्रयोगेषु (असन्धिपक्षेषु) शीघ्रोच्चारणेऽपि सन्धिर्वन्स्यादिति वैशिष्ट्यम् ।
काशिका-भाषावृत्त्यादि प्राचीन पाणिनीय सूत्रानुक्रमे पष्टाध्याय प्रथमपादस्यात् ७२
संख्यकसूत्रादारम्य १५८ संख्यकसूत्रं यावत् संहिताधिकारो द्रश्यः । तत्रैव “इकोऽसवर्णे
शाकल्यस्य हस्वश्चे” त्यादि सूत्राण्युक्तानि । तद्विषयक एवायं सिद्धान्तो ज्ञेयः । तेनहरि
आसनमित्याद्यसन्धिपक्षे शीघ्रोच्चारणेऽपि सन्धि नं स्यादिति निष्कर्षः । संहिताधिकारात्
तदुपयोगि समयेनैवोच्चारणमवश्यम्भावीति दिक् ।

इह नित्यसमासाविष्णुपदान्ताभ्यामन्यत्रैवायं सन्ध्यभावो वामनश्च ज्ञेयः, निकटे एव
तन्निर्दिश्यमानत्वात् । ईशस्येति किम्—यादवेदः । अनेकात्मक इतिकिम्—रुक्मिणीशः ।

अमृता०—८२. ऋद्धयेति । समासेऽप्ययं निषेधः प्रवर्त्तत इति माघपद्मोदाहरणे

बाल०—ईश । विवरणोदाहरणे स्पष्टे । वामनविधानं त्रिविक्रमे एव सम्भवतीति
त्रिविक्रमस्येत्युक्तं ननु हरि आसनमित्यादौ कथमनेन विभाषाक्रियते अन्यत्र चानित्यमिष्यत
इत्यनेन सन्धिर्विभाषाया अवश्यम्भावित्वादिति चेत् तत्राह—अन्यत्रैति अन्यत्र चानित्य-
मिष्यत इति इत्यस्य मध्ये विलम्बोच्चारणे सन्धिर्वा भवतीत्यर्थः । अन्यत्र चेत्यनेन मध्ये
विलम्बोच्चारणे, सति सन्धिर्वा स्यात् । अत्र तु सूत्रकरणान्मध्ये शीघ्रोच्चारणेऽपि विभाषा
इत्यभिप्रायः । ननु यदि अन्यत्र चेत्यत्र मध्ये विलम्बोच्चारणे सन्धिर्विकल्प्यते तद्यैकत्र
पाठात् अनित्यं सूत्रनिहृष्टं इत्यत्रापि मध्ये विलम्बोच्चारणे सन्धिर्विभाष्यते इति चेत् तत्राह
सूत्रेषु त्विति सूत्रेषु तु संहितासंज्ञेषु च नेयं व्यवस्था किन्तु सूत्रेत्यत्र मध्ये शीघ्रोच्चारणेऽपि
विकल्प्यते । इति पूर्वोक्तस्य विषयविभागः प्रतिपादितः । तत्र सूत्रे यथा कृष्णात् टा इनः ।
ते आते अन्ते इत्यादिः । संहितायां यथा । या तुष्टराजऋषये वृतादात् पुरवे वरमित्यादिः ।
अन्यत्र चेति छन्दसि यथासत्त्वं रजस्तम् इति अहंकारश्चर्म्भुज इत्यादिः ॥८१॥

अनयोकृति परे सन्धि वा स्यात् त्रिविक्रमस्य वामनश्च वा । ऋष्टृ
ऋषभः, यादव ऋषभः । हिमऋतावपि ताः स्म भृश-स्वद इति माघः ।
माला ऋषभस्य माल ऋषभस्य इति च । पक्षे यथाप्राप्तं हर्यासन
मित्यादि ।

दृ३. न नित्य समासे नचाविष्णुपदान्ते निषेधवामनौ ।

हर्यर्थम्, कुमार्यौ ।

दृ४. उजः सन्ध्यभावः ऊं वश्चेतौ ।

सूचयति—हिमऋताविति । हिमऋतौ शीतऋतौ अपि ता युचतयः भृशस्वदः अतिशय-
घर्मयुक्ताः सत्यः रमयन्ति स्मेति शेषः । भृशस्वदः इति किववन्तः ।

अमृताऽ—दृ३. न नित्येति । नित्यसमासे अविष्णुपदान्ते च विषये पूर्वोक्तौ निषेध-
वामनौ न स्याताम् । नित्यसमासे सन्धि नित्यंभवतीत्यर्थः । नित्यसमासानां स्वपद विग्रहो
नास्तीत्यनेन तल्लक्षणं वक्ष्यते । हर्यर्थमिति—हरये इदमित्यर्थं कथनं ननु विग्रहः । इदं-
वाच्यर्थशब्देन चेति समाससूत्रम् । एवंमधिवेत्यवापि “इवेन नित्यममासो विष्णुभक्तच-
लोपश्चे”—त्यनेन नित्यसमासे सन्धि नित्यमेव भवति । कुमार्याविति—कुमारी च कुमारी
चेत्येकशेषे कुमारी शब्दात् औ, इद्वयमेव यः सर्वेश्वरे इति यरामः ।

अत्र वार्त्तिकश्चनित्यसमासएव सन्धेविभाषां निषिद्धति भाष्यकारस्तु समासमात्रे ।
वामन-जयादित्य-पुरुषोत्तम पद्मनाभादि वहुसम्मतत्वादस्मदग्रन्थकारेण तु भाष्यमत
मुपेक्षितमिति द्रष्टव्यम् ।

अमृताऽ—दृ४. उज इति । इति शब्दे परे उज अव्ययस्य सन्ध्यभावः प्रकृति
भावः, उजः स्थाने ऊं आदेशस्तथा पक्षे वरामादेशश्च भवति । वश्चेति “उद्वयं वः” इत्य-
नेन हि प्राप्तो व रामः स्यात् । उजः जाराम इति । उजः अनन्ताव्ययत्वात् “ओरामा-
न्तानामित्यादिना नित्यं निषेधे प्राप्ते विभाषेयं विशेषविधानञ्चेदम् ।

बाल०—ऋद्व । सुगमम् । ऋषभः श्रेष्ठः । सूत्रे ऋतीति ऋरामे परे न ऋद्वर्षे
शब्दे इति सोदाहरणे न दृढीकृतमत्यतिदादर्थाय मामोदाहरणमुपन्यस्यति हिमेति
हिमऋतावपि ता श्यामाः ख्यः भृशःस्वदः अतिशब्देन स्वेदयुक्ताः स्म इत्यर्थः ।
पूर्वोक्तमूत्रानुसारेण यथाप्राप्तं हर्यासनमित्याद्यपि स्यादित्याह पक्ष इति ॥८२॥

बाल०—न नि । नित्यसमासे सति निषेध वामनौ न भवतः । अविष्णुपदान्ते च
तौ न भवतः । हर्यर्थमिति हरये इदमित्यर्थं इदंवाच्यर्थशब्देन चेति कुमार्यावित्येकशेषे कृते
कुमारीशब्दाद् औ इद्वयमेव यः सर्वेश्वर इति यरामः । ररामस्य पूर्वोद्वर्गमनम् उरामस्य
पूर्वविष्णुजने प्रवेशः ॥८३॥

बाल०—उजः । सन्ध्यभावो भवति तस्मिन् परे उजः स्थाने ऊं भवति वक्ष ॥८४॥

८५. विष्णु गणाद्वो वा सर्वेश्वरे ।

उ इति ऊं इति विति । किमु उक्तं किम्बुक्तम् । किमु इति किम्बि
इत्यपि वोद्व्यम् । विष्णुगणात् किम् ? नग्रूक्तम् । अद्येव हलीश

अमृतां—८५. विष्णुगणादिति । सर्वेश्वरे परे विष्णुगणादुत्तरस्य उञ्जः सन्ध्यभावां
विभाषया वरामश्च भवति । पूर्वसूत्रस्य क्रमेणोदारणत्रयं दर्शयति—उइतीत्यादिभि
परसूत्रस्योदाहरण द्वयं—किमु उक्तमित्यादि । अत्र न तु त्रिविक्रमः, विधानाभावात्
विष्णुगणादित्यनेन पूर्वसूत्रात् परस्य वलवत्त्वं ज्ञापयति—किमु इतीत्यनेन । इह सत्यपी
शब्दे परे विष्णु गणादुत्तरस्य उञ्जः सन्ध्यभावो वरामश्च भवति न तु ऊं भावः पूर्व निमि
वैशिष्ठ्यात् । व्यावृत्तिमाह—नग्रूक्तमिति । ज्ञामस्य विष्णुगणात्वाभावाद् उञ्जो न
सन्धि नं वा वरामः । किन्तु दशावतार इत्यादिना त्रिविक्रम एव । अत्र नञ्ज् साहन्त्र्यं त
उञ्जः केवलत्वाभावादोरामान्तानामित्यादिना अनन्तव्ययीय-निषेधस्तु न ।

ननु अद्येव हलीशा इत्यादयस्तु प्रयोगाः प्राचीनशब्दानुशासनेषु सन्धिप्रकरणे
साधिता दृश्यन्ते, तत् कथमिहत्यक्तास्ते ? तत्राह—आख्यात-समासयोर्वक्ष्यन्त इति
तत्र च हेतुं निर्दिशति—दुर्गमत्वादिति । प्रथमतश्छात्राणां सुकोमलमतितया क्लिष्टविष
ग्रहणाशक्तेः ।

यत आख्यात-तद्वित-कार्य-निरपेक्षतया त्वेषां साधनं सुतरामशकम् । तेनासिद्ध
न त्याज्यमिति प्रतिज्ञायाश्च नात्र व्यभिचारः । तत्र अद्येवेति—अद्वयस्य हरलवेजनवद्या
इतिसमासकार्येण । हलीशेति—शकन्ध्वादयोऽरामहरेण साधव इति समासकार्येण

बाल०—विष्णु । सर्वेश्वरे परे विष्णुगणादुत्तरस्य उञ्जः सन्ध्यभावो भवति व
वा भवति । प्रथमसूत्रस्य क्रमेणोदाहरणत्रयं दर्शयति उ इतीत्यादि । यद्यपि परत्र सर्वेश्व
इत्युक्तं, तथापि पूर्वोक्तं शब्दस्य विशेषत्वात् इति परे विष्णुगणादुत्तरस्यापि उञ्जः
पूर्वोक्तविधिरेवेत्यतः पुनरपि पूर्वोक्तोदाहरणान्युपम्यस्यति किमु इतीत्यादि । किन्तु वि
इतीत्यस्मात् परं किमुम् इतीति लिपिकरप्रमादात् पतितम् । विष्णुगणादन्यस्मात् पर
तु न स्यादित्याह विष्णुगणात् किमिति । पक्षेऽपि 'अरामान्तानामनन्तानाच्चाव्यय
सर्वेश्वरे' इत्यनेनासन्धिरेव नञ्ज् उक्तमिति प्रत्युदाहरणन्तु बहुषु पुस्तकेषु दृश्यते । लिपिक
प्रमादकृतं नञ्ज् उक्तमित्येव ज्ञेयं सन्धिनिषेधस्याऽपरिहर्यत्वात् किम्बा ऊञ्ज इति पृथ
निर्देशात् ऊजनन्तत्वेन केवलाव्ययत्वाभावात् नञ्ज् उक्तमिति प्रत्युदाहरणमपि संगच्छते
इति शब्दे तु पूर्ववदेवेत्याह नञ्ज् इतीत्यादिः । दुर्गमाः सन्धयो वहवः सन्ति, ते
दुर्गमत्वात् प्रथमतश्छात्राणामनधिकाराच्चातोदाहरणमनुचितमित्याह अद्येवेत्याह वद्य
इति । तत्र अद्येवेति अद्वयस्य हर एवेजनवद्यारणे इत्यनेन । हलीशेति शकन्ध्वादयोऽरामह
साधव इत्यनेन । प्राच्छर्तीति । उपेन्द्राश्चिविक्रम नामधातौ तु वा तदलश्च न तु त्रिविक्र
भवस्येत्यनेन । ऋणार्णमीति ऋण-प्रवसनवत्सरःदशा-कम्बलानां मिलित्वा वृष्णीन्द्र ऋ
इत्यनेन गोऽयमिति गवरामो वा सन्धिरित्यनेन गवेन्द्रो गवेश अवेन साधुरित्यनेन वक्ष

प्राचर्छति ऋणार्णं गोऽग्रं गवेन्द्र इत्यादयस्त्वाख्यात-समासयोर्वक्ष्यन्ते
दुर्गमत्वात् ।

॥ इति सर्वेश्वर सन्धिः ॥

प्राचर्छतीति उपेन्द्रारस्त्रिविकम इत्याख्यात कार्येण । ऋणार्णमिति—ऋणप्रवसन वत्सर
दशकम्बलानां मिलित्वा वृष्णीन्द्रऋणे इति समासकार्येण । गोऽग्रमिति—गोररामे वा
सन्धिरिति समासकार्येण । गवेन्द्र इति—गवेन्द्रो गवेशो अवेन साधुरिति समासकार्येण
निष्पन्नः ।

॥ इति सर्वेश्वर सन्धि-व्याख्या समाप्ता ॥

इति शेषः । इत्यादय इत्यादि शब्दात् पुनराख्याते संपर्युपेभ्यः सुट् करोतौ संस्काराद्यर्थेष्व-
त्यादिना संस्करोतीत्यादयो ज्ञेयाः । समाप्ते तु तवोष्योस्तु वेत्यादिना श्यामोतु श्यामौतु-
रित्यादयो ज्ञेयाः ॥५५॥

॥ सर्वेश्वरसन्धि समाप्यति इतीति ॥



अथ विष्णुजन सन्धिः प्रकरणम्

६६. विष्णुदासो विष्णुपदान्ते हरिघोषे च हरिगदा ।

विष्णुपदान्ते विषये हरिघोषे च परे सति अविष्णु पदान्ते च विष्णुदासो
नामा वर्णः सर्वग तृतीयः स्यात् । स्थाने सदृशतम् इति न्यायेन
वाक् अच्युतस्य वागच्युतस्य । वाक्गोविन्दस्य वाग्गोविन्दस्य । षट्
गोपिकाः षड्गोपिकाः । भगवत् इच्छा भगवदिच्छा । ककुभ्विष्णो
ककुब्विष्णोः । विष्णुपदादन्यत्र न । चतुर्थीं—कंसजित् ए कंसजिते ।
उदाहरणान्तरमग्रे ।

६७. हरिवेणौ हरिवेणुर्वा ।

अमृता०—६६. विष्णुदास इति । हरिघोषस्यग्रहणमविष्णु पदान्तार्थमिति वृत्तौ
विवृतोति—अविष्णुपदान्ते चेति । चकाराद् विष्णुपदान्तेऽपि । ननु सूते विष्णुदासो
हरिगदा भवतीत्येतदुक्तम्, वृत्तौ तु सर्वग तृतीयःस्यादिति कुतो लब्धमिति चेतत्राह—स्थान
इति । उच्चारण स्थाने प्राप्यमाणानामादेशः सदृशतमः अतिशय सहशोभवतीति
न्यायार्थः । तेनवाक् अच्युतस्येयत्र करामस्य सर्वगतृतीयो गराम एव ननु जरामादिः ।
ककुभ् शब्दो दिग्वाची । उदाहरणान्तरम्—अविष्णुपदान्तोदाहरणग्रे तिङ्गन्तप्रकरणे
वक्ष्यते । ततु दिग्ध इत्यादि वोध्यम् । एवमविष्णुपदान्तोदाहरणं प्रायश आख्यातप्रकरणे
हि ज्ञेयम् ।

अथेति । अथानन्तरं सर्वेश्वरसन्धिनिरूपणान्तरं विष्णुजनसन्धिर्निरूप्यते इत्यर्थः ।

बाल०—विष्णु । विष्णुपदान्ते विषये वर्तमानो विष्णुदासनामा वर्णो हरिगदासंज्ञो
भवन् समानवर्गस्य तृतीयवर्णः स्यात् हरिघोषे च परे सति अविष्णुपदान्ते । चकारात्
विष्णुपदान्तेऽपि वर्तमानः स तद्वर्गतृतीयः स्यात् । ननु विष्णुदासः हरिगदा भवतीत्युक्तं,
तर्हि कथं विष्णुदासः सर्वगतृतीयः स्यादित्युच्यते इति चेत् तत्र हेतुमाह स्थान इति ।
आदेशो भवन् स्थाने उद्वारणस्थाने सदृशतमोऽतिशयसदृशो भवतीति न्यायार्थः । अतः
करामादिर्गरामादिरेव न तु जरामादिः । एवमन्यत्रापि । क्रमणोदाहरति वागित्यादि ।
ककुभ्शब्दो दिग्वाची । विष्णुपदान्तादन्यत्राऽविष्णुपदान्ते न स्यादित्यर्थः । तत्र चतुर्थी
यथा । उदेति उदाहरणान्तरमविष्णुपदान्तोदाहरणग्रे वक्तव्यमिति शेषः । तत् अवद्
द्वमित्यादि । नन्वत्र सर्वेषूदाहरणेषु सर्वेश्वर गोपालयोरेव परनिमित्तताहश्यते, तर्हि कथं
विष्णुदासो विष्णुपदान्ते सर्वेश्वर-गोपालयोर्हरिगदेति न कृतं एवं कुते हरिघोषस्यापि
हरिगदान्तः—पातात् सर्वं मनवदयं स्यात् । मैव तदुक्तानुरूपं सूत्रं यदि क्रियते तदा
सुवन्तपादे वाक् वाग् पट् षडित्यादौ परनिमित्ताभावात् यथा विष्णुदासस्य हरिकमलं वा
विरामे इति सूत्रमपेक्षते, तथा विष्णुदासस्य हरिगदा वा विरामे इत्यपेक्षा स्यात् ।
पुनर्हरिघोषे परेऽविष्णुपदान्ते विष्णुदासस्य हरिगदा न स्याच्चेत्यवद्येयम् ॥६३॥

विष्णुपदान्ते वर्त्मानो विष्णुदासो हरिवेणौ परे हरिवेणुर्वा स्यात् ।
सत्र स्थानिवर्गपञ्चमः । जगत् नाथः जगन्नाथः जगद्दनाथः । कृष्णगुप्
जुडुवे कृष्णगुम् जुडुवे कृष्णगुव् जुडुवे ।

दूर्द. यादवमात्रे हरिकमलम् ।

विष्णुदासोयादवे परे तद्वर्गप्रथमं स्यात् । वाक् कृष्णस्य वाक् कृष्णस्य ।
अत्रविष्णुपदान्ते हरिगदा वाधनार्थमिदं सूत्रम् । मात्रग्रहणादविष्णु
पदान्ते च । उदाहरणन्त्वग्रे ।

दृष्ट. ततः शश्छो वा ।

अमृतां—दृष्ट. हरीति । विष्णुदासस्यैव हरिवेणुपरत्वे विशेषविधिरयम् । विकल्प
विधानाद जगद्नाथ इति हरिवेण्वभावपक्षे पूर्वेनैव हरिगदा । स्थानीचासौ वर्गश्चेति
स्थानिवर्गस्तस्य पञ्चमः । एकोच्चारणस्थान-वर्गस्य पञ्चम इत्यर्थः । यस्यस्थाने यादेशो
भवति स तत् सहशः स्यादिति पूर्वन्यायेन । अत्र तरामस्य योहरिवेणुविहितः स च
तवर्गस्यैव पञ्चमो नरामोभवतीति निष्कर्षार्थः । जुडुवे इति डुश्वदे धातोरधोक्षजस्यरूपम् ।
विष्णुपदान्त इति किम्—वेचि ।

अमृतां—दृष्ट. यादवेति । अयमपि प्रथमसूत्रस्यैवापवादः । ननुदाहरणे वाक्
कृष्णस्येत्यत्र करामस्थाने करामविधानेन को लाभ इतिचेत्तत्राह—हरिगदावाधनार्थमिति ।
अकृतेऽस्मिन् सूत्रे प्रथमसूत्रवलेन हरिगदैव प्राप्नुयात्, ततो “बाग् कृष्णस्य” इत्यनिष्ठ-
रूपमापद्यतेतिभावः । मात्रग्रहणकलमाह—अविष्णुपदान्ते चेति । ततो यादवेपरे सति
विष्णुपदान्ते अविष्णुपदान्ते च विष्णुदासो हरिकमलं भवतीति सरलार्थः । अविष्णुपदान्तो-
दाहरणमग्रे तिङ्गन्ते—भेदस्यतीत्यादौ ।

अमृतां—दृष्ट. तत इति । पूर्वतो विष्णुदास इत्यनुवृत्तेरिह वाच्यमूतं विष्णु दासं

बाल०—हरि । अत्र व्याकरणात् हरिवेण्वभाव पक्षे विष्णुदासो विष्णुपदान्त इत्यनेन
हरिगदा स्यात् । यस्य स्थाने य आदेशो विधीयते स आदेशस्तत्सहशो भवतीत्याह स चेति ।
स च हरिवेणुर्भवन् स्थानिवर्गपञ्चम एव भवति । स्थानी चासौ वर्गश्चेति स्थानिवर्गस्तस्य
पञ्चम इति विग्रहः । कृष्णगुप् कृष्णरक्षकः जुडुव इति शब्दार्थस्य डूधातोरधोक्षजस्य
एप्रत्यान्तम् ॥दृष्ट॥

बाल०—याद । यद्वर्गविष्णुदास स्तद्वर्गं प्रथमः स्यादित्यन्वयः । अत्रापि स्थाने
सहशेति योज्यम् । ननु वाक् कृष्णस्येत्यत्र करामस्य स्थाने करामविधानेन किमिति
चेत्तत्राह अत्रेति अत्र विष्णुदास इत्यनेन विष्णुपदान्ते प्राप्तहरिगदाया वाधनार्थमिति
योज्यम् । यादवे इत्यकृत्वा यादवमात्र इति यत् कृतं तत्फलमाह मात्रेति । उदाहरणं
त्वग्रे इति अग्रे आब्यातादौ तत् धत्ते धत्ते इत्यादि ॥केन॥

विष्णुदासात् परः शरामश्छरामो वा स्यात् । सुवाक् शौरिः, सुवा-
छौरि वा । अप् शायी, अप्छायी वा ।

१००. नश्चयुतेरिति वाच्यम् ।

वाक् श्चयोतति ।

१०१. हो हरिघोषः ।

विष्णुदासात् परो हराम स्तद्वर्गचतुर्थवर्णो वा स्यात् । वाक् हरे: व
घरे: वाग् हरे: । अच् हलौ अज्ज्ञलौ अज्ज्हलौ । षट् हरे: षड् हरे: ह
हरे: । तत् हलिनः तद्वलिनः तद्वहलिनः । ककुभ्हरस्य ककुब्भरस्य
ककुब्हरस्य ।

पञ्चम्यन्त-तस् प्रत्ययेन निर्दिश्य वृत्तौ स्पष्टीकरोति—विष्णुदासात् पर इति । अप् श
जलशायी नारायण इत्यर्थः । तत् इतिकिम्—सुगण् शेते ।

अमृता०—१००. नश्चयुतेरिति । पूर्वसूत्रस्यैव प्रत्युदाहरणमिदम् । “छत्वममी
वक्तव्यमिति” वार्त्तिकसूत्रम् । विष्णुदासात् शरामस्येत्यनुवर्तते । तत्र सर्वेश्वर-हरिवे
हरिमित्र-हरामाणां ‘अम्’ संज्ञा । तच् श्लोकेन तच्छ्लोकेन, तत्र शमशानं तच्छ्लमशानं
अमीति किम्—वाक् श्चयोततीति । अत्रपरनिमित्तस्य चरामस्य ‘अम्’ संज्ञत्वाभाव
शरामस्य न छरामः । अस्मद्ग्रन्थ-कृद्विरेकस्यहेतोः अम् प्रतिरूपकसंज्ञामकृत्वा प्रतिरू
सूत्रैव तदुदेश्यं समाहितम् । श्चयोततीति श्चयुतिरक्षरणे इत्यस्याच्युतसिपि रूप
अपि च सुप्तम्,—शसि तु नित्यमिति वाच्यम् । तद्विते—“संख्या परिमाणाभ्याच्च व
सायामिति” शस् प्रत्यये तु परे नित्यं छरामः स्यात् । यथा यावत् शः यावच्छः । इति

अमृता०—१०१. हो हरीति । तद्वर्गेतियद्वर्गविष्णुदासातपरोहरामस्तिष्ठति
तद्वर्गस्यैव चतुर्थवर्णो वा स्यात् । पक्षे हरामस्य स्थितिश्च वाग् घरे अज्ज्ञलावित्य
हरिघोषे जाते पश्चाद् विष्णुदासो विष्णुपदान्ते इत्यादिना करामादे हर्षिगदागरामावि
हलिनो बलरामस्येत्यर्थः । विष्णुदासादित्येव; अन्यस्मान् भवान् हसति ।

बाल०—ततः पूर्वत्र विष्णुदासस्योक्तत्वात् वृत्तौ तत इत्यस्यैव च भूतं विष्णुदा-
दित्युक्तं सुवाक् सुवचनः । अप् शायी जलशायी ॥८८॥

बाल०—नश्चयु । विष्णुदासात् परश्चयुतेः शरामश्छरामो न स्यादिति वक्तव्य
श्चयुतधातुः क्षरणार्थः । श्चयोततीत्यत्र सस्य शश्वर्गयोगे इत्यनेन सरामस्य शरामप्र
प्रतिषेधोऽयम् ॥१००॥

बाल०—हो विष्णवति । यद्वर्ग विष्णुदासात् परोऽस्तद्वर्गस्यैव चतुर्थो वर्णो
स्यात् । वाग् घरे इत्यादौ हरिघोषे कृते पश्चात् विष्णुदास इत्यनेन करामादेर्गरामावि
हलिनो बलदेवस्य ॥१०१॥

१०२. द-तौ परवणौ ल-च-टवर्गेषु नित्यम् ।

दरामस्तरामश्च ले परे चवर्गे टवर्गे च परे परो यो वर्णः स एवनित्यं स्यात् । तद्वलक्ष्मीपतेः तल्लक्ष्मीपतेः । तत् चतुर्भुजस्य लङ्घतुर्भुजस्य । कंसजित् छादयति, यादवमात्रे इत्यादि कंसजिच्छादयति । तत् जनार्दनस्य तज्जनार्दनस्य । कंसजित् लङ्घारः कंसजिश्च लङ्घारः । विष्णु दासइतिकं सजिज्ञ-लङ्घारः । तद्ब्ररामः तज्ब्ररामः । वा इति निवृत्तम् । तद्ब्रराम इत्यपि पाणिनीयाः । तन्मते पूर्वत्रासिद्धमिति न्यायेन तद्वर्गं तृतीयस्यैव स्थितिरिति । एवंणरामेऽपि । कंसजित् टीकते कंसजिद्वीकते कंसजित् ढौकते कंसजिड्डौकते ।

अमृता०—१०२ दताविति । पूर्वतोऽनुवर्त्तमानस्य विकल्पस्य वाधनार्थं नित्यपदम् । यादवेति—यादवमात्रे हरिकमलमित्यनेन पूर्वत्ररामस्य चरामः । विष्णविति—विष्णुदासो विष्णुपदान्त इत्यनेन पूर्वज्ञरामस्य जरामः । वाइतिनिवृत्तमिति—नित्यमित्युपादानादितिभावः । तद्ब्रराम इत्यपि पाणिनीया इति—अपिकारात् तज्ब्ररामः तज्ब्रराम इति च सिद्धयेत् । पूर्वत्रासिद्धमिति—व्याख्यास्य भाषावृत्तौ,—सपादसपाध्यायी—विधौ कर्तव्ये वक्ष्यमाणस्त्रिपादीविधिरसिद्धः स्यात् । विपाद्यां च परपरो विधिरसिद्धः स्यात् पूर्वत्र कर्तव्ये इति । प्रकृते विपाद्यान्वेति शेषोक्तो न्यायः प्रवर्तते । तथाहि—तन्मते—“ज्ञलां जशोऽन्ते” (तृतीयवर्ण विधानं) इत्यस्य पूर्व वर्त्तित्वात्—“स्तोः श्चुना श्चुः”, “ष्टुना ष्टुः”, “यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा” (च वर्गे ट वर्गे विधानं, पञ्चमवर्णं विधानञ्च) इत्येतेषां परत्वाच्च सर्वएतेऽसिद्धाः, प्रागुक्त “ज्ञलामिति सूत्रेण तृतीयवर्णं कर्तव्ये । ततः सर्वेषां वाधकतया तस्यैव स्थितिः । यदा तु तृतीयवर्णो न कियते तदा—यरोऽनु—नासिक इत्यनेन विभाषया पञ्चमवर्णोभवति । पक्षे ‘स्तो’ रित्यादिना चवर्गत्वादि । एवं च तद्ब्ररामः तज्ब्ररामः तज्ब्रराम इति रूपत्रयं तन्मते सिद्धयति । एवं णरामेऽपीति—तद्ब्ररामः तज्ब्ररामः तज्ब्रराम इति च । टीकते ढौकते इति टीकृ ढौकृ गतौ इत्येतयोरच्युतप्रथमपुरुषैकवचनेरूपम् ।

बाल०—दतौ । छादयतीति छदधातुरपवारणार्थः । यादवेति यादवमात्रे हरिकमलमित्यनेन छरामस्य चराम इति शेषः । लङ्घार इति शब्दविशेषः । विष्णविति विष्णुदासो विष्णुपदान्त इत्यनेन ज्ञरामस्य जराम इति शेषः । वेति सूत्रे नित्यशब्दोपादानात् हरिवेणौ हरिवेणुवर्त्यनेनानुवर्त्तमानस्य वा इत्यस्य निवृत्तिः । तद्ब्रराम इत्यपि भवतीति पाणिनीया वदन्ति । तन्मत इति पाणिनीयमते जरामस्य चवर्गत्वं पूर्वत्रासिद्धं हरिवेणुत्वन्तु सिद्धमेव, अतो हरिवेणौ हरिवेणुवर्त्यनेन हरिवेणुभवति पक्षेऽपि चवर्गत्वासिद्धत्वात् दरामस्य स्थितिरिति । एवमिति एवमुक्तप्रकारेण पाणिनीयानां मते णरामेऽपि तद्वर्गं तृतीयस्य स्थितिरिति । तत् णरामः तद् णरामः उत्युदाहरणम् । टीकृ ढौकृ गतौ ॥१०२॥

१०३. तश्च शे ।

तरामः शरामे परे चरामः स्यात् । तत्शौरेः तच्शौरेः । पक्षे छत्वं तच्छौरेः ।

१०४. नोऽन्तश्चछयोः शरामो विष्णुचक्रपूर्वो विष्णुचापपूर्वो वा ।

नरामो विष्णुपदान्तश्चछयोः परयोः शरामः स्यात् । सच विष्णुचक्रपूर्वो विष्णुचापपूर्वो वा । भवान् चलति, भवांश्चलति, भवांश्चलति । भगवान् छादयति, भगवांश्छादयति भगवांश्छादयति ।

१०५. टठयोः षरामः ।

नरामो विष्णुपदान्तष्टृथयोः परयोः षरामः स्यात् । सच विष्णुचक्रपूर्वो विष्णुचापपूर्वो वा । भगवान् टीकते, भगवांष्टीकते, भगवांष्टीकते । भगवान् ठक्कुरः भगवांष्टक्कुरः, भगवांष्टक्कुरः ।

१०६. तथयोः सरामः ।

नरामो विष्णुपदान्त स्तथयो, परयोः सरामः स्यात् । सच विष्णुचक्रपूर्वो विष्णुचापपूर्वो वा । भगवान् तरति, भगवांस्तरति, भगवांस्तरति । भगवान् स्थूतकरोति, भगवांस्थूतकरोति, भगवांस्थूतकरोति ।

अमृता०—१०३. तश्चेति । पक्षेष्ट्वमिति ततः शश्छोवेत्यनेन ।

अमृता०—१०४. नोऽन्तइति । विष्णुपदान्तः—विष्णुपदान्ते स्थित इत्यर्थः । विष्णुपदान्तस्यानुवर्त्तमानेऽपि तदग्रहणमत्रस्पृशतार्थम् ।

अमृता०—१०५. टठयोरिति सुगमम् ।

अमृता०—१०६. तथयोरिति तरतीति त्रृ प्लवनतरणयोर्धतिरच्युत-तिवन्तम् । तरणं नद्यादेः पारगमनम् । श्रीकृष्णोरामघट्टे यमुनामुत्तीर्य गोवर्द्धनसन्निहिते शट्टीकराड्य स्थाने कियन्तं कालमुवास इति श्रीगोपालचम्पूमतम् । विष्णुपदान्तादन्यत्र न-भवन्तौ ।

बाल०—तश्च । पक्षे ष्ट्वमिति ततः शश्छो वेत्यनेनेति शेषः ॥१०३॥

बाल०—नोऽन्तः । विष्णुपदान्त इति विष्णुपदान्तस्थित इत्यर्थलिलभ्यते चरधानु-र्गत्यर्थः ॥१०४॥

बाल०—टठयोः । दे उदाहरणमुक्त्वा दे उदाहित्यते । भगवान् ठक्कुर इति ॥१०५

बाल०—तथ । तरतीति तृधातुरत्र तरणार्थः । तरणं नद्यादेः पारगमनम् । तत् अत्र यमुनाया ज्ञेयम् । यमुनामुत्तीर्य नन्दगोकुलमायत इत्युक्तदिशा ॥१०६॥

१०७. नत्से ।

तसे परे नरामो विष्णुपदान्तो विष्णुचक्रपूर्वो विष्णुचापपूर्वो वा सरामो न स्यात् । भगवान् तसरः । कान् कान् इत्यत्र कांस्कानिति वाच्यं वा ।

१०८. प्रशानो नस्य चादौ हरिवेणः ।

विष्णुपदान्तस्य प्रशानो नरामस्य चछटठतथेषु परेषु परवर्णानुरूपो हरिवेणुर्भवति । प्रशान् चतुर्भुजः प्रशान्तुर्भुजः । प्रशान्तादयति प्रशान्तादयति । प्रशान्तादयति । प्रशान्तादयति ।

अमृतां—१०७. न तसे इति । पूर्वसूत्रस्य प्रत्युदाहरणमिदम् । शौरिविद्यान् सुत्रे अमृपरे छवि (चछटठ तथेषु) इतिपाणिनि-निर्देशात् सरामस्य च अम् संज्ञत्वाभावान्नात्र नरामस्य सरामः । तसरुरिति—तसर छद्यगतौ इत्यस्य उप्रत्यय उणादिः । 'कानाम्रेडिते' इति पाणिनीय-सूत्रम् । आम्रेडिते द्विस्त्रिरूक्तौ सत्यां कानित्येतस्य नरामस्य विष्णुचक्रपूर्वो विष्णुचापपूर्वो वा सरामः स्यात् । अत्रपूर्वत्र च विवेयवर्णस्य अराम उद्वारणार्थः । कानाति विमुशवदस्य शसन्तः । अत्र एकः प्रश्ने अपरः कुत्सायाम् ।

अमृतां—१०८. प्रशान्तादिति । प्रशानो नरामस्य चादिपरे सति सविष्णुचक्रे सविष्णुचापे च शौरी प्राप्ते नियमोऽयम् । प्रशानिति—प्रपूर्वात् शमु शान्तौ इत्यस्मात् विवप् । नान्तोद्ववस्य त्रिविक्रमः क्वौ इतित्रिविक्रमः । धातोर्मोर्नो विष्णुपदान्त इति मस्य नः । केवलस्य प्रत्ययवेहर इतित्रिविप्लोपः । राधाविष्णुजनाभ्यामिति सोर्हरः । नरामस्यासिद्धत्वान्न नामान्तस्य नस्य हरः ।

बाल०—नत्से । नरामो विष्णुपदान्तः तसे परे विष्णुचक्रपूर्वो विष्णुचापपूर्वो वा सरामो न स्यात् । तसर धातुश्छद्यगत्यर्थः ।

कान् सुगमम् । कानोद्विरूक्ताविति लक्षणेन द्विरूक्तः कानो नकारः सानुस्वारः सानुनासिकश्च सकारो भवतीत्येके । अतस्तन्मते शसन्त किं शब्दस्य वीप्सादौ द्विरूक्तौ सत्यां प्राग् द्विरित्यनेन पूर्वकालो नकारो एव सानुस्वारादिकं हलन्तः सकारः स्यात् । द्विरूक्तेरन्यत्र वृक्षान् कान् कानेष्यति प्रामाणानि प्रत्युदाहरणच्च । अस्माकं मते तु वक्तव्यस्य विकल्पत्वात् यरिमन् पक्षे सानुरवारः सरामो न स्यात्, तस्मिन् पक्षे एवेदं प्रत्युदाहरणं सम्भवत्येवेत्यतो न तदर्थं प्रयास इति । तृणः पे सविष्णुचक्रः सविष्णुचापश्च सोवाच्यः । स इत्यराम उद्वारणार्थः समासे सति कार्यन्तराभावात् विष्णुसर्गश्च सः नः पिनष्टि नः पिनष्टि । पक्षे उपद्यानीयः नः पिनष्टि नः पाहोत्यादिः ॥१०७॥

बाल०—प्रशा । विष्णुपदान्तः पूर्वतोऽनुवर्तत इति वृत्तौ विष्णुपदान्तस्येति सूत्रस्थादिशब्दात् च छटठ तथेष्विति च व्याख्यातम् । प्रपूर्वः शमुशान्तावित्यस्मात् ग्राम्यतीति विवप् तत् पश्चात् नान्तोद्ववस्य त्रिविक्रमः कौंकंसारि वैष्णवे चेत्यनेन त्रिविक्रमः । धातोर्मोर्नो विष्णुपदान्ते मवयोश्चेत्यनेन तु मस्य नः । केवलप्रत्ययवेरिति विवप् लोपः । राधाविष्णुजनाभ्यामित्यनेन सोर्हरः प्रशानिति ॥१०८॥

१०८. ले लराम एव ।

नरामो विष्णुपदान्तो ले परे लरामः स्यात् । भगवान् लीलायते भगवांलीलायते । अत्र स्थाने सहशतम् इति न्यायेन सानुनासिक एव लरामः स्यात् । अत्र यवला हि द्विविधा मताः, सानुनासिका निरनु-नासिकाश्च ।

११०. डढणेषु णरामः ।

नरामो विष्णुपदान्तो डढणेषु परेषु णरामः स्यात् । गरुत्मन् डीयसे गरुत्मण् डीयसे । चक्रिन् ढौकसे, चक्रिण् ढौकसे । शार्ङ्ग्नन्त्रणं कुरु शार्ङ्ग्निणं कुरु ।

१११. जङ्गजशरामेषु जरामः ।

नरामो विष्णुपदान्तो जङ्गजशरामेषु परेषु जरामः स्यात् । भगवान् जयति, भगवाज्ज्ञयति । भगवान् ज्ञषरूपी, भगवाजङ्गषरूपी । भगवान् जुडुवे, भगवाजङ्गुडुवे । भगवान् शूरः, भगवाजशूरः ।

अमृतां—१०८. ले इति । लीलायते—लीलांकरोतीत्यर्थे क्यद् । स्थानेइनि—नरामस्यानुनासिकत्वं संज्ञाप्रकरणे चोक्तमेव, ततो नरामस्थाने विहितस्य लरामस्य च नासिकाभवत्वं युज्यने स्थाने सहशतम् इति न्यायेन । दन्त्यवर्णत्वाद् मुखभवत्वच्च तस्य पुनः सिद्धम् । ततो मुखनासिकाभवत्वात्स्य सानुनासिकत्वं प्रतिपादितम् । अथ यवलानां सानुनासिकप्रसिद्धिच्च विवृणोति—अत्रेति । अत्र शब्दशास्त्रे ।

अमृतां—११०. डढेति । गरुत्मन् हेगरुड ! डीयस इति डीड् विहायसा गतौ अच्युत ते । णं कल्याणम् ।

अमृतां—१११. जमेति । सुगमम् । ज्ञषरूपी मतस्यरूपी मीनावतार इत्यर्थः ।

बाल०—लेल । सुगमम् । अत्रेति स्थाने सहशतम् इति न्यायेन नरामस्य मुख नासिकाभवत्वात् लरामोऽपि भवत् सानुनासिकः अर्थात् सानुनासिकत्वेन च लरामस्य मुखनासिका भवत्वं प्रतिपादितम् । ननु लरामस्य स्वभावत एव सानुनासिकत्वमप्यस्ति, तहि न्यायाङ्गीकारण किमिति चेत्त्राह यवलाहीति । न्यायाङ्गीकारादत्रकृत लरामस्य सानु-नासिकत्वमेव भवति अन्यथा परवर्णनिरूप निरनुनासकत्वमपि स्यादित्यर्थः ॥१०८॥

बाल०—ड द । गरुत्मनिति हे गरुडेत्यर्थः । डयस इति डीड् विहायसा गतावित्यस्य रूपम् चक्रिनिति हे कृष्णेत्यर्थः । णमिति मुखमित्यर्थः । णश्च निर्वृतिवाचकमिति शास्त्रा-न्तरम् । तेन णं कुर्विति णरामं कुरु सुखं कुरु वेत्यर्थः ॥११०॥

बाल०—ज ज । ज्ञषरूपी मतस्यरूपीत्यर्थः ॥१११॥

११२. शे चान्तो वा ।

नरामो विष्णुपदान्तः शरामे परे चरामान्तो जरामः स्याद् वा । भगवान् शूरः, भगवाञ्चशूरः, भगवाञ्शूरः, छत्वे भगवाञ्च्छूरः ।

११३. मोविष्णुचक्रं विष्णुजने ।

मशापो विष्णुपदान्तो विष्णुजने परे विष्णुचक्रं स्यात् । कृष्णम् स्मरति, विष्णुचक्रस्य पूरोद्धिंगमित्वं लोकात् कृष्णंस्मरति । विष्णुजनादन्यत्र न,— कृष्णम् इच्छ, कृष्णमिच्छ । कथं किम्बुक्तम्, कृष्णगुम् बुडुवे ? असिद्धरूपं नत्याज्यमिति प्रतिज्ञासिध्यर्थमिदं तत्रैव कर्तुं योग्यमपि-यन्नकृतं तस्मात्तत्राकरणान्न विष्णुचक्रमिति ।

११४. विष्णुचक्रस्य हरिवेणुविष्णुवर्गे विष्णुपदान्तस्य तु वा ।

अमृता०—११२. शे चान्त इति । छत्व इति—ततः शश्छोवेत्यनेन छत्वे सतीत्यर्थः ।

अमृता०—११३. मो विष्णवति । अन्तरालपाठाद्विष्णुचक्रस्य सर्वेश्वरत्वं विष्णुजन-त्वञ्चास्तीतिवक्ष्यमाणरीत्या तस्य विष्णुजनत्वं स्वीकारे यद्यपि परोद्धवगमित्वं सम्भवेत् किन्तु तस्य सर्वेश्वरत्वस्वीकारे पुनस्तदसम्भव इति विप्रतिषेधे लोक व्यवहारस्त्वनुशासनाद वलीयानिति न्यायेन तस्योद्धर्वगमनं लोकप्रसिद्धचाप्रतिपादयन्नाह—विष्णवति । लोकात् लोक व्यवहारादित्यर्थः । आशङ्कृते—कथमित्यादि । किम्बुक्तं कृष्णगुम्बुडुवे इत्यत्र वराम-ब्रामरूप-विष्णुजनपरत्वेऽपि पूर्वमरामस्य कथं न विष्णुचक्रमिति शङ्काग्रन्थार्थः । सिद्धान्तमाचष्टे—असिद्धेत्यादि । इदं विष्णुचक्रविधायकसूत्रम् । तत्रैव—किम्बुक्तमित्यादि प्रयोगस्थले एवेत्यर्थः । विष्णुपदान्तस्येति किम् ? गम्यते ।

बाल०—शे चा । चरामान्तो ब्रामः स्याद्वा पक्षे केवलं ब्रामश्च । छत्व इति । ततः शश्छो वेत्यनेन छत्वे सतीत्यर्थः ॥११२॥

बाल०—मोवि । अन्तराल पाठाद्विष्णुचक्रस्य सर्वेश्वरत्वं विष्णुजनत्वाच्चास्तीति वक्ष्यमाणरीत्या विष्णुचक्रस्य सर्वेश्वरत्वे स्वीकारे कस्यायूद्धर्वगमनं न सम्भवति, विष्णुजनत्वे स्वीकारे तु परोद्धर्वगमनमेव सम्भवतीति सहेतुक-पूर्वोद्धर्वगमनं प्रतिपादयन्नाह विष्णवति लोकादिति लौकिकव्यवहारादित्यर्थः । अत्र मो विष्णुरवसाने इति कस्यचिलक्षणम् । तत् न बहुसम्मतं सर्वेश्वरे परे सति पुनस्तस्य मविधानलक्षणापेक्षत्वात् । द्राविडादिलिपौ विरामे स्वण्डमकारस्यैव स्थितित्वाच्च । आक्षिपति कथमिति । ननु किम्बुक्तं कृष्णगुम् बुडुवे इत्यत्र वराम-ब्रामयोर्विष्णुजनयोः परत्वे पूर्वमरामस्य विष्णुचक्रं कथं न स्यादित्यत्र सिद्धान्तमाह असिद्धेति । इदं मो विष्णुचक्रमिति सूत्रं तत्रैवेति विष्णगणाद्वावा सर्वेश्वर इत्यस्मात् पूर्वस्मिन्नेवेत्यर्थः ॥११३॥

विष्णुचक्रस्य परवर्णानुरूपो हरिवेणः स्यात् विष्णुवर्गे परे, विष्णु पदान्तस्य विकल्पः । अविष्णु पदान्तोदाहरणं वक्ष्यते । कृष्णं कीर्त्तयति, कृष्णद्वीर्त्तयति वा । कृष्णं भजति, कृष्णस्भजति वा । संसारं तरति, संसारन्तरति, वा । अत्र तथयोः सराम निषेधो वक्तव्यः । विष्णुवर्गे इति किम् ? सम्बत्सरः ।

११५. यवलेषु सविष्णुचाप-पररूपञ्च मन्यन्ते । सँवत्सरः, यंयम्यते, सँलुनाति ।

अमृतां—११४. विष्णवति । पूर्वत्र विष्णुचक्रस्याविष्णुपदान्तस्येति योज्यं, परत्र विष्णुपदान्तस्येति निर्देशात् । तुशब्देभिन्नोपकमे । तेनाविष्णुपदान्ते हरिवेणुनित्यं भवतीति फलितार्थः । तदुदाहरणञ्च वक्ष्यते गन्ता हन्तेत्यादिषु । विष्णुवर्गे इत्येव; तदन्यत्र न,—संगंस्यते, कृष्णं स्मरति । ननु संसारन्तरतीत्यत्र तथयोः सरामः कथं न प्रवर्तते ? न च नरामस्य विष्णुपदान्तत्वाभाव इति वाच्यम्, विष्णुपदान्तस्थित-विष्णुचक्रस्य स्थाने विहितस्य नरामस्यापि विष्णुपदान्तत्वमस्त्येव । मैव, तत्र सन्धौ जात नरामस्य सरामो नभिप्रेतः लाक्षणिक-प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणमिति परिभाषा वलात् ।

अमृतां—११५. यवेति । यवलेषु परेषु विष्णुचक्रस्य सविष्णुचापं परवर्ण रूपञ्च भवतीति पूर्वचार्या मन्यन्ते । अत्र वार्ये चशब्दः । विशेषानभिधानाद् विष्णुपदान्तेऽविष्णुपदान्ते च विभाषा । तेनविष्णुपदान्ते—यंयरामः यंयरामः, सँवत्सरः सँलुनाति सँलुनाति । अविष्णुपदान्ते—यंयम्यते यंयम्यते, वँवम्यते वंवम्यते । यंयम्यत इति यमु उपरमे इत्यस्मात् यङ्, द्विचनं, हरिवेणवन्तानां जपेत्यादिना नराद्वत्तरं विष्णुचक्रम् । सँलुनातीति संपूर्वाद् लूङ् छेदन इत्यस्मादच्युत-तिप् । कचादेः शपः इना, प्वादीनां वामनः शिव इति वामनः ।

बाल०—विष्णु । विवरणं विष्णवति विष्णुचक्रस्येत्यस्मात् पूर्वम् विष्णुपदान्तस्येति योज्यं परत्र विष्णुपदान्तस्येत्युक्तत्वात् । विष्णुवर्गे परे इति मध्यपाठाद् उभयात्रान्वेति । विकल्प इत्यस्य च पूर्वस्थित-हरिवेणुना सहान्वयः । सूत्रे तुशब्देन भिन्नोपकमाद् अविष्णुपदान्तस्य विष्णुचक्रस्य नित्यं हरिवेणुभवति । अतएवाविष्णुपदान्तोदाहरणानामपेक्षत्वे आह अविष्णवति वक्ष्यत इत्यतः पूर्वमग्र इति द्रष्टव्यम् । उदाहरणन्तु तत्र गन्ता मन्तेत्यादि । ननु नाम-धातुप्रत्ययविष्णुपदानामादेशस्य तज्जातिवद्भावः सर्वत्रैवेति वक्ष्यमाणरीत्या विष्णुपदान्तस्य विष्णुचक्रस्यादेशो यो हरिवेणुस्तस्यापि विष्णुपदान्तस्थितत्वात् संसारन्तरतीत्यत्र तथयोः सराम इत्यनेन विष्णुचक्रादि पूर्वः सरामः कस्मात् स्यादित्यस्य प्रकारान्तरेण सिद्धान्तं कर्तुमशक्तः सन् निषेधवत्कव्यमाह अत्रेति विष्णुचक्रस्येत्यनेनात्र विहिते नरामे सति तथयोः सराम इत्यनेन प्राप्तसरामस्य निषेधो वक्तव्यः ।

११६. द्विः सर्वेश्वरमात्राच्छः ।

अविष्णु पदान्तादपि सर्वेश्वरात् परश्छरामो द्विर्भवति । कृष्णच्छत्रं,
कृष्णच्छत्रम् ।

११७. विष्णु पदान्तात् त्रिविक्रमाद् वा ।

विष्णु पदान्तात् त्रिविक्रमात् परश्छरामो द्विर्वाभवति । यमुनाच्छाया,
यमुनाच्छाया वा ।

११८. आङ्ग्म्यां नित्यम् ।

आङ्ग्माङ्ग्म्यां परश्छरामो नित्यं द्विर्भवति । डरामस्याप्रयोगः । आच्छा-
दयति । माच्छिददत् ।

अमृतां—११६. द्विरिति । सूत्रेमात्रशब्दग्रहणसामर्थ्यादिवृत्तौ चापि पदन्यासेन
विष्णुपदान्तादविपदान्तात् सर्वेश्वरात् छरामस्य द्वित्वं व्याख्यातम् । कृष्णच्छत्रमिति—
छरामे द्वित्वेसति यादवमात्रे हरिकमलमिति पूर्वं छरामस्य चरामः ।

अमृतां—११७. विष्णवति । सूत्रार्थः सुगमः । अविष्णु पदात् त्रिविक्रमात्
पूर्वेण हि नित्यम् । यमुनाच्छाया यमुनाकान्तिः । “छाया सूर्यं प्रिया कान्तिः प्रतिविम्ब-
मनातप” इत्यमरः ।

अमृतां—११८. आङ्गिति । आङ्ग्माङ्गो “रव्ययात् स्वादेर्महाहर” इति विष्णु-
पदान्तत्वाद् विकल्पे प्राप्ते तद्वाधनार्थं नित्यपदम् । डरामस्याप्रयोग इति—ईषदर्थे
क्रियायोगे इत्यादिना प्रागुक्तमेव । माच्छिददिति—छिदिर् द्वैधीकरणे, माङ्ग्योगे सर्वाप
वादी भूतेशः; इतनुवन्धान् डोवेति डः ।

अनेन लाक्षणिक-प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणं सूचितम् । अतः संसारन्तरतीत्यादौ
तथयोः सराम इति न प्रवर्तते । सरामस्तथयोरेव भवति, तथापि तथयोरिति कृतं
स्पष्टार्थम् ॥११४॥

बाल०—यव । यवलेषु परेषु विष्णुचक्रस्य स्थाने सविष्णुचापं परवर्णरूपञ्च
भवतीति मन्यन्ते पूर्वचार्या इति शेषः । सविष्णुचाप यवला भवन्तीत्यर्थः । यंयम्यत
इति विष्णुजनाद्येकसर्वेश्वरादित्यनेन यड् धातोर्द्विर्वचनेमधोक्षजसन्नड् यड्जिवत्यनेन
द्विरुक्तिः । हरिवेणन्तानां जप जभ दह दंश भज्ञाच्चेति नरामाद्विष्णुचक्रम् । सँल्लुनातीति
संपर्वीं लूग्छेदने इत्यस्मात् तिप् क्र्यादेशपः श्ना इति श्ना, प्वादीनां वामनः शिवे
इति वामनः ॥११५॥

बाल०—द्विः । सूत्रे मात्रशब्दोपादानाद् वृत्तावपिशब्द उपन्यस्तः । तेन विष्णु-
पदान्तादविष्णुपदान्ताच्चेति लभ्यते ॥११६॥

बाल०—विष्णु । अविष्णुपदान्तात्त्रिविक्रमात् पर्वेणैव नित्यं स्यात्, मात्रग्रहणात् ।

११९. वामनात् डणनाः सर्वेश्वरे ।

वामनात् परा डणना विष्णु पदान्ताः सर्वेश्वरे परे द्विः स्युः । पर्यङ्ग-
अनन्तः, पर्यङ्गनन्तः । सुगण् अनन्तः, सुगण्णनन्तः । कुर्वन् अस्ति,
कुर्वन्नस्ति । वामनादन्यतस्तु न—भगवान् इह भगवानिह । उणादि-
तिडन्त सनन्तादयस्तु सूत्र निर्देशवलात् ।

१२०. विष्णुजने विष्णुजनो वा हरौविना ।

वामनात् परो विष्णुजनो विष्णुजने परे द्विर्वा स्यात् । हरौ तु
द्विन्भवतः । दद्युपेन्द्रस्य दद्युपेन्द्रस्य वा ।

अमृता०—११९. वामनादिति । पर्यङ्गिति—परिपूर्वात् अञ्चुगतौ पूजायाच्चेत्य-
स्मात् क्रिवप्, सतसङ्गान्तस्य हरः, चर्वगस्य कर्वगः । सुगणिति—सुपूर्वस्य गण संख्याने
चौरादिकस्य क्रिवन्तः । कुर्वन्निति—इकृत्करणे शत्रुप्रत्ययान्तः । करोत्यरामस्य उः,
अचश्वतुर्भजानुवन्धानाच्चेति नुम् सतसङ्गान्तस्य हरः । ननु तिडन्त उणादीत्यादौ
वामनात् परस्य णरामादेः कथं द्वित्वं नस्यात्तत्र सिद्धान्तमाह—सूत्रनिर्देशवलादिति ।
“अनित्यं सूत्रनिर्देशो” इत्येन सूचितमेव प्राक् । तन्निर्देशस्तु उणादेवहुलं, भूसनन्ताद्या-
धातव इत्यादौ वोध्यम् ।

अमृता०—१२०. विष्णुजनइति । दद्युपेन्द्रस्येति धरामस्य द्वित्वे पूर्वस्य “विष्णु-
दासो विष्णुपदान्त” इत्यादिना दरामः ।

यमुनाच्छायेति छायात्र कान्तिः । छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिविम्बमनातप इति
नानार्थवर्गः ॥११७॥

बाल०—आड् । आड्माडोरपि विष्णुपदान्तत्वाद् विष्णुपदान्तादित्येनेन विकल्पे
प्राप्ते नित्यतार्थमिदम् । डरामस्याप्रयोग इत्यस्मात् परं क्रियायोगे वक्ष्यत इति योज्यम् ।
माच्छददिति छिद्धानुद्धीकरणार्थः ॥११८॥

बाल०—वाम । विष्णुपदान्तस्था एव डणना द्विः स्युरिति स्वाभिप्राय व्यक्तार्थ
वृत्तौ विष्णुपदान्ता इत्युक्तम् । पर्यच्छतीति परिपर्वेऽञ्चुगतौ पूजायच्चेत्यस्य क्रिवन्तस्य
पर्यङ्गिति स्वन्तं रूपम् । सुगणयतीति सु पूर्वी गण संख्याने इत्यस्य चौरादिकस्य
सुगणित्यपि तथा । कुर्वन्निति इकृत्करणे इत्यस्य शत्रुन्तस्य रूपम् । वामनेति वामना-
दन्यस्मात् त्रिविक्रमात् परभूता डणना द्विन्स्युर्वामनोपादानादित्यर्थः । ननु उणादीत्यादिषु
वामनो विद्यत एव, तहि कथं डणना द्विन्स्युरित्यत्र समादधाति उणादीति उणादितिडन्त
सनन्तादयः प्रयोगः पुनर्द्विवचनयुक्ता न स्युरित्यर्थः । अन्यस्तस्तु न इत्यस्मात् न अन्त्रानु-
सङ्खनीयम् । द्वित्वाभावे साधकहेतुमाह सूत्रेति । अनित्यं सूत्रनिर्देशो इत्येन सूत्रनिर्देश-
वलादिति द्रष्टव्यम् ॥११९॥

बाल०—विष्णु । सुगमम् । हरौत्विति हराम-रमामाविति ज्ञेयम् ॥१२०॥

१२१. हरिमित्राद् विष्णुगणो, विष्णुगणाद्वरिमित्रं शौरितः
सात्वतः, सात्वताच्छौरि द्विर्वा सर्वेश्वरे इति वाच्यम् ।

यमुनलक्कारायते, दध्युपेन्द्रस्य, भगवांश्चादयति, सुवाक्षश्शौरिः ।
अत्रछोऽपि न मन्यते । पक्षेष्वर्ववत् ।

१२२. ररामात् सर्वेश्वरे तु हरिगोत्रं विना ।

ररामात् परो विष्णुजनो विष्णुजने परे द्विर्वा स्यात्, सर्वेश्वरे परे तु
हरिगोत्रं विना । कार्ष्ण्यं, कार्ष्ण्यं वा । हर्यासनं वा ।

१२३. हाच्चसर्वेश्वरतः परादिति वक्तव्यम् ।

अमृता०—१२१. हरीति । छोऽपि न मन्यन्त इति—प्राचीनानां मते अमृपरत्वा-
भावात् । शरामस्य अम् संज्ञत्वाभावस्तु दर्शित एव प्राक् । पक्षे पूर्ववत्—यथावत्
स्थितिरित्यर्थः । यमुनलक्कारायते इत्यादि ।

अमृता०—१२२. ररामादिति । विष्णुजनो विष्णुजने इत्यनुवर्त्तते । विष्णुजने परे
ररामादुत्तरस्य विष्णुजनस्य द्विर्वा स्यात् । सर्वेश्वरे परे तु हरिगोत्रनामानं विष्णुजनं
वर्जयित्वा अन्य विष्णुजनानां द्विर्वा स्यादिति सरलार्थः । कार्ष्ण्यमिति—“वण्दिद्वादेश्च
नृसिंह य इमनिश्चेति” कृष्णशब्दाद् नृसिंह यः । आदिसर्वेश्वरस्येति वृष्णीन्द्रः । एवं
दर्शन्यते अवर्क इत्यादि च ।

अमृता०—१२३. हाच्चेति । कार्य-परनिमिते अनुवर्त्तते । ब्रह्मेति—वृहि वृद्धौ
इत्यस्मादुणादि मनिप् । ह्लृते इति—ह्लृ अपह्लवे इस्यस्य अच्युत ते । अत्र हरामस्य

बाल०—हरि । सर्वेश्वरे परे हरिमित्रात् परो विष्णुगणो द्विर्वा स्यात्, विष्णुगणात्
परं हरिमित्रं द्विर्वा स्यात्, शौरितः परः सात्वतो द्विर्वा स्यात्, सात्वतात् परः शौरिद्विर्वा
स्यादिति वक्तव्यम् । अत्र छोपि न मन्यत इति ततः शश्छो वेत्यनेनेति शेषः । पक्षे
पूर्ववदिति यमुना लृकारायते यमुनलक्कारायते इत्यादिः ॥१२१॥

बाल०—ररा । ररामात् परो विष्णुजनो विष्णुजने परे द्विर्वा स्यात् सर्वेश्वरे परे
तु ररामात् परो विष्णुजनो द्विर्भवन् हरिगोत्रं विना स्यादिति भावः । अतएव सर्वेश्वरे
हर्यासनमिति विकल्पेन दर्शितम् । विष्णुजने कार्ष्ण्यमिति च किन्त्वदं हरिगोत्रस्यो-
दाहरणम् । वण्दि द्वादेश्च नृसिंह य इमनिश्च इत्यनेनात्र कृष्णशब्दात् नृसिंह यः ।
आदिसर्वेश्वरस्य वृष्णीन्द्रो नृसिंह इति वृष्णीन्द्रः ॥१२२॥

बाल०—हाच्च । सर्वेश्वरतः परात् परमृतात् हात् हरामाच्चोत्तरो विष्णुजनो द्विर्वा
स्यात् सर्वेश्वरे विष्णुजने चेति वाच्यम् । वृही उद्यम इत्यस्मान् मनिप् ब्रह्मेति । ह्लृते

सर्वेश्वरतः परात्त्वादुत्तरो विष्णुजनो द्विर्वा स्यात् व्रह्मा, व्रह्मा वा नेह-ह्लृते । सर्वेश्वरे त्वित्यादि किम्? परामर्शो वार्षभानव्याः अर्हति ।

१२४. हस्तु विष्णुजने च न ।

अर्हते । विष्णुजन इत्यादौ द्वित्वप्रकरणे सर्वत्र शाकल्यस्येति अद्वित्व-पक्षानुलेखस्तस्यां प्रमादः ।

१२५. विष्णुजनाद् विष्णुदासस्यादर्शनं सर्वर्गविष्णुदासे ।

विष्णुजनात् परस्य विष्णुदासस्यादर्शनं वा स्यात् सर्वर्गे विष्णुदासे परे ।

सर्वेश्वरतः परत्वाभावात् तदुत्तरस्य न द्वित्वम् । पूर्वसूत्रस्य प्रत्युदाहरणान्याह—सर्वेश्वरे-त्वित्यादि । इह वाक्येनैकेन हि हरिगोत्रव्याप्त्य प्रयोगोदर्शितः । वार्षभानव्या इति वृषभानोरपत्यं खीः वार्षभानवी श्रीराधा, तस्याः ।

अमृता०—१२४. हस्तिवति । ररामात् परो हरामस्तु विष्णुजने परेऽपि द्विर्वा स्यात् । सर्वेश्वरे परे द्विर्वा स्यादिति पूर्वसूत्रे “हरिगोत्रविने” त्यनेनैवोक्तम् । अर्हतीति—अर्ह पूजायाम् । विष्णुजन इति द्वित्वप्रकरणे—“सर्वत्र शाकल्यस्येति पाणिनीय सूत्रम् । तत्र द्वित्वं नेत्यनुवर्त्तते । शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन सर्वत्र द्वित्वंस्यादित्यर्थः । तत्र यद्यपि निषेधोऽनुवर्त्तते तथापि विकल्प एवाभिप्रायः । यथा—“विधिरपि योगद्वयेनोच्यते प्रतिषेधोऽपि । अत्र सामर्थ्यादि विकल्पो भविष्यति, अन्यथा विषेधरनवकाशः स्यादिति” काशिकाव्याख्यायां न्यासकारः । काशिका भाषावृत्त्यादौ—अर्कः व्रह्मा प्रभृत्यद्वित्व-पक्षोल्लेखो दृश्यते, प्रक्रियाकौमुद्यां तदनुलेखात् तस्याः प्रमादोऽनवधानता ।

अमृता०—१२५. विष्णुजनादिति । मण्डूकप्लुत्या वेत्यनुवर्त्तते । ननु ‘शेचान्तोवेति’ सूत्रात्परमेवेदं विकल्पलक्षणं कथं नकृतमितिशङ्काभासं परिहरति—अस्येत्यादिना । नित्य-

इति ह्लृधातुरपनयनार्थः । अत्र दूरामस्य सर्वेश्वरतः परत्वाभावस्तेन तत्परो विष्णुजनो द्विर्वा स्यात् इत्यवधेयम् । सर्वेश्वरेत्वित्यादि किं किमर्थं सर्वेश्वरे तु हरिगोत्रं द्विर्वा स्यात् । एकेन वाक्येन उदाहरणत्रयमाह परामर्शेत्यादि । वार्षभानव्या राधायाः परामर्शोऽर्हति योग्यो भवतीत्यर्थः ॥१२३॥

बाल०—हस्तु । ररामात् परो हरामस्तु विष्णुजने च परे द्विर्वा स्यात् । सर्वेश्वरे द्विर्वा स्यादिति पूर्वणैवोक्तम् । अर्हते इति अर्ह पूजायाम् । मतान्तरं दूषयति विष्णवति विष्णुजने विष्णुजनो वा ह-रौ विनेत्यादौ द्वित्वप्रकरणे सर्वत्र शाकल्यस्य द्वित्वंस्यादिति या वक्तिः तथा सर्वत्रशाकल्यस्येति पदद्वये नाद्वित्वपक्षानुलेखोऽद्वित्वस्योल्लेखाभावः कृत इति तस्यां प्रक्रियाकौमुद्यां प्रमादे यतस्तन्मतेऽपि यथायोग्यमद्वित्वपक्षोल्लेखोऽस्ति । प्रभादोऽनवधानतेत्यमरः ॥१२४॥

भगवाऽच्छूरः भगवाऽच्छूरो वा । अस्य पूर्वत्राकरणं विकल्पेनावश्यक-
त्वाभावात् ।

१२६. अव्यक्तानुकरणशब्दानामदभागस्य हर इतौ हरिगदा
निषेधश्च ।

पटतइति, पटिति, घटतइति, घटिति ।

२२७. नैकसर्वेश्वरत्वे ।

सत् इति सदिति ।

१२८. न द्वित्रिरुक्तावन्त्यस्यतुवा ।

विद्यायकसूत्रैरेव कार्यसिद्धेविकल्पविधीनां पश्चादुक्तिस्तु न दोषायेतिभावः । दशितञ्चेदं
प्राक्—“एतावतैव सिद्धिः, द्वित्व-विकल्पेन तु मतान्तराणि वक्ष्यन्त” इत्यादिना ।

अमृता०—१२६. अव्यक्तेति । अव्यक्ताश्च तेऽनुकरणाश्च अव्यक्तानुकरणाः तेच
शब्दाश्चेति अव्यक्तानुकरणशब्दास्तेषां शेषस्थस्य ‘अत्’ इत्यंशस्य हरोभवति इति शब्दे
परे । विष्णुदास इत्यनेन प्राप्तहरिगदायाश्च निषेधो भवति । अनुकरणशब्दास्तावद्-
द्विविधाः, व्यक्ता अव्यक्ताश्च । व्यक्ता वाचा प्रकाश योग्याः, अव्यक्तास्तु वाचा न
प्रकाशार्हाः । तेच द्रव्याणां भङ्ग-पतनादिशब्दानुकरणाज्ञेयाः । इतौ किम्?—पटदत्र ।
कथ—“घटदितिगम्भीरम्बुदैर्निषेधमिति?” दरामान्तमेतदनुकरणं ज्ञेयम् ।

अमृता०—१२७. नैकेति । एकसर्वेश्वरत्वे सति अव्यक्तानुकरणशब्दानामितौ परे
अदभागस्य हरो हरिगदानिषेधश्च न भवति । अत्र सदित्येक सर्वेश्वरत्वान्न अदभागस्य
हरो न वा हरिगदानिषेधः ।

बाल०—विष्णु । ननु शे चान्तो वेति लक्षणात् परमिदं सूत्रं कस्मात् कृतम् ।
तस्मात् परत्रास्मिन् कृते सति भगवाऽच्छूर इत्युदाहरणमपि तत्रैव दातुं शक्यं स्यादिति
चेत्तत्राह अस्येति इदं सूत्रमुदाहरणश्च तत्र यदि न कृतं, तर्हि का क्षतिरस्य विकल्पेनावश्य-
कत्वाभावात् ॥१२५॥

बाल०—अव्य । अनुक्रियते यैस्तेऽनुकरणा यद्रूपास्तन्मात्रबोधकाः । शब्दते
प्रकाशयते यैस्ते शब्दाः । आकाशस्य गुणः शब्दो वर्ण-ध्वन्यात्मकद्विधेत्यनेनाकाशस्य
प्रकाशत्वात् तेऽत्र वर्णात्मका एव गृह्णन्ते । अव्यक्ताश्च ते अनुकरणाश्चेति अव्यक्तानुकरणाः
अव्यक्तानुकरणाश्च ते शब्दाश्चेति अव्यक्तानुकरणशब्दाः । तेषामिति शब्दे परे अद्भागम्य
हरोभवति विष्णुपदान्तत्वात् प्राप्तहरिगदाया निषेधश्च ॥१२६॥

बाल०—नैक । एकसर्वेश्वरत्वे सति अव्यक्तानुकरणशब्दानामितौ परे अद्भागस्य
हरो न भवति हरिगदा निषेधश्च । यथा सद्रिति एवं चडिति च ॥१२७॥

पटत् पटदिति पटत्पटेति । कथं बडभी बलभी पर्यङ्कः पर्यङ्कः, रघुः
लघुः, कपिरिका कपिलिका इत्यादि ? डलयो रलयोश्च प्राय एकत्व-
श्रवणात् ।

१२८. सरामेटनाभ्यां तुग्वेति वक्तव्यम् ।

षट् साधवः षट् साधवः, भगवान् साधुः भगवान् साधुः ।

अमृता०—१२८, नद्विरिति । द्विखिरुक्तौ सत्यामव्यक्तानुकरणशब्दानामिति शब्दे
परे अद्भागस्य हरो हरिगदानिषेधश्च न भवति । अन्त्यस्य तरामस्य तु हरो वा स्यात् ।
पटत् पटेतीत्यत्र अन्त्यतरामस्य हरे सति अद्वयमिद्ये इत्यनेन एरामः । निषेधपक्षे—पटत्
पटदिति । द्वौ नकारौ प्रकृतार्थं वोधयत इतिन्यायेन—हरिगदानिषेधो नस्यादिति हरिगदा
स्यादेवेयत्थः । अत्र “आभीक्ष्य वीप्सयोरिति द्विरुक्तिर्वक्ष्यते ।

अमृता०—१२८. सराम इति । सरामे परे सति टराम-नरामाभ्यामुत्तरे तुक् वा
भवति । उकावितौ, तरामः शिष्यते । ननु षट् साधव इत्यत्र—“षातपरस्य टवर्ग्युक्तस्येति
तरामस्य टरामः कथं न स्यात् ? तदुच्यते,—इहविष्णुपदान्तस्थिताभ्यामेव टनाभ्यां तुग्
वा स्यादित्यवगन्तव्यम् । तेन तत्र “नतुविष्णुपदान्तादटवर्गादिति” निषेधान्न हि टराम
प्राप्तिः । भगवानन्तसाधुरित्यत्रापि—“तथयोः सरामः” इति न प्रवर्तते, तुगागमस्यासिद्ध-
त्वात्, “नत्से” इति प्रतिषेधाच्च । इह न सात्वतपरे सरामे इति वक्तव्यम्,—भगवान्
स्थाता ।

बाल०—नद्विः । द्विखिरुक्तौ सत्यामव्यक्तानुकरणशब्दानामितौ परे अद्वागस्य हरो
न भवति अन्त्यस्य तरामस्य तु हरो वा भवति । पटत् पटेति वेत्यत्र तरामे हरे सति अद्वय
इत्यनेन अरामः । ननु बडभीत्यादिः कथं डराममध्यो लराममध्यश्च तथा रराममध्यो
लराममध्यश्च वेति पूर्वेष्के सिद्धान्तमाह डलयोरिति । एकत्र श्रवणादिति एकत्वेन
एकरूपत्वेन श्रवणं एकत्वश्रवणं तस्मात् । प्रायो बाहुल्यं यथा स्यात्तथा डलयोः रलयोश्च
एकत्र श्रवणाद्वैतोः डरामस्य लरामो ररामस्य च लरामः सिद्ध एवेति भावः । कपिलि-
केत्यादीत्यत्रादिशब्दोपादानं गोहिनी-लोहिणीत्यादीनां संग्रहार्थम् ॥१२८॥

बाल०—सरामे परे सति टनाभ्यामुत्तरे तुग्वा भवतीति वाच्यम् । ननु षट् साधव
इत्यत्र षातपरस्य टवर्ग्युक्तस्य च तवर्गस्येति वक्षमाणेन तरामस्य टरामः कथं न स्यात् ?
सत्यं यद्यत्र वक्षमाणेन त इति टः स्यात् तदा टरामद्वयरूपं विष्णुजने विष्णुजनो वेत्यनेन
द्वित्वे कृतेषि सिद्धं स्यात् । तस्मादत्र सूत्रकरणात् तरामस्यैव स्थितिरिति । नन्वेतदस्तु
भगवानत् साधुरित्यत्र तथयोः सराम इत्यनेन नरामस्य विष्णेचक्रपूर्वो विष्णेचापो पर्वो
वा सरामः कस्मान्न स्यात् । उच्यते किदागमस्य पूर्वसम्बन्धित्वात् नरामस्य विष्णुपदान्त-
स्थितत्वाभावस्तेन विष्णुचक्रादिपूर्वः सरामो न स्यात् किंवा नते स इति प्रतिषेधेन ॥१२८॥

१३०. शौरौ णडाभ्यां टकौ वेति वक्तव्यम् ।

सुगण् शङ्करः सुगण्ट् शङ्करः । प्राङ् स्वभूः प्राङ् स्वभूः ।

॥ इतिविष्णुजनसन्धिः ॥

अमृता०—१३०. शौरौ विति । शौरौ परे सति णराम-ङरामाभ्यामुत्तरे यथाक्रमं टराम-करामी वा भवतः । गणयतीति गण् प्रमयः, सुन्दरो गण् यस्य स सुगण् शङ्करः । प्राञ्चतीति प्राङ् । स्वेनैवभूयत इति स्वभूविष्णुः । सर्वत्र किवप् । एवंगण्टपण्डः सुगण्ट् सर्वः । तथा प्राङ् षष्ठः, प्राङ् षेते, प्राङ् षेते इत्यपि । किञ्चात्र “चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादे” रिति वार्त्तिकसूत्रात् हरिकमलानां हरिखड़गाश्च वा स्युः । सुगण्टशङ्करः, प्राङ् ख् स्वभूः । पक्षे हरिकमलन्तु दर्शितमेव मूले ।

॥ इति विष्णुजन-सन्धि व्याख्या समाप्ता॥

बाल०—शौरौ । शौरौ परे नडाभ्यामुत्तरे यथाक्रमं टकौ वा भवत इति वचनीयम् । सुगणयतीति सुगणिति प्राञ्चतीति प्राङ्दिति च किववन्तस्य रूपम् । स्वेनैव भूयते इति भावे किवप् स्वभूविष्णुः ॥१३०॥

॥ विष्णुजनसन्धि समापयति इतीति ॥

॥ इत्यैवं विष्णुजनसन्धिर्दर्शितः ॥



अथ विष्णुसर्गसन्धिः

१३१. विष्णुसर्गो जिह्वामूलीयः कखयोर्वा ।

विष्णुसर्गः कखयोः परयो जिह्वामूलीयो वा स्यात् । स च वज्राकृति-
लेखो हि जिह्वामूलभवो वर्णविशेषः । अस्य विष्णुजनवत् परोदृढर्वगमनं
लोकात् । एवमुपधमानीयस्य च । कः कृष्णः क ऽकृष्णः । कृष्णः खेलति
कृष्ण ऽखेलति ।

१३२. पफयोरुपदमानीयः ।

विष्णुसर्गः पफयोः परयोरुपदमानीयो वा स्यात् । स च गजकुम्भाकृति-
लेखो हि ओष्ठभवो वर्णविशेषः । कृष्णः परमः, कृष्ण ऽपरमः । कृष्णः
फलं, कृष्ण ऽफलम् ।

अमृता०—१३१. विष्णुसर्ग इति । जिह्वामूलीयस्य लेखनप्रणालीमुतपत्तिस्थानच्च
निरूपयति—सचेत्यादिना । वज्रस्याकृतिरिव लेखो यस्य स वज्राकृतिलेखः । केचित्तु
दमरु-रूपत्वमस्य मन्यन्ते । फलच्चोभयत्र सममेव । विष्णुसर्गमवत्वादस्यापि विष्णुसर्ग
वत् सर्वेश्वरत्वं विष्णुजनत्वच्च सम्भवतीति विष्णुजनत्व-स्वीकारेण तदवत् परवर्णोदृढर्वगमन-
मस्य प्रतिपादयति—अस्येति । एवमुपधमानीयस्य च परोदृढर्वगमनं लोकादिति ज्ञेयम् ।

अमृता०—१३२. पफयोरिति । उप समीपे धमायतेऽनेनेति उपधमान ओष्ठ स्तत्र भव
उपधमानीयः । गजस्य कुम्भयोर्मस्तकस्य कुम्भाकार-पिण्डयोरिवाकृतिर्यस्य स गज-
कुम्भाकृतिः, स चासौ लेखश्चेति तथा; लौकिकलेखन-व्यवहार-विशेष इत्यर्थः ।

अथेति अथानन्तरं विष्णुसर्गसन्धिर्दर्शयते

बाल०—विष्णु । लेखनप्रकारमुद्वारणप्रकारच्च निरूपयति—स चेति । वज्रस्या-
कृतिरिव लेखो लिखनं यस्येति विग्रहः । जिह्वामूलीय इत्यस्य जिह्वामूलभव इति
वाक्यप्रदर्शनम् । विष्णुसर्गमवत्वेन जिह्वामूलीयस्यापि विष्णुसर्गवत् सर्वेश्वरत्वं विष्णु-
जनत्वच्च सम्भवतीति विष्णुजनत्वमनेन परोदृढर्वगमनं प्रतिपादयति—अस्येति । अस्य
जिह्वामूलीयस्य लोकादिति लौकिकव्यवहारादित्यर्थः । अतिदिशति एवमिति । एव
प्रकारेण उपधमानीयस्य च परोदृढर्वगमनं ज्ञेयम् ॥१३१॥

बाल०—प-फ । उप समीपे धमायतेऽनेनेत्युपधमान ओष्ठः । तस्मिन् भव उपधमानीय
इति । पूर्ववदस्यापि लेखनप्रकारमुद्वारणप्रकारच्चाह स चेति स इति उपधमानीयः । गजेति
गजो हस्ती तस्य कुम्भयोः शिरसः कुम्भाकारपिण्डयोरोराकृतिरिव लेखो लिखनं यस्येति
विग्रहः । कुम्भौ तु पिण्डौ शिरस इत्यमरः । औष्ठय इति भवार्थ-नृसिंहयान्तम् ॥१३२॥

१३३. न शौरिपरेषु तेषु ।

शौरिपरेषु तेषु कख-पकेषुपरेषु विष्णुसर्गस्य स्थाने जिह्वामूलीयादिर्न स्यात् । कृष्णः क्षीरस्यति, कृष्णः प्रसाति । अत्र समासकार्ये षसौ च वक्ष्यते । यथा—निष्कृष्णः रक्षस्पाश इत्यादि ।

१३४. च्छयोः शरामः ।

विष्णुसर्गः च्छयोः परयोः शरामः स्यात् । कृष्णः चरति, कृष्णश्चरति । कृष्णः छादयति, कृष्णश्छादयति ।

१३५. टठयोः षरामः ।

विष्णुसर्गः टठयोः परयोः षरामः स्यात् । कृष्णः टीकते, कृष्णष्टीकते । कःठरामः, कष्ठरामः ।

१३६. तथयोः सरामः ।

अमृता०—१३३. नशीरीति । शोरिः परो येभ्यस्तेषु कखपकेषु परेषु जिह्वामूलीयादि न स्यात् । आदिना उपधमानीयस्य ग्रहणम् । क्षीरस्यतीति—लालसया क्षीरमिच्छतीति वाक्ये क्यन्नन्तो निपातः । प्रसातीति—प्रसाधातुर्भक्षणे अदादिः । अत्रेति—जिह्वामूलीयो-पद्मानीयाभावपक्षे विष्णुसर्ग एवेत्यर्थः । षसौ च वक्ष्यते इति—निर्दुर्बंहिः प्रादुराविश्व तुरामित्यनेन निष्कृष्ण इतिपत्वम् । तथा ईश्वरारामाभ्यां पाशकल्पकेष्विति रक्षस्पाश इत्यत्र सत्वम् । निष्कृष्ण इति—निष्कान्तः कृष्णादिति विग्रहे निरादयः पञ्चम्या इत्यनेन मध्य पदाप्रयोगी कृष्णपुरुषः । रक्षस्पाश इति—‘गह्ये पाश’ इत्यनेन पाश प्रत्ययस्तद्वितः ।

अमृता०—१३४. च्छयोरिति सूत्र युग्मं सुगमम् ।

अमृता०—१३६. तथयोरिति । थूतकरोतीति—थूदिति अव्यक्तानुकरणमव्ययम् ।

बाल०—न शौ । शौरिः परो येभ्यस्तेषु क-ख-प-केषु विष्णुसर्गस्य स्थाने जिह्वा-मूलीयादिर्न स्यादिति यथासम्भवत्वात् कखयो-जिह्वामूलीयो न स्यात् पक्षयोरुपधमानीयो न स्यादित्यर्थः । क्षीरस्यतीति लालसायां क्षीरशब्दस्य क्षीरस्येति क्यन्नन्तनिपातात् तिप-क्षीरं लालसयेच्छतीत्यर्थः । प्रसा भक्षणेऽदादिरित्यस्य प्रसातीति । अत्रेति क-ख-प-केषु विष्णुसर्गस्य विष्णुसर्गे वा समासकार्ये षसौ च वक्ष्यते इति ‘विष्णुसर्गस्य स ईश्वरात् षः क-ख-प-केषु स च स्थानिवदि’ त्यनेनेति शेषः । निष्कृष्ण इति निष्कान्तः कृष्णादिति ‘निरादयः पञ्चम्या’ इयनेन मध्यपदाप्रयोगी कृष्णपुरुषः । रक्षस्पाश इति निन्द्य-रक्ष इति गह्ये पाश इति पाशप्रत्ययस्तद्वितः ॥१३३॥

बाल०—च छ । सुगमम् ॥१३४॥

बाल०—ट ठ । सुगमम् ॥१३५॥

विष्णुसर्गः तथयोः परयोः सरामः स्यात् । कृष्णः तरति कृष्णस्तरति ।
कृष्णः थूतकरोति कृष्णस्थूतकरोति ।

१३७. न तसे ।

कः तसरः ।

१३८. शौरिषु शौरिर्वा ।

विष्णुसर्गः शौरिषु परेषु परो यो वर्णः स एव वा स्यात् । कृष्णःशरणं
कृष्णशशरणं वा । हरेः षण्डः हरेष्णण्डो वा । हरेः सुरभिः हरेस्
सुरभिर्वा ।

१३९. सात्वत-परत्वे लोप्यश्च ।

सात्वतः परो येष्यस्तेषु शौरिषु परेषु विष्णुसर्गः पक्षे लोप्यश्च स्यात् ।
हरेःस्थलं हरेस्थलं हरेस्थलं वा ।

१४०. आदराम-गोपालयोर्घनित्यम् ।

अरामात् परो विष्णुसर्ग उरामः स्यात् अराम-गोपालयोः परयोः ।

अमृता०—१३७. नतसे इति । तसे परे विष्णुसर्गः सरामो न स्यात् । अत्र च 'अम्'
परत्वाभावान्न विष्णुसर्गस्य सराम इति भावः । तसरः खड्गादिमुष्टिः स्यादित्यमरः ।

अमृता०—१३८. शौरिष्विति । शरणं रक्षकः । षण्डो वृषभः । षण्डो गोपति-
रिःट्चर इत्यमरः । सुरभिः स्त्रीगौः । सुरभिर्गवि च ख्लियामिति चामरः ।

अमृता०—१३९. सात्वतेति । लोप्यो लोपयोग्यो भवतीत्यर्थः । चकारात् शौरि-
विष्णुसर्गयोश्च स्थितिः प्रागुक्तेन । हरे स्थलं द्वारका मयुरा गोकुलञ्च ।

अमृता०—१४०. आदिति । अशब्दस्य पञ्चम्यांरूपम् आत् । कृष्णोऽत्रेति—विष्णु
सर्गस्योरामे क्रते 'उद्ययेओ' इत्यनेन ओरामः । तत 'एओभ्यामस्य हर' इत्यरामहरः ।

बाल०—तथ । सुगमम् । थूतकरोतीत्यत्र थूदिति कर्मपदमव्यक्तानु-
करणमव्ययम् ॥१३६॥

बाल०—नतसे । तसेपरे विष्णुसर्गः सरामो न स्यात् । तसरः खड्गादि मुष्टि
स्यात् ॥१३७॥

बाल०—शौरि । शौरिषु परेषु विष्णुसर्गः परवर्णनुरूपः शौरि वा स्यादित्यर्थप्रति-
पादकः परो यो वर्णः स एव स्यादिति । शरणमिति रक्षितेत्यर्थः । शरणं गृहरक्षित्रोरिति
नानार्थवर्गः । षण्डो वृषभेदः षण्डो गोपति विट्चर इत्यमरः । सुरभी स्त्री गौः सुरभिर्गवि
च ख्लियामिति नानार्थवर्गः ॥१३८॥

बाल०—सात्व । सात्वतः परो येष्यस्तेषु शौरिषु परेष्विति फलितार्थकथनम् ।
शौरिणां सात्वतपरत्वे सतीत्यक्षरार्थः ॥१३९॥

कृष्णः अत्र, कृष्णोऽत्र । कृष्णः गच्छति, कृष्णोगच्छति । अराम-
निर्देशान्महापुरुषे तु न । आगच्छ तीर्थश्रवाङ् अत्र । विष्णुसर्गलोपो
वक्ष्यते ।

१४१. अद्वयभोभगो अघोभ्यो लोप्यः, सर्वेश्वरे तु यश्च, न च
लोपे सन्धिः ।

अथा इतिवर्णद्वयात् भो भगो अघो शब्देभ्यश्च परो विष्णुसर्गो लोप्यः
स्यात् सर्वेश्वर-गोपालयोः परयोः । सर्वेश्वरे तु पक्षे यरामश्च स्यात् ।
तस्मिन् लोपे सति पुनःसन्धिर्न स्यात् । कृष्णः इह, कृष्ण इह, कृष्णयिह ।
कृष्णाः अत्र, कृष्णा अत्र, कृष्णायत्र । भोः अनन्त, भो अनन्त, भोयनन्त ।
अघोः अवैष्णव, अघो अवैष्णव, अघोयवैष्णव । अत्राद्वयात् पर ईषतस्पर्शो

तीर्थश्वस्शब्दस्य बुद्धे हेतीर्थश्रवः ! गुरोरनृतोऽनन्तस्येति महापुरुषः । महापुरुषे वामनस्य
त्रिविक्रमतया व्यवहारात् अरामरूपं पूर्वनिमित्तमेव नास्तीति विष्णुसर्गस्योरामो नस्या-
दित्यर्थः । किन्तु आरामात्स्य लोपो भवतीति वक्ष्यतेऽग्रिमसूत्रेण ।

अमृतां—१४१. अद्वयेति । वृत्तौ स्पटीकृतम् । भगो-अघोम्य इत्यसान्धः
सौत्रत्वात् । “भगवतु अघवतु भवतूनां भगोस् अघोस् भोस् इति निपाता वा बुद्धे” इत्यनेन
विहितानां भोस् प्रमुखानां सरामरहिततयात्र निर्देशः कृतः । तेनाव्ययस्यापि भोशब्दस्य
विष्णुसर्गो लोप्यः स्यादिति ज्ञापितम् । वृत्तौ यत् “शब्देभ्यश्च” इत्यनेन शब्दोल्लेखः कृतः
स तु न प्रातिपदिकार्थं, बुद्धे निपातनेन तेषां विष्णुपदत्वात् । किन्तु श्रवणग्राह्यत्वं शब्दत्वं
मिति व्यापकार्थं एवात्र “शब्द”शब्दः प्रयुक्तः । तेन प्रकृति-प्रत्यय-विष्णु-विरच्चि-निपातादयः
सर्वं एव शब्दाभिधा भवन्ति । प्रातिपदिकार्थं शब्दस्य व्यवहारस्तु शब्दशास्त्रेषु संद्वोच-
वृत्त्येति वोध्यम् । कृष्णा इति वहृत्वं खलु रासलीलां, युगपदवहुकुमारीविवाहं

बाल०—आत । आदिति अशब्दादात् ‘कृष्णात् उसेरादि’ति आत । कृष्णोऽत्रैति
उरामे कृते ‘उद्ये ओ’ इति ओ रामः । ‘ए-ओम्यामस्य हरो विष्णुपदान्त’ इत्यरामहरः ।
अरामेति सूत्रेरामनिर्देशान्महापुरुषे सति विष्णुसर्ग उरामो न तु स्यात् । तीर्थश्रवःशब्दः
सान्तः । गुहरनृतोऽनन्तस्यायेकैकस्य प्राचामि’त्यनेन महापुरुषः । अत्र वामनमपि
त्रिविक्रम इत्यनेन त्रिविक्रमलिखनोद्वारणे । प्रसङ्गात् प्राप्तविष्णुसर्गहरसूत्रस्य भूमिकामाह
अत्रेति अत्र अरामे वक्ष्यते इति अव्यवहितेनेति शेषः ॥ १४० ॥

बाल०—अद्व । स्पष्टयितुं स्वयमेव वृत्तिमाह अ-आ इत्यादि । ‘भगवतु-अघवतुभवतूनां
भगोस् अघोस् भोस् इति निपाता वा बुद्धे’ इत्यनेन विहितानां भोसादीनां सरामरहितत्वेनात्र
निर्देशः कृतः । अव्ययस्यापि भोःशब्दस्य सरामविहितत्वेन यद्भ्रू इति भवति. ततः परोऽपि
विष्णुसर्गो लोप्यः स्यादिति ज्ञापनार्थः । सर्वेश्वरे तु यश्चेत्युक्ते सर्वेश्वरेऽन्यस्मिश्च परे

ईषत्स्पर्शि तरश्च यरामो ज्ञेयः । ओरामात् परस्त्वीषत्स्पर्शितर एव ।
गोपाले न यरामः । कृष्णागच्छन्ति । भोगोविन्द । भगो गोविन्द । अघो
हरिविमुख । आदराम-गोपालयोरिति विधानानेह-कृष्णोऽत्र, कृष्णो-
गच्छति । सः एषः, सएषः । सैष इति पादपूरणे । सैष दाशरथी रामः
सैष राजा युधिष्ठिरः । सैष कर्णो महात्यागी सैष भीमो महाबलः ।

१४२. एष स परोविष्णुजने ।

एतच्छब्दस्य एष इत्यस्मात् तच्छब्दस्य स इत्यस्माच्च परो विष्णुसर्गो
लोप्यः स्याद् विष्णुजने परे । एषः कृष्ण, एषकृष्ण । सः रामः, सरामः ।

वाभिप्रयुक्तम् इह अरामादुत्तरस्य विष्णुसर्गस्य यो लोपः स तु अरामभिन्नसर्वेश्वरे परे
सत्येवेति ज्ञेयः, पूर्वसूत्रेण अरामे परे विष्णुसर्गस्य उरामविधानरूपविशेषावगमात् । तदेव
दर्शयति—अरामगोपालयोरित्यादिना । विष्णुसर्गजात-यरामस्योच्चारणं निरूपयति—
अत्रेति । गोपालेन यराम इति सर्वेश्वरे परे एव तद्विधानादितिभावः । पादपूरण इति—
“न च लोपे सन्धि” रित्यनेन विष्णुसर्गे लोपे सति पुनः सन्धेरभावाद् सैष इत्यत्र तु सन्धिः
पादपूरणार्थं एव । तच्च समर्थयते प्राचां प्रयोगेण—सैष इत्यादिना । स प्रसिद्धो दाशरथिः
दशरथस्यापत्यं पुमान् राम एष तव प्रत्यक्षमित्याद्यर्थो ज्ञेयः । दाशरथी राम इत्यत्र
त्रिविक्रमो वक्ष्यते । ईद्धशः प्रयोगश्चार्षप्रयोगत्वेन मन्तव्यः ।

अमृतात्—१४२. एषेति । द्वन्द्वात् परः पूर्वो वा श्रूयमाणःशब्दः प्रत्येकमभिसम्बृद्धयत
इति शासनेन पर इत्यस्य एष स इत्युभाभ्यामन्वयः । तथैव वृत्तौ विवृतम्—एष इत्यस्मात्
स इत्यस्माच्च परो विष्णुसर्गो लोप्य इति । क्वचिद् वा इत्येके । सो वा भवेत्, एषो
हनूमानिति सुपद्मकारः ।

विष्णुसर्गो लोप्यो भवतीत्यायातम्, अतः पूर्वसूत्राद् गोपालश्चानुवत्तंत एव अतएवोक्तं
सर्वेश्वर-गोपालयोरिति । किञ्च । आदराम-गोपालयोरित्यत्रारामस्य परनिमित्तत्वेन
दर्शितत्वाद् अरामादरामं परनिमित्तं विना सर्वेभ्यः सर्वेश्वरोऽत्र परनिमित्तं ज्ञेयम् ।
भो इति भगवन्नित्यर्थः । अनन्तेति हे अनन्तेत्यर्थः । एवमव्यत्येऽपि भो अनन्तेत्यादिः ।
भगो इति हे भगवन्नित्यर्थः । अघो इति हे अघवन् हे पापिन्नित्यर्थः । विष्णुसर्गीय-
यरामस्य उच्चारणं निरूपयति—अत्रेति । गोपाल इति नेदं लक्षणं किन्तुसर्वेश्वरे तु यश्चेति ।
यदुक्तं तदेव विवृतम् । आदिति इहस्थले विष्णुसर्गो लोप्यो न स्यात् उरामस्तु
स्यादेव ॥१४२॥

बाल०—सैष । पादपूरणे साध्ये सैष इति भवति । विष्णुसर्गलोपेऽप्यत्र सन्धिनिषेधो
न भवतीति भावः । दाशरथी राम इत्यादौ कृतेऽपि अर्थसङ्गतिभवेदेवेति सैषः पाद-
पूरणार्थः । कश्चित् कमपि परिचायति स प्रसिद्ध एष दाशरथी राम एव सर्वत्र
योज्यम् ॥१४२॥

१४३. न तु नज्समासाकप्रत्यययोः ।

अनेषः कृष्णः । असो रामः । एषकः कृष्णः । सको रामः । स इत्यस्य
साहचर्यात् एषणमेष इत्यस्मान्न स्यात् । एषो भवति ।

१४४. र ईश्वरात् सर्वेश्वर-गोपालयोः ।

ईश्वरात् परो विष्णुसर्गो ररामः स्यात् सर्वेश्वर-गोपालयोः परयोः ।
हरेः इदं हरेरिदं । हरिः गच्छति, हरिर्गच्छति ।

अमृतात्—१४३. नत्विति । न त्र समासे अक्रप्रत्यये च विषये एषपरः सपरश्च
विष्णुसर्गे लोप्यो न स्यात् किन्तु यथाप्राप्तं कार्यं स्यादित्यर्थः । एकदेशविकृतमनन्यवदिति
न्यायेन विष्णुसर्गस्य लोपे प्राप्ते तद्वाधनार्थः प्रतिपेदोऽयम् । लाक्षणिक प्रतिपदोक्तयोः
प्रतिपदोक्तस्यैवग्रहणमिति हि निषेधे मर्म । यद्यपि वृत्तै—एतच्छब्दस्य एष इत्युक्त्या
एषणमेष इति निराकृतमेव तथापि छावाणां बुद्धिं वैचित्र्याय प्रकारान्तरसिद्धान्तमिति
योजयति— स इत्यस्य साहचर्यादिति । अत्र एष इति इषु इच्छायां धातोभवि घण्नतः ।
एषणमिति तु भावत्वं वोधनाय न्यस्तम् । एषो भवतीति—आदरामगोपालयोरुनित्यमिति
उः; तत उद्घये ओः । तच्छब्दस्येति किम् ? सो वर्णः; सरामो वर्ण इत्यर्थः । किञ्च तच्छब्द-
ग्रहणेन—शोतनकरणे, षोडन्तकर्मणि इत्येताभ्यां कृदन्तक-प्रत्यय-निष्पन्नस्य स इत्यस्य च
निराकृतिर्जेया । ननु न त्र समासस्य समासप्रकरणे तथा क्रप्रत्ययस्य च तद्वितप्रकरणे
वक्ष्यमाणत्वादसिद्धरूपं न त्याज्यमिति प्रतिज्ञायास्त्वत्र व्यभिचार इति चेत् ? न, विष्णु-
सर्गीय-सन्धिकार्यं तत्त्वं समासतद्वितकार्यं नापेक्षते किन्तु तत्रत्य पदसाविध्यमात्रमिति
न दोषः गवीशादेः सन्धिस्तु साक्षात् समासमपेक्ष्य सिद्ध्यतीति सन्धिप्रकरणे तेषां सन्धि-
प्रदर्शने सति चार्द्वाङ्गसिद्धः प्रतिज्ञाभाङ्गापत्तिः स्यादिति समासादावेव तानि साध्यिष्यन्ते
इति हृदयम् ।

इति हृदयम् ।
 अमृता०—१४४. र ईश्वरादिति । यद्यपि मण्डूकप्लुत्या परनिमित्तमनुवर्त्तत एव
 तथापि च तदुक्तिः स्पष्टतार्थाज्ञेया । ईश्वरादिति किम्-कृष्णोऽत्र । कृष्णाऽत्र । सर्वैश्वरेत्यादि
 किम्-हरिः कीडति ।

ब्राह्म—एष । एष च स च इत्येताभ्यां पर एष-सपर इति । भवति हि व्याख्या-
नतो विशेषलाभ इति शिष्टाचारात् एतच्छब्दस्य एष इत्यस्मादिति तच्छब्दस्य स इत्यस्मा-
दिति च व्याख्यातम् । व्याख्यानमुपदेशपरस्पराधिगतार्थविवेचनमिति ॥ १४३ ॥

दिति च व्याख्यातम् । व्याख्यानमुपदेशपरस्पराधिगताथविवरनामात् ॥ १४३ ॥

बाल०—न तु । न न्रसमासाकप्रत्यययोः सतो एष स परो विष्णुसर्गो लोप्यो न
स्यात् । एकदेशविकृतमन्यवदिति न्यायेन प्राप्तेः प्रतिषेधोऽयम् । न न्रसमासः समासपादे
कृपायामित्यादिना तद्वितेऽकप्रत्ययश्च वक्ष्यते । व्याख्यानतो विषेषलाभो भवतीति हृदि निधाय
एतच्छब्दस्येति तच्छब्दस्येति च यदुक्तं तत्रापरितुष्यन् सिद्धान्तमाह स इत्यस्येति ।
अनियतधर्मिणां नियतधर्मिणा सह चरितत्वं साहचर्यत्वं तस्मात् एष इत्यनेन साकं स इत्यस्य
साहचयांद्वेतोः इषु इच्छायामित्यस्य एषेणमिती वाक्येन एष इत्यस्माद्भावघणन्ता-

१४५. अनीश्वरादपि ररामजः ।

स एव विष्णुसर्गो यदि ररामजातस्तदा इश्वरादनीश्वरादपि च परो
ररामः स्यात् सर्वेश्वर-गोपालयोः परयोः । प्रातः अत्र, प्रातरत्र । गीः
मुकुन्दस्य, गीर्मुकुन्दस्य । भ्रातः व्रजे, भ्रातर्वर्जे । भ्रातः गोविन्दं पश्य,
भ्रातर्गीविन्दं पश्य ।

१४६. अहो विष्णुसर्गस्य रो रात्रि-रूप-रथान्तरादन्येषु ।

रात्रि-रूप-रथान्तरादन्येषु परेषु अहो विष्णुसर्गस्य स्थाने रो भवति ।
अहः अहः, अहरहः । अहः गणः, अहर्गणः । सर्वेश्वर-गोपालयोरेव ।
नेह-अहःपतिः । रात्रादौ तु न-अहोरात्रिः । एकदेशविकृतमनन्यवत्
अहोरात्रः । अहोरूपं, अहोरथान्तरं साम ।

अमृतां—१४५. अनीश्वरादिति । अत्रविष्णुसर्गस्य ररामजत्वेन गृहीतत्वात्
सर्वपिवादत्वम् । तेन भ्रातर्वर्ज इत्यत्र विष्णुसर्गस्य न तूराम-प्रवृत्तिं वा लोप प्रवृत्तिः ।
प्रातरिति ररामान्तमव्ययम् । गिरशब्दो वाग् वाची । सर्वेश्वर-गोपालयोरिति किम्—
गीः कृष्णस्य ।

अमृतां—१४६. अह इति विष्णुसर्गस्येति—अहोविष्णुसर्गो विष्णुपदान्त इति-
वक्ष्यमाणविधिना जातस्य विष्णुसर्गस्येत्यर्थः । ब्रह्मतः स्वमो महाहरः इत्यनेन कृतमहा-
हरस्य हि अहो विष्णुसर्गस्य र-विधानमिदं ज्ञेयम् । स्वादौ तु नायं विधिर्वाच्यः,
तत्र अहोभ्यामिति दर्शयिष्यमाणत्वात् । अहरहरिति वीप्सायां द्विरुक्तिः । परनिमित्स्यानु-
वर्त्तनं ज्ञापयति—सर्वेश्वरेति । ननु सूत्रे रात्रि शब्दो हि वर्जितः, ततो रात्रशब्दे सन्धिर्भू-
वत्विति चेत्तन्निरासयति परिभाषावलेन—एकदेशेत्यादिना । यथा एकदेशेन चक्षुरादिना
विकृतोऽपि कश्चिज्जनो नान्यः स्यात्था इरामवैकल्पेऽपि रात्रशब्दो रात्रेभिन्न एवेत्यर्थः ।
अहोरात्र इति—अहश्च रात्रिश्चेति श्याम रामे समासान्तः केशवारामस्तद्वितः ।

द्विष्णुजने विष्णुसर्गो लोप्यो न स्यादित्यर्थः । ननु स इत्यस्य साहचर्यादिति कथं संगच्छतां,
यतः सहस्रामानशब्दयोः समासे सरूपत्वं हृश्यते तथा सो तनुकरणे षोडन्तकर्मणि इत्य-
नयोद्धात्वोरपि कृदन्ते 'अकर्मण्यारामात् क' इत्यनेन कप्रत्यान्तसरूपत्वं हृश्यते चेति
तच्छब्दसम्बन्धि-सरामादन्यसरामस्यापि विद्यमानत्वादेतच्चन्त्यम् । चिन्त्यच्चात्र प्रकृति-
सिद्धानुकूलमेव तद् यथा । सहादिशब्दद्वयस्य सभावत्वेऽपि विष्णुसर्गस्याविद्यनानत्वादिधातु-
द्वयस्य तु स्वरूपत्वस्य विष्णुसर्गस्यापि विद्यमानत्वेऽपि गौणत्वात् तद्रूपमङ्गीकृत्य
प्रसिद्धत्वात् तच्छब्दस्य स इत्यस्यैव साहचर्यमुक्तमित्यवधेयम् ॥१४४॥

बाल०—र-ई । सर्वेश्वर-गोपालावात्र पूर्वं तोऽनुवर्त्तेते इति वृत्तौ सर्वेश्वरगोपाल-
योरित्युक्तम् ॥१४५॥

बाल०—अनी । गीर्वाक् । हे भ्रातः व्रजे गोविन्दं पश्येत्यन्वयः ॥१४६॥

१४७. रोरे लोप्यः पूर्वश्च त्रिविक्रमः ।

रो ररामे परे लोप्यः स्यात्, ररामात्पूर्वो वामनश्च त्रिविक्रमः स्यात् ।

भ्रातः रामानुजं पश्य, भ्राता रामानुजं पश्य । हरिः राधाप्रियः

हरीराधाप्रियः ।

इतिविष्णुसर्गसन्धिः ।

अमृतात्—१४७. रोरे इति । भ्रातरिति—ऋरामस्य गोविन्दः पाण्डवेषु डौचेत्यनेन भ्रातृशब्दस्य बुद्धे गोविन्दे कृते “सररामयो”रिति ररामस्य विष्णुसर्गो वक्ष्यते । रामस्य वलदेवस्य अनुजं श्रीकृष्णमित्यर्थः । हरिरिति“रईश्वरात् सर्वेश्वर-गोपालयो रित्यनेन ररामः । राधाप्रिया यस्य सराधाप्रियः श्रीकृष्णः ।

इति श्रीहरिनामामृत व्याकरणे सन्धिप्रकरणे श्रीगोपालदास

काव्य—व्याकरणतीर्थ—विद्यारत्न—प्रणीता

अमृतास्वादिनी टीका सम्पूर्णा ।

समाप्तं प्रथमप्रकरणम् ।

बाल०—अहो । रात्रि-रूप-रथन्तरादन्येषु परेषु अहन्शब्दसम्बन्धिनो विष्णु-सर्गस्य स्थाने र-रामो भवति । अहन् शब्दो दिवसवाची अहरह इति प्रथमैकवचनान्तस्य द्वितीयैकवचनान्तस्य वा वीपसायां द्विरुक्तिः । अहर्गं इति अहो गण इति विग्रहः । यद्यपि वृत्तौ सर्वेश्वरगोपालयोरिति नोक्तम्, तथापि तयोः परयोरेवेत्याह—‘सर्वेश्वर’ इति । नेह इत्यस्मात् पूर्वं तेनेति योज्यम् । अहः पतिरिति समस्तमसमस्तं वा । एवमहः पाता । पाता रक्षिता । रात्र्यादौ तु न वर्जनादिति शेषः । अहो रात्रिरिति विग्रहः । अत्र ‘आदरामगोपालयोरि’ त्यनेन उरामः । ननु सूत्रे रात्रिशब्दोपादानात् रात्रशब्दे कथं र-रामो न स्यादित्यत्र सिद्धान्तमाह एकदेशेति यथैकदेश खण्डतेऽपि जनः स एवेति प्रतीतः । तद्विरामाभवोऽप्यत्र रात्रिप्रतीतिरिति भावः । अहोरात्र इति अहश्च रात्रिश्चेति विग्रहे तद्वितकेशवारामः कर्तव्यः । टितु केशव संज्ञ इति वक्ष्यते । अहोरूपमिति विग्रहः । अहो रथन्तरमिति अहो रथन्तरशब्देन सामवेद उच्यते इति सामेति । वाच्यपदं दत्तम् ॥१४७॥

बाल०—रो रे । रामानुजं श्रीकृष्णम् । विष्णुसर्गसन्धिं समापियति इतीति संज्ञा-सन्धिप्रकरणमिति संज्ञा च सन्धिश्च तयोः प्रकरणमिति ॥१४८॥

प्रणत्य परमात्मानं बालानां बुद्धिवृद्धये । सन्धिपादमृजुं कृत्वा व्याख्यातं हि सुहन्मुदे ।

इति श्रीपरमभागवतोत्तम-श्रील हरेकृष्णाचार्यविरचियां श्रीमद्गोपीचरण दासाख्यपरिशोधितायाच्च श्रीमद्विरिनामामृताख्य वैष्णवव्याकरणटीकायां बालतोषणी-नामन्यां प्रथमसंज्ञा-सन्धि-प्रकरणटीका समाप्ता ॥

अथ विष्णुपद प्रकरणम्

यएकः सर्वरूपाणां सर्वनाम्नां तथाश्रयः ।

तस्यविष्णोः पदं सर्वं विष्णुभक्त्या निरूप्यते ॥

७१. अथ नामजानि विष्णु पदानि ।

नाम्नो जातानि यानि विष्णुपदानि अथानन्तरं तानि निरूप्यन्ते ।

१२. अधातु-विष्णुभक्तिकर्मर्थवन्नाम ।

अमृतां—१. सन्ध्यनन्तरमेव पदज्ञानस्यावश्यकत्वात् पदनिरूपणमपि विष्णु-सम्बन्ध्यनुशीलनमेवेति प्रतिपादयन् विष्णुपदप्रकरणं प्रकमते—य एक इति । यो-विष्णुरेक एव सर्वरूपाणां कृष्ण इत्यादीनां भवतीत्यादीनाच्च निखिलपदानां तथा सर्वनाम्नां प्रथम-मध्यमोत्तम-पुरुषवाचिनां भवतु-युष्मद्द्विस्मदादि सकलशब्दानामाश्रयो व्यापकत्वेनास्पदं, तस्य विष्णोविष्णु सम्बन्धि सर्वं पदं पूर्वोक्तरूपं विष्णुभक्त्या विभक्त्या निरूप्यते साध्यते मयेति शेषः । सर्वनाम्नामित्यनेन कृत्तद्वितजानाच्च ग्रहणम् । अपि च यएको विष्णुः सर्वरूपाणां यावत् स्थावर जङ्गमादि-दृश्यवस्तुनां तथा सर्वं नाम्नां सकलसंज्ञानां वाचकानामिति यावत्, आश्रयोराधिष्ठानमिति; विष्णोराश्रयमन्तरेण वाच्यवाचकानां सर्वेणां सत्ताभावो दर्शितः, “आश्रिताश्रयविग्रहं श्रीकृष्णाख्यमिति श्रीस्वामिपादोक्तेः । तस्य विष्णोः सर्वं पदं स्थानं वैकुण्ठादिकं धाम विष्णुभक्त्यैव निर्णीयते, नत्वन्यसाधनै रित्यर्थः । विष्णुपदनिरूपणे भक्तिरिव पदनिरूपणे विभक्ति सहायिकेति सादृश्यम् । भक्ति रिति भज सेवायामित्यस्य भावे क्तिः, भजनमित्यर्थः ।

विष्णुपदं तावद्द्विविधं नामजं धातुजच्च; तत्र नामजानामेव प्रथममल्पायाससाध्यत्वात् तानेवाह—अथेति ।

अमृतां—२. किं तावन्नामेत्यपेक्षायां तत्रस्वरूपमाह—अधात्विति । विष्णुभक्ति

बाल०—श्रीश्रीहरिः । यमर्थं वक्तुकुमेन शब्दग्रामः प्रवर्तते । तस्य विष्णोः पदं कार्त्तस्न्यं व्याचक्षेऽहं यथामति ।

बाल०—पदनिरूपणमपि विष्णुसम्बन्ध्यनुशीलनमेव भवतीति प्रतिपादयन् तदाभते—य एक इति । यो विष्णुरेक एव सर्वरूपाणां सर्वपदानां कृष्ण इत्यादीनां भवतीत्यादीनाच्च तथा सर्वनाम्नां सकलशब्दानामाश्रय आस्पदं स्थानमिति यावत् तस्य विष्णोविष्णुसम्बन्धि सर्वं पदं कृष्ण इत्यादिकं भवतीत्यादिकच्च विष्णुभक्त्या विभक्त्या निरूप्यते साध्यते इत्यर्थः । सर्वनाम्नामित्यनेन कृत्समासजादीनां ग्रहणं भुवादीनाच्चग्रहणं; तेषामव्ययत्वेन नामत्वात् दर्शनादौ शब्दत्वेन निर्दिष्टाच्च । तथा च यः सर्वरूपाणां सर्वशरीराणां तथा सर्वसंज्ञानामाश्रयस्तस्य विष्णोः सर्वं पदं स्थानं वैकुण्ठादिकं विष्णुभक्त्यैव निरूप्यते, अलं केनचिदिति शेषः । तत्र च प्रथमं नामज-विष्णुपदानामेव निरूपणं कर्तव्यमित्याह अथेति ॥१॥

भू सनन्ताद्या धातवः । स्वादि-तिवाद्या विष्णुभक्त्यः । विभक्त्य इति
प्राञ्चः । तात् धातून् ता विष्णु भक्तीश्च वर्जयित्वा यदर्थयुक्तं शब्दरूपं
तन्नामसंज्ञस्यात् । लिङ्गमित्येके प्रातिपदिकमित्यन्ये ।

कमिति स्वार्थे कप्रत्ययस्तद्वितः । धातवश्च विष्णुभक्तिकाश्र तेषां समाहारो धातुविष्णु
भक्तिकं, न धातु विष्णुभक्तिकमिति तत् । यद् वा धातवश्च विष्णुभक्त्यश्च धातुविष्णु-
भक्त्यः, न विद्यन्ते धातु विष्णुभक्त्यो यत्र तदधातु विष्णुभक्तिकमिति पीताम्बरे
समासान्तः कप्रत्ययः । अर्थो विद्यतेऽस्येति अर्थवत्, मतुप् प्रत्ययः । अर्थशब्दोऽत्राभिधेय
वचनो नतु प्रयोजन वचनो धनवचनो वा । विष्णुभक्ति शब्देन तदन्तं विष्णुपदच्च लक्ष्यते ।
तेन धातु-विष्णुभक्ति-विष्णुभक्त्यन्तेभ्योऽन्यं यदर्थयुक्तं तन्नामसन्नमिति फलितार्थः । विष्णु
भक्त्यन्तग्रहणं कृष्णः भवतीत्यादे नामत्वनिरासाय । विष्णुभक्त्यन्तस्य नामत्वे स्वीकृते—
हनधातोभूतेश्वरे—‘अहन्’ इत्यस्य “नामान्तस्येत्यादिना नरामहरप्रसक्तिः स्यात् । इह
पर्युदास नन् उभयत्रान्वेतीति विवृणोति—तात् धातुनित्यादिना । एवं व्याख्यानेन पष्ठी
समासो निराकृतः । न च पष्ठीसमासे का हानि रिति वाच्यं, धातोविष्णुभक्तिवर्जनेन
नाम्नो विष्णुभक्तीनां स्वादीनां नामत्वापत्तेः । अर्थवत् पदं व्याख्याति—तेचार्था इति ।
तदभिधायकं द्रव्यादि वाचकं, वाच्यास्तु द्रव्यादयएव । ऐश्वर्यदीति आदिशब्देन भक्तवात्
सत्यादे ग्रंहणं, द्वितीयादिना रूपरसादेश्च ।

जातिः समानत्प्रमेकधर्मत्वम् । इदन्तु विवरणमात्रं, लक्षणं खलु तद्विते वक्ष्यते—
आकृतिग्रहणा जातिरित्यादिना । नित्यत्वे सति अनेक समवेतत्वं जातित्वमिति नैयायिकाः ।
तत्र ब्राह्मणो मुख्यमासीदिति वेदप्रमाणेन ब्रह्ममुखोदभवत्वरूपसमान धर्मः सर्वेषु ब्राह्मणेषु
समवायेन विद्यत एवेति ब्राह्मणत्वं जातिः । एवं विशान-सास्नादिमत्व-समधर्मस्य सर्वेषु

बाल०—अधातु । विष्णुभक्त्य एव विष्णुभक्तिः स्वार्थे कप्रत्ययस्तद्वितः ।
लक्षणया विष्णुभक्त्यान्तानि पदानि वा गृह्यन्ते धातुपदेन धातुत्वानि वा धातुत्वानीति
केवलसत्तादिसिद्धिक्रियावाचि-भूप्रभृतिधातुपराणीत्यर्थः । अनेनानुसन्धानेन भूप्रभृतीनां
विष्णुपदानां विष्णुभक्तीनाच्च ग्रहणमत्र सुचितमिति । धातवश्च विष्णुभक्तिकाश्र तासां
समाहारः धातुविष्णुभक्तिकं समाहारे ब्रह्मत्वमेकत्वच्चेति ब्रह्मत्वमेकत्वच्च ततश्च न
धातुविष्णुभक्तिकमधातुविष्णुभक्तिकमिति विग्रहः । धातुविष्णुभक्ति विष्णुभक्त्यन्त-
भिन्नमर्थवन्नात्मेयर्थः । तात् धातून् ता विष्णुभक्तीश्च वर्जयित्वा यदर्थयुक्तं
शब्दरूपम् उक्तपिति शेषः तन्नामसंज्ञं भवतीति तु फलितार्थकथनम् । किन्तु लक्षणया
विष्णुपदग्रहणपूर्वक-वर्जनं विष्णुपदलक्षणस्य वक्ष्यमाणत्वेन विष्णुपदस्य नामत्वाभावात् ।
यद्वा धातवश्च विष्णुभक्त्यश्च धातुविष्णुभक्त्यः न विद्यन्ते धातुविष्णुभक्त्यो यत्रेति विग्रहे
समासान्तः कप्रत्ययस्तद्वितः । अधातुकम् अविष्णुभक्तिक्वाऽर्थविनामेत्यर्थः । धातून्
वर्जयित्वेति तु फलितार्थकथनम् । विष्णुभक्तिश्चेत्यपि फलितार्थमित्यर्थः । अर्थवदिति
अर्था अस्य सन्तीत्यर्थं मतुप्रत्ययस्तद्वितः । मतोर्मोव इत्यने मरामस्य वरामः । न यदि
धातुविष्णुभक्तिभिन्नमर्थवन्नाम, तर्हि कथं स-नान्त-संव्यातः कतेश्चत्यत्र जस्शसोरौस्

२ ३. प्रकृतिः पूर्वा ।

साच नामधातु भेदाद् द्विविधा ।

गोपु समवायेन विद्यमानत्वाद् गोत्वञ्च जातिः । व्यष्टि ब्राह्मण गवादे विनाशेऽपि समष्टि रूपिणां तेषां युगपद विनाशाभावेन तत्तद्वर्मणां सत्त्वाज् जाते नित्यत्वं ज्ञेयम् । अर्थवद् ग्रहण-प्रयोजनमाह—अर्थवदिति । यद्यपि एकाक्षरकोपे अरामादि प्रत्येक वर्णस्यार्थो निरूपितोऽस्ति तथापि कृष्णेत्यादौ वर्णसमूहस्य तत्तदर्थाविवक्षितत्वेन नार्थवत्त्वम्, अर्थवद् ग्रहणेऽनर्थकस्य न ग्रहण मिति न्यायात् । ननुविष्णुभक्ते नामत्वाभावात् कथं “ब्रह्मतो जस-शसोः सिः” रित्यादौ शस् विभक्तेस्तत्तरं पुन विष्णुभक्तेस्तुपत्तिः? सत्यमुच्यते—सर्वत्रानुकृत्य शब्दत्वं व्यवहारात् दोषः । अनुकार्यानुकरणयो भेदविवक्षयार्थवत्त्वेन सर्वेषां नामत्वाद् विष्णुभक्ते रुपद्यत एव । तयोरभेद विवक्षायान्तु पृथगर्थभावात् नामत्वं, ततएव तदुत्तरं विष्णुभक्तेनोर्तपत्तिः । तस्यैव दृष्टान्तो गवित्यमाहेति ।

ननुपाणिनीयाः “कृत्तद्वितसमासाश्चे” ति पृथक् सूत्रयन्ति, असन्मते तदभावात् कथं समाधीयतद्विति चेत तदुच्यते—कृत् प्रकरणे स्वयमेव वक्ष्यति—नामसज्जायां प्रत्ययेषु-विष्णु भक्तिमात्रवर्जनात् कृत्तद्वितयोरपि नामत्वं सिद्धमिति । तत्र कृत्तद्वित-शब्दाभ्यां कृदन्त तद्वितान्तौ लक्ष्येते इतिच प्रतिपादितम् । अथ समासस्य धातुविष्णुभक्तिराहित्वेन अर्थ-वत्त्वान्नामत्वं स्वतः सिद्धं; किन्तु तत्र समासग्रहणम् अर्थवत् समुद यानां मध्ये समासस्यैव नामत्वं नतु वाक्यस्येतिनियमाद् वाक्यनिरासर्थं ज्ञेयम् । स्वमते—क्रियान्वितपदसमष्टेरेव वाक्यत्वात् अथव विष्णुभक्तिमन्तरेण पदासिद्धेश्च व्यावृत्तिः स्वतएव घटत इति मन्य-मानो ग्रन्थकार आचार्य सूत्रं नानुससार ।

अमृता०—३. प्रकृतिरिति । पूर्वा पूर्वस्थिताभवतीत्यर्थः । परिभाषा सूत्रमिदम् ।

इत्यत्र विष्णुभक्ते रौस् । भुवः भूरित्यत्र इस् क्रियाविशेषणं कर्मेत्यत्र तस्यालिङ्गस्य विशेषणमिति ब्रह्म इत्यत्र च क्रियाविशेषणाथ्य च ब्रह्मत्वं सिद्धयति । सत्यमुच्यते सुत्रे वेदवद्यवहरात् सर्वमनुकरणे वा इत्यस्माच्च जस्त्रासोरित्यत्र भुवः भूरित्यत्र च विष्णु-भक्तिर्भवत्येव क्रियाविशेषणमित्यत्र अलिङ्गमव्ययसंज्ञमित्यनेन भवादीनामव्ययत्वं नाम-लक्षणे वर्जनाच्च नामत्वाभावत्वमिति न कश्चिद्विरोधः । भूसनान्ताद्या इति भूश्च सनन्तश्च भूसनन्तौ आदौ येषामिति विग्रहः । अर्थयुक्तमिति अर्थयुक्तमिति विग्रहः । अर्थानेवाह चेति तदयुक्तं ततभिधायकमिति वाच्य-वाचकसम्बन्धी ज्ञेयः । तदाश्रयी । ऐश्वर्यादिति ऐश्वर्यादिशासी शब्दस्पर्शादिकश्चेति विग्रहः । क्वचिद्विशेषणेन च विशेषणं समस्यत इत्यनेन श्यामराम समासः । ऐश्वर्यानिः शब्दस्पर्शादिकश्चेत्यर्थः । प्रथमादिशब्देन भक्तवात्सल्यादेग्रहणम् । द्वितीयादिशब्देन रूपरसगन्धादीनां ग्रहणम् । समानत्वं सामान्यम् ऐक्यमिति यावत् । समानां सत्समैक्ये स्युरिति नानार्थवर्गः । तथाच एकत्वे सत्यप्यनेकव्यक्तौ सामान्य जारिरिति निर्गतितार्थः । यथोक्तमन्यैश्च । नित्यैकत्वे-सत्यनेकसमवेतत्वं समवायि-सम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वं नित्यमेकमनेक व्यक्तिमत्वं सामान्यं जातिरित्यर्थः ॥२॥

ते चार्या द्रव्य-गुण-जाति-क्रियाः । तदयुक्तं तदभिधायकं शब्दशूलप-
मित्यर्थः । द्रव्यं परमेश्वरमारभ्य मृत्युय पर्यन्तं सर्वं वस्तु । गुण
स्तदाश्रयी, ऐश्वर्यादि शब्दस्पर्षादिको धर्मः । जातिः समानत्वं,
व्राह्मणत्व-गोत्वादि । क्रिया-धात्वर्थः, सत्त्वाहार-ज्ञान-विहार प्रभृतिः ।
अर्थवदग्रहणात् कृष्ण इत्यादौ प्रत्यक्षरं नामत्वं न स्यात्, गवित्यय-
माहेत्यत्र च ।

३४. प्रत्ययः परः ।

स च स्वाद्याख्यात-कृत्तद्वित-भेदाच्चतुर्विधिः ।

४. तत्र नम्नः सुं औ जस् । अम् औ शस् । टाभ्याम् भिस् । डे
भ्याम् भ्यस् । डसि भ्याम् भ्यस् । डस् ओस् आम् । डि ओस्
सुप् ।

एते सुं इत्यादय एकविशतिविष्णु प्रत्येकं नाम्नः परे स्युः । तासु च
सुं औ जस् प्रथमा । अम् औ शस् द्वितीया । टाभ्याम् भिस् तृतीया ।
डेभ्याम् भ्यस् चतुर्थी । डसि भ्याम् भ्यस् पञ्चमी । डस् ओस् आम्
षष्ठी । डि ओस् सुप् सप्तमी । तत्र प्रथमाया एकवचनं सुं । द्विवचनं
औ । वहुवचनं जश् । द्वितीयैक वचनं अम् । द्विवचनं औ । वहुवचनं
शस् इत्यादि ज्ञेयम् । एते स्वादयः । स्यादय इत्यन्ये । सुवित्येके ।

अमृताऽ—४. प्रत्ययइति । प्रत्ययः परस्यो भवति । इदमपि परिभाषासूत्रम् ।
स्वादि वेक्ष्यमाणः । आख्यातः तिवादिः, सनादिश्च । कृत्तद्विताश्च तत्तत् प्रकरणे
दर्शयिष्यन्ते ।

अमृताऽ—५. तत्रेति । तत्र नामधात्वोर्मध्ये नाम्न उत्तरं स्वादयः स्युः । धातोस्तु
तिवादय इत्याख्यात प्रकरणे वक्ष्यते । स्वादय इति स्वादि-सञ्जका स्वमते । अन्य इति
व्योपदेवादयः । एक इति पाणिन्यादयः । अत्र एकशब्दो मुख्यार्थवाची, पाणिनि मुनेरेव
वैयाकरणेषु मुख्यत्वं वीकारात् ।

बाल०—प्रकृतिः । प्रकृतिः पूर्वा पूर्वस्थिता भवति । परिभाषासूत्रमिदम् । ननु
प्रकृतिरव केति तत्राह सा चेति । सा च प्रकृतिः ॥३॥

बाल०—प्रत्ययः । प्रत्ययः परः परस्थितो भवति । इदमपि परिभाषासूत्रम् ।
प्रत्ययमेवाह स चेति स च प्रत्ययः ॥४॥

बाल०—तत्र । तत्रेत्यादिकं सुवित्यन्तं लज्जणमिदं प्रत्येकमिति क्रमेणेत्यर्थः ।

५. तत्र जुशुङ्गुपा इत-उच्चंश सौः) डसेरिश्च । एति गच्छति न तिष्ठतीति
 इत्, अनुवन्धश्च । सच उच्चारणार्थश्चिह्नार्थो विध्यादिनिमित्तश्च
 कवचित् ।

इतश्चैते—सिद्धोपदेशे विरिश्चौ च सविष्णुचाप सर्वेश्वर इत्, अन्त्यो
 विष्णुजनश्च । आङ्माङ् उञ्जु नञ्जु सु च । विरिश्चौ तु कवचित् । धात्वादि
 ५३ ४५५०८१-८०८. उत्.

तत्रैति—तत्रविष्णुभक्तिषु जटी प्रत्ययाद्या जटणपा इत्यनेन इतौ । शडौ श-कवर्गावितदिति
 इत्यनेन । अन्त्य विष्णुजनश्चैति प इत् । सिद्धोपदेशेत्यादिना सोऽरुमः । तेनैव डसेरि
 रामश्च । इसशब्दं व्युत्पादयति—एतीति । अनुवन्धश्च प्राचां मते । इतकरण फलमाह—
 सचेति । तत्रोच्चारणाथः सुंरित्यादे रुँरामादिः । चिह्नार्थो जसादे जंरामादिः । विधि
 निमित्तो डेडसि प्रभृतीनां डरामः, औच् शि प्रभृतीनां चरामः शरामादिश्च । विध्यादीति
 आदि शब्दः प्रतिषेधबोधकः; तद् यथा यगादे करामादिः । परिभाषामाह—सिद्धोपदेश
 इति । यद्यपीह शास्त्रे—“धातुसूत्र गणोणादि वाक्यलिङ्गानुशासनं । आगमप्रत्ययादेशा
 नपदेशाः प्रकीर्तिता” इत्युपदेशलक्षणं दृश्यते, तथापि सिद्धोपदेश-शब्देन धातु-प्रत्यय-
 विष्णुनामेव ग्रहणं, तेषामेव स्वतः सिद्धत्वात् । तत्र धातौ सविष्णुचापसर्वेश्वर इद् यथा—
 चित्ती संज्ञाने इत्यादीनामी रामादिः । प्रत्यये यथा सुंप्रभृते: उँरामादिः, डसेरिरामश्च ।
 विष्णौ यथा नुट्टुक् प्रभृतेरुरामादिः; एषु सविष्णुचापत्वं प्राचीनैः स्वीकृतम् । विरिश्चौ
 यथा—तस्मात् सोनः पुंसीत्यादी नरामादे ररामादिः । अन्त्यविष्णुजनश्चेति—धातौ—
 स्फुटिर विशरणे इत्यस्य ररामः । प्रत्यये तिपः परामः । विष्णौ नुटः टरामः । आङ्मा-
 दिषु अन्त्यविष्णुजन इद् भवति । विरिश्चौ तु कवचिदिति—अन्त्यविष्णुजन इत् इत्यनु-
 सज्यते । तद्यथा—“हरितो डेरौच्” इत्यत्र औचाः चराम इत् । कवचिद् ग्रहणात् ।
 पाददन्तादीनां पददत् प्रभृतिविरिश्चिषु दरामादिं न इत् । धात्वादि ग्रिडु इतिसमाहारे
 ब्रह्मत्वमेकत्वच्च । त्रिफलादीनां त्रि, दुओश्चि प्रभृतीनां दुः दुकुञ्जादीनां दु इत् स्यात् ।
 जटणपा इति—जराम इद् जसः, टरामः टादीनां, ण रामः णलादीनां, परामः पमादीनाम् ।
 शकवर्गाविति—तद्वितेतर प्रत्यये शरामः कवर्गश्च इद्भवति । तद् यथा शराम इत्
 शसादीनां, करामः कवस्वादीनां, खरामः खलादीनां, घरामः घणादीनां, डरामो डे
 प्रभृतीनां । अतद्वित इति कि—वहुशः, ग्रामक इत्यादौ तद्विते नेत् । विष्णुभक्तो तनसमा
 इतो नभवन्ति । क्रमेण यथा—यात् ईरन् जस् भ्यामित्येवमादयः । विष्णुभक्ताविति
 किम्—कृतप्रत्यये “सर्वेश्वरान्त धातोर्यत्” इत्यत्र तरामः, “स्थादैः शप्छण्डी शनमि” त्यत्र
 मराम इद्भवत्येव, “अन्त्यविष्णुजनश्च” इत्यनेन । ननु डसि नुट् प्रभृते रिरामोरामौ
 कथमिती स्यातां सविष्णुचापत्वाभावादिति चेत्तत्राह—अरामादीति । अत्र शास्त्रे

विष्णुभक्तीनामान्तरभेदानाह तासु चेति । तासु विष्णुभक्तिषु मध्ये सुं औ जस् प्रथमे-
 त्यादि । प्रथमादिष्वप्यवान्तरभेदानाह तत्र चेति । तत्र प्रथमादिषु मध्येषु प्रथमाया
 एकवचनं सुं इत्यादि । एता विष्णुभक्त्यः स्वादय इति स्वादिनामात् इत्यर्थः ॥५॥

गिद्धु । प्रत्ययाद्या जटणयाः । श-कवर्गवितद्विते । न विष्णु भक्तौ
तुनसमा ^{नेपा} इति । सिद्धोपदेशो धातुप्रत्ययविष्णवः । अरामादिभेदाः
सविष्णुचापास्तु वैदिकाः ।

६. नामसंज्ञश्चतुर्विधः ।

यथा पुलिङ्गः पुरुषोत्तमसंज्ञः । स्त्रीलिङ्गो लक्ष्मी संज्ञः । नपुंसकलिङ्गो
ब्रह्मसंज्ञः । अलिङ्गोऽवयव संज्ञः ।
तत्र सर्वेश्वरान्ताः पुलिङ्गाः । तत्र अरामान्ताः कृष्ण शब्दः तत्र प्रथमैक
ववने कृष्ण सुँ इति स्थिते उँराम उच्चारणार्थः ।

सर्वेश्वरस्य सविष्णुचापत्वमङ्गीकृत्य इत्कार्यं क्रियते, तत्तुवैदिक नियमानुसारेण, तत्रैव
सर्वेश्वराणां सविष्णुचापत्व-निर्विष्णुचापत्वभेद दर्शनात् । लौकिके चैवैदिक प्रयोगमिथित
त्वात् क्वचित् तद्विधिमपेक्ष्यैव लौकिक कार्यं विद्धीयते; यथा क्वसु कि कानादीनां
छान्दसत्वेऽपि लौकिके च व्यवहारः । तद्विदिहापि ज्ञेयम् ।

अमृताऽ—६. नामेति । नामसंज्ञा यस्य सनाम संज्ञः शब्दश्चतुर्विधः । नाम्नोऽवस्था
भेदेन संज्ञाभेदं दर्शयति—पुलिङ्गाइत्यादिना । पुरुषेषु प्रथम-द्वितीय-तृतीय-संज्ञकेषु विष्णु-
रूपेषूत्तमः पुरुषोत्तमः परव्योमाधीशो नारायणः । यद्वा “अतोऽस्मि लोकेवेदेचप्रथितः
पुरुषोत्तम” इति श्रीगीतायां श्रीभगवदुक्त्या स्वयं श्रीकृष्ण एव । लक्ष्यते दृश्यते स्तिंश्च
दृष्ट्या अन्या विश्वमिति लक्ष्मीर्भगवत् स्वरूपशक्ति विशेषः । वृहत्त्वाद् वृहनत्वाच्च तद्
ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं गोविन्दमिति ब्रह्मसंहिता ।

बाल०—तत्रेति । तत्र विष्णुभक्तिषु ज-ट-श-ड-पा इतो भवन्ति जटनाश्चेत्यनेनेति
ज्ञेयम् । सोरुंश्च इङ्ग्रवति सोरित्येकदेशनिर्देशः सुँ इत्यस्येत्यर्थः । डसेरिरामश्च इङ्ग्रवति
तत्र उँ: सिद्धोपदेशो विरिञ्चौ च विष्णुचापसर्वेश्वर इदित्यनेन इरामोऽपि तेनैवेति ज्ञेयम् ।
इरामस्य स विष्णुचापत्वम् अरामादिभेदाः सविष्णुचापास्तु वैदिका इत्यनेन सेत्यस्यति ।
इच्छवदः क्विवन्तः । स चेति स च उच्चारणार्थो भवति यथा सुँ इत्यादेहूँरामादिः ।
चित्तार्थंश्च यथा जसादेजर्जरामादिः । क्वचिद्विद्यादिनिमित्तश्च अथवा क्वचिदिति सर्वत्र
वाख्येयं विद्यादिनिमित्तं यस्येति विग्रहः । यथा डे डसि डस् नुट औच् आच् शि
इत्यादिनां डराम-टराम-चराम-शरामादिः । आदिशब्देन प्रतिपेधस्य ग्रहणम् । प्रतिपेध-
निमित्तो यथा । तत्र ज-टौ प्रत्ययाद्या जटणा इत्यनेन । शडौ शकवर्गवितद्वित इत्यनेन ।
पस्तु अन्यो विष्णुजनेत्यनेन । यगादीनां करामादिश्च । तथाहि किञ्च डिञ्च कंसारिः
कंसारौ परे गोविन्द-वृष्णीन्द्रनिषेधो भवति । ईशस्य न गोविन्द-वृष्णीन्द्रौ कंसारिष्विति
प्रतिपेधलज्जणम् । एवमपरमपि ज्ञेयम् । इतश्चेत् इति एते अनुवन्धाः प्राचीनैरपि
इतश्चोच्यन्ते इत्यर्थः । तस्मादत्र सज्जाभेदों नास्तीति भावः ।

सिद्धो । सिद्धोपदेशो धात्वादौ विरिञ्चौ च स्थितः सविष्णुचापसर्वेश्वर इङ्ग्रवति ।

तत्र धातौ यथा चित्ती संज्ञाने इत्यादीनामीरामादिः । द्वचक्षरधातोरन्तः पूर्वश्च सर्वेश्वरः स विष्णुचापो जागृ कथादि वर्जमित्यनेन इरामस्य सविष्णुचापत्वम् । प्रत्यये यथा सुं इत्यादेस्त्रामादिः इस्यादीनामपि इरामादिश्च सविष्णुचापत्वस्वीकारात् । विष्णौ यथा नुट्लुम् लुक् इत्यादीनामुरामादिः, अत्रापि सविष्णुचापत्वस्वीकारात् एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम् । विरच्चौ यथा तस्मात् सो नः पुंसि इत्यादि लक्षणीर्विहितानां नरामादीनामरामादिः । पुंसः पुमसुः कृष्णस्थाने इत्यनेन विहितस्य पुमसोरुरामश्च एवमन्यत्र च ज्ञेयम् । अन्त्यो । सिद्धोपदेशे अन्त्यो विष्णुजनश्च इद्धवति । तत्र धातौ यथा स्फुटिर विशरण इत्यादीनां ररामादिः । प्रत्यये यथा तिवादीनां परामादिः । विष्णौ यथा । नुडादीना टरामादिः ।

आङ् । एतेषु अन्त्यो विष्णुजन इद्धवति ।

विरि । विरच्चौ तु अन्त्यो विष्णुजनः क्वचिद्धवति यथा हरितो डेरौच् इत्यादि लक्षणीर्विहितानामोजादीनां चरामादिः । वाहो वा ऊँ भगवतीत्यादि लक्षणीर्विहितानाम् ऊठादीदां ठरामादिश्च क्वचिदग्रहणात् पाददन्तादीनां पददादिषु विरच्चिषु अन्त्यो विष्णुजन इन्नभवति । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् । धात्वादिः । धातोरादिभूतं त्रि दु दु इद्धवति । त्रि दु डिवति समाहारे ब्रह्मत्वमेकत्वच्चेति ज्ञेयम् । तत्र त्रि-त्रिमिद त्रिफलादीनां दु भ्राजू दुओस्वि प्रभृतीनाम् । दुर्दुपचपादीनाम् ।

प्रत्यया । प्रत्ययस्यादिभूता जटणा इती भवन्ति । अत्रलिपिकार प्रमादात् परामः पतितः अतोऽत्र सूत्रे जटणा इति पाठः सत्यः । पमित्यत्र प्रत्ययादि परामेत्वसम्भवात् । तत्र जरामोजसादीनां टरामष्टादीनाम् । णरामो णलादीनाम् ।

शक । तद्वितभिन्ने प्रत्यये शकवर्गौ इतौ भवतः । तत्र शराम शसादीनाम् । करामः क्वसु कि कानादीनाम् । खरामः खल् खशादीनाम् । घरामो घिनुण् घनादीनाम् । डरामो डे डसि डसादीनाम् । अतद्वित इत्युपादानात् । बह्लपार्थाति कारकाच्छस् माङ्गलिके इत्यनेन विहितस्य शसः शराम इन्न भवति । एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम् । स एषां ग्रामणीरिति । क इत्यनेन विहितस्य कस्य करामः । सर्वर्वमणावृतः ख नृसिंह खावित्यनेन विहितस्य छस्य खरामश्च इन्नभवति । एवमन्यस्यत्रापि बोद्धव्यम् ।

न विष्णु । विष्णुभक्तौ तनसमा इतो न भवन्ति । अतः यादादीनां तनाम इन्न भवति । ईरन् अन् इत्यादीनां नराम इन्न भवति । जस् शस् भिस् भ्यसादीनां तस् थसादीनाच्च सराम इन्न भवति । अम् भ्याम् आम् इत्येषां याताम् यातम् याम् इत्यादीनाच्च मराम इन्न भवति । अण्ट्यो विष्णुजनश्चेत्यनेन प्राप्ते निषेधः । सिद्धोपदेशानाह सिद्धोपेति । ननु इस्यादीनामिरामादिः नंडादीनामुराम्यदिश्च । कथमिद्धवतु सविष्णुचापत्वाभावादिति चेतत्राह अरामादिभेदाः अरामादिविशेषाः । अरामविशेषादयः सविष्णुचापा भवन्ति । ते तु वैदिका अतएतन्मतानुसारेण सविष्णुचापत्वादिद्धवति इति ज्ञेयम् । ननु तर्हि धातोः सर्वेश्वरस्य सविष्णुचापत्वं कथं विदीयते इति चेत् तत्रोच्यते जागृ कथादि वर्जं द्वचक्षर धातोरन्तः पूर्वश्च सर्वेश्वरः सविष्णुचापः, चकासृ प्रभृतीनामन्तःसर्वेश्वरः सविष्णुचापः, ओरै ओशि प्रमृतीनाम् पूर्वः सर्वेश्वरः सविष्णुचाप इति विशेषप्रतिपत्तेः स्पष्टार्थम् ॥६॥

७. विष्णुभक्तिसिद्धं विष्णुपदम् ।

विष्णुभक्ति सिद्धं नाम्नो धातोर्वा रूपं विष्णुपद संज्ञं स्यात् । पदमिति प्राञ्चः ।

गङ्गास्त्रोतो वदेवास्य भवेद् विधिरतः परः ।

नारोहति परः पूर्वं यत्रोपाधिर्विद्यते ॥

८. स-र-रामयो विष्णुसर्गो विष्णुपदान्ते ।

सररामयोः स्थाने विष्णुसर्गः स्यात् विष्णुपदान्ते विषये । कृष्णः ।

एवं सूत्रं ततो वृत्तिरिति विस्तर शङ्क्या ।

सूत्रेणैव अर्थसिद्धिस्तु यथा स्यात् क्रियते तथा ॥

अमृता०—७. विष्णु इति । विष्णुभक्त्या विभक्त्या सिद्धं निष्पन्नं यत् तद्विष्णु पदसंज्ञं भवति । एतेन लिङ्गानां नाम्नोऽनतिरिक्तत्वं सूचितम् तत्र चतुर्विधेषु नामसंज्ञेषु सर्वेश्वरान्ताः पुंलिङ्गाः शब्दाः प्रथममुच्यन्त इतिशेषः । तत्र सर्वेश्वरान्त पुंलिङ्गेषु कृष्ण शब्दः साध्यते । अपि च विष्णोः पदं चरणं धामवा विष्णु भक्त्यैव सिद्धं लब्धं भवति न त्वन्यसाधनैरिति श्लेषार्थः ।

अधिकारविशेषमाह—गङ्गे ति । अस्य ग्रन्थस्य अतः परो योविधि वर्त्तक्यः सगङ्गा स्त्रोतो वदेव भवेत् । यत्र उपाधि विशेष कथनं न विद्यते तत्र परविधिः पूर्वं विधिं नारोहति । गङ्गास्त्रोतो यथा उपाधौ वाधाप्राप्तायां सत्यां प्रतीपं गच्छति तथा विशेषकथने सति परविधिः पूर्वमारोहतीत्यर्थः । प्रायशस्तु पूर्वपूर्वविधिः परं पर विधिमनपेक्ष्यैव सिद्धतीति फलितार्थः । परविधेः पूर्वत्रारोहणं—‘पतिस्त्वसमासे’, “धातोरीदूतोरियुवौ” इत्यादिषु ज्ञेयम् ।

अमृता०—८. सररामयोरिति वृत्तावेव व्याख्यातम् । विष्णुपदान्त इति किम्—अस्ति, कुर्यात् । एवमिति—वृत्तिः सूत्रविवृतिः । तत्त्वक्षणं यथा—सूत्रस्थितानां वर्णनामर्थनाच्च प्रतीतये । विशुद्धा चाधिका व्याख्या वृत्ति रुक्ता मनोषिमिरिति ।

यथा येन प्रकारेण सूत्रेण हि अर्थसिद्धिरर्थागमः स्यात् तथा तेन प्रकारेण क्रियते सूत्रमितिशेषः । इतः प्राग् वृत्ति कथनन्तु सन्धिसुवोधाय ज्ञेयम् । साधनानुक्रमार्थः साधन परिपाठ्यर्थः अधिकारेण दूरानुवृत्त्या न सूच्यते सूत्रं न क्रियते । अन्यथा अधिकारेण सूत्रे कृतेतु अन्नप्रवोधनी वालवोधोपयोगिनी भिन्ना प्रक्रिया मृग्येत अन्वेषणीया स्यात् । अयं

बाल०—नामेति नाम संज्ञा यस्य स नामसंज्ञः शब्दः । पुंलिङ्गः पुरुषोत्तमसंज्ञ इत्यादीनि संज्ञासूत्राणि । तत्रेति तत्र चतुर्विधे सर्वेश्वरान्ताः पुंलिङ्गा उच्यन्ते इति शेषः । तत्रेति तत्र सर्वेश्वरान्त पुंलिङ्गेषु ॥७॥

बाल०—विष्णुः । गङ्गे ति अस्य ग्रन्थस्य अतः परो यो विधिवर्त्तक्यः, स गङ्गा स्त्रोतवदेव भवेत् । अतो हेतोः परो विधिः पूर्वं नारोहति गङ्गास्त्रोतोऽपि पूर्वं नारोहतीति ।

साधनानुक्रमार्थश्च नाधिकारेण सूत्र्यते ।
 अन्यथा प्रक्रियाभिन्ना मृग्येताज्जप्रबोधनी ॥
 प्राड्निमित्तं तथा कार्यो कार्यं परनिमित्तकम् ।
 अत्रक्रमेण वक्तव्यं प्रायः सूत्रेषु सर्वतः ॥
 क्रमाच्च पञ्चमी षष्ठी प्रथमा सप्तमी तथा ।
 वच्चित् परनिमित्तस्य स्थाने विषयसप्तमी ॥
 कार्यं पूर्वे पञ्चमीस्थात् कार्यस्थाने तु षष्ठिका ।
 कार्यं तु प्रथमा वाच्या सप्तमी विषये परे ॥
 विना योगे निषेधार्थं द्वितीया वच्चिदिष्यते ।
 सर्वाङ्गां सप्तमवो यत्र स्वल्पान्यङ्गानि तत्रतु ॥
 अतो वालकवोधाय पदंविच्छिद्य मूर्द्धनि ।
 अङ्गादेया विष्णुभक्ति व्यक्तार्थं सर्वसूत्रतः ॥

यथा स-र-रामयोरिति कार्यस्थानं, विष्णुसर्ग इति कार्यं, विष्णुपदान्तो
 विषयः । परनिमित्तं पूर्वनिमित्तश्चात्र नास्ति । तत्तच्च यथा—इद्य-
 मेवयः सर्वेष्वरे इत्यत्र परनिमित्तं सर्वेष्वरः । ततःशश्छोवेत्यत्रपर्वनिमित्तं

भावः—पाणिन्यादि शब्द शास्त्रेषु गुण-वृद्धिं तत् प्रतिषेधादि कार्याणां यद् यत्र वक्तुमारव्यं
 तत्रैवाधिकारेण तत् सर्वमेवोक्तम् । यथा प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादे गुणप्रतिषेधः ।
 आख्यातकृत् सन्नादिषु यत्र यत्र गुणप्रतिषेध आवश्यक स्तत् सर्वं एवानुवृत्या तत्रैवाध्याये
 सन्निवेशिताः । एवमधिकारेण सूत्रकरणे सूत्रकारस्य श्रम लाघवमवश्यं स्यात् किन्तु
 कोमलमतिलात्राणां साधनकमः क्लिष्टं तरो भवेत् । अतः साधन क्रमसुवोधार्थमस्मद्
 ग्रन्थकृता द्वारानुवृत्तिरूपं क्लिष्टपर्वत्यविहाय प्रायशो यत्र यत् प्रयोजनं तत्र खलु तदुक्तम् ।
 तथैव प्रक्रिया कौमुदी कारादिभिः पाणिनीयाश्चाध्याय सूत्राणां विपर्यय-सन्निवेशेन सुगमी-
 कृतः साधनकमः । भट्टोजीदीक्षितोऽपि तमेवानुसारां । कार्यपूर्वे पञ्चमीत्यादिग्रन्थः
 पूर्वोक्तस्यैव विवरणम् । सर्वाङ्गेति—एतावताग्रन्थेन कथितानि प्राड्निमित्तादि पञ्चाङ्गानि
 सर्वेषु सूत्रेषु हि भवेयुरिति न नियमः, प्रायः शब्दोपादानात् । सूत्रार्थ-सुवोध प्रकार-
 नाचष्टे—अत इति । सर्वसूत्रत इति—सप्तमां तसिः, सर्वसूत्रेषित्यर्थः । उदाहरणैः
 स्फुटीकरोति—तौनिषिद्धावित्यन्तेन । शसादीति—शसादिना सह जसो भेद ज्ञापनायेत्यर्थः ।
 आदि शब्देन डसादेश्च ग्रहणम् । एवमिति—डसेरिरामो डसा सह भेदज्ञापनाय ज्ञेयः ।

एतद्व्यवस्थाया स्थानमाह यत्रेति तस्माद्यत्र उपाधिविद्यते तत्र परविधिः पूर्वमारोह-
 तीत्यर्थः । अत्र उपाधिविशेषणम् । गङ्गास्रोतसोऽपि समुद्रनिकटे पूर्वारोहणं भवतीति ।

विष्णुदासः । विष्णुजन इत्यादौ हरौ विनेति तौ निषिद्धौ । तदेवं प्रथमाया एकवचने कृष्णः । द्विवचने कृष्ण औ, ओढ़ये औ कृष्णौ । वहुवचने जस् जइत् चिह्नार्थः शसादि भेद ज्ञापनाय । एवमुत्तरत्रापि । त्रिविक्रम-विष्णुसर्गी, कृष्णाः । द्वितीयैक वचने कृष्ण अम् ।

८. दशावतारादमूर्शसो ररामहरः ।

कृष्णम् । हरोऽयं ज्ञापयति—सूत्रे प्रत्ययरूपनिमित्तादन्यस्य हरोऽपि महाहरः । तेनैकात्मकमात्र निमित्तत्वान्नत्रिविक्रमः । द्वितीया द्वित्वे-कृष्ण औ कृष्णौ । पूर्ववद् वहुत्वे कृष्ण शस् । शइत्, अरामहरः । एकदेशविकृतमनन्यवत्, तथापि तत्त्वामैवेत्यर्थः । ततश्च,—

त्रिविक्रम इति—दशावतार एकात्मके मिलित्वेत्यादिना । विष्णुसर्ग इति—स-र-रामयो रित्यादिनेति शेषः ।

अमृतां—८. दशावतारादिति । दशावतार संज्ञकवर्णद्वितरयोरमूर्शसो विष्णु भक्त्यो ररामो हरो भवति । तेनकृष्णमिति सिद्धम् । ननुकृष्णमित्यत्र महाहरत्वानुकृते ररामस्य स्थानिवत्वेन दशावतार इत्यादिना त्रिविक्रमः कथं न प्रवर्तते ? तत्राह—हरोऽपि यमिति अयं हर एतज् ज्ञापयति—सूत्रे शङ्कितविधिसूत्रे प्रत्यय रूपं यन्निमित्तं ततोऽन्यस्य हरोऽपि महाहरो मन्तव्यः । प्रकृते अमोऽरामः शङ्कित-त्रिविक्रम विधानस्य विधान सूत्रे नहि प्रत्ययरूपनिमित्तं किन्तु एकात्मकमात्रं निमित्तम् । तस्मादस्य महाहरत्वान्न त्रिविक्रम इत्यर्थः । कृतेच तस्मिन् हरविधिरिह निरर्थकः स्यादिति विधान सामर्थ्याच्च हरस्यास्य महाहरत्वं मन्तव्यम् । ननुचाग्रिम सूत्रे त्रिविक्रमः शसीति शस एवपर निमित्तातोक्ते: शसोऽराम हरेसति शस्त्वाभावं कथं त्रिविक्रम-प्रवृत्तिरिति शङ्कां समादधदाह—एकदेशेति । तेनात्र शसोऽराम हरेऽपि—सराम एव शस्नामा भवतीति फलितम् ।

परविधिः पूर्वारोहणस्तु पतिस्त्वसमास इत्यत्र ख्यत्याभ्यां डसिडसोरुस् इत्यादिषु च व्यक्तं भविष्यति ॥८॥

बाल०—सरराम । एवमिति वृत्तिः सूत्रार्थं विवरणम् । विस्तरशङ्क्या बाहुल्य-भयेन । यथा येन प्रकारेण सत्रेणवार्थसिद्धिः स्यात्, तथा तेन प्रकारेण कियते सूत्रमिति शेषः । ननु किं सूत्रलक्षणं किञ्चिद्वृत्तिलक्षणमित्यपेक्षायां तयोर्लक्षणाच्च दर्शयते । स्वाल्पक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् । अस्तोभमनवद्यच्च सूत्रं सूत्रविदो विदुरिति माध्वमाध्योक्तम् । सूत्रस्थितानां वर्णनामर्थनाच्च प्रतीतये । विशुद्धा चाधिकाव्याख्या वृत्तिरूपा मनीषिभिरिति । साधनेति साधनान्तकमार्थं साधनपरिपाण्यर्थम् । अधिकारेण अनुवृत्तेत्यर्थः । न सत्र्यते न सूत्रं कियते एतत् एतत् प्रकरणपरं बोद्धवव्यम् । अन्यथा अधिकारे स्वीकृते सति अज्ञप्रबोधनी भिन्ना पृथक्प्रक्रिया मृग्येत मृग्या स्यादित्यर्थः । प्राङ्गनिमित्तमिति अत्र ग्रन्थे प्राङ्गनिमित्तादिकं प्रायः सर्वतः सर्वेषु सूत्रेषु क्रमेण वक्तव्यम् ।

१०. दशावतारस्य त्रिविक्रमः शसि तस्मात् सोनः पुंसि ।

अराम उच्चारणार्थः कृष्णान् । तृतीयैकत्वे टा,--

अमृतात्—१०. दशावतारस्येति । शसि प्रत्यये परे दशावतारस्य त्रिविक्रमः स्यात् तस्मात् कृत्-त्रिविक्रमात् परस्य सरामस्य नरामो भवति, पुरुषोत्तमे विषये । दशावतारस्येति किम्—कृष्णरामः ।

पुंसीतिकिम्—धेनुः । तस्मादिति किम्—वेघसः ।

प्राङ्-निमित्त-कार्यि कार्य-परनिमित्तानि सर्वं सूत्रेषु न सन्तीति प्रायः शब्दोपादानाम् । प्राङ्-निमित्तमित्यत्र परनिमित्तमित्यत्र च श्यामरामः समाप्तः कर्तव्यः । परनिमित्तकमिति स्वार्थं कप्रत्ययः । क्रमाच्चेति पञ्चमीष्टी प्रथमा सप्तमी च सर्वं सूत्रेषु क्रमात् वक्तव्येति शेषः । पञ्चम्यादयो वक्तव्या इत्युक्तं, कुत्र का वक्तव्या इत्यपेक्षयामाह कार्यपूर्वं इति कार्यपूर्वं प्राङ्-निमित्ते पञ्चमी वाच्या स्यात् । कार्यस्थाने कार्यिणि क्वचित् परनिमित्तस्य स्थाने विषयसप्तमीति यदुक्तं तदेवाच्छ्रेणे विषय इति ।

विनेति । अङ्गशब्देनात्र प्राङ्-निमित्तादिकमुच्यते । अत इति विच्छिद्य पृथक् कृत्वा व्यक्तिः प्राकृत्यम् । सर्वं सूत्रेषु । प्राङ्-निमित्तादिकं दर्शयति यथेति तत्तच्चेति परनिमित्तं पूर्वनिमित्तञ्च । विष्णुजन इत्यादौ विष्णुजने विष्णुजनो वा हरौ विनेति सूत्रे । शसादिति शसादिना सह जसो भेदस्य भिन्नताया ज्ञापनायेत्यर्थः । अथवा शसादेभेदस्य ज्ञापनाय जसा सहेति शेषः । ननु जसो जरामेण कृतेषि भेदो भवत्येव, तर्हि शसादिभेदज्ञापनायेति किमर्थमुक्तं तदेतत्विन्यम् । अथवा अस् इति कृतेषि शसा सह भेदः स्यात् किन्तु तद्वितासा सह भेदो न स्यात्, अतो जसिति कृतं, शसादीत्यत्रादि पदं एतज् ज्ञापयति । अकारान्ताज्जसोऽसुक् क्वचिद्वक्तव्यः । देवासः स्यौभ्यासः इति पदं केचित् केचित् छान्दसं वदन्ति । एव मुत्तरत्वेति शसः शरामः जरामादि भेदज्ञापनाय डंसेरिरामश्च डंसुभेदज्ञापनाय इत्यर्थः ॥६॥

बाल०—दशा । ननु कृष्ण कृष्णमित्यत्र अरामे हरे कृते दशावतार इत्यादिना त्रिविक्रमः कस्मान् स्यादिति चेत्तत्राह हरोऽयमिति । यदि हरे कृतेषि त्रिविक्रमो भविष्यति, तदायं हरो निरर्थकः एव भूतः तस्माद्वरोऽयं ज्ञापकः । किं ज्ञापयतीत्यपेक्षायामाह—सूत्रं इति सूत्रे यत्र कुत्रचित् सूत्रविशेषे प्रत्ययरूपेण यन्निमित्तं, ततोऽन्यस्य हरोऽपि महाहरो भवतीति । हरोऽपि महाहर इत्यनन्तरमितिशब्दप्रयोग उचितः अत्र अमोऽरामः त्रिविक्रमविधानसूत्रे प्रत्ययरूपेण न निमित्तं, किन्तु एकात्मकरूपेण; अतोऽस्य हरो महाहरः, अतो न त्रिविक्रमः । एकात्मकमात्रनिमित्तत्वादिति त्रिविक्रमविधानस्येति शेषः । ननु अराम हरे कृते कथं शसः परतेति चेत्तत्राह एकदेशेति । अनन्यवदित्यस्यार्थमाह तथापीति । यद्यपि एकदेशविकृतं, तथापि तत्रामैवेत्यर्थं इति । अतोत्र सरामः शसनामैव ॥१०॥

११. अरामान्तः कृष्णसंज्ञः ।

१२. कृष्णात् टाइनः ।

टेति सूत्रवलेन लुप्तषष्ठी, स्पष्टतार्थमसन्धिः । एवमन्यत्रापि । कृष्णइत्, अद्वयमिद्ये ए कृष्णेन । द्वित्वे—कृष्ण भ्याम्—

१३. कृष्णस्य त्रिविक्रमो गोपाले ।

एकवर्णोविधिरन्ते प्रवर्तते; कृष्णाभ्याम् । वहुत्वे—भिस्—

१४. कृष्णादभिस ऐस् ।

एद्ये ऐ, विष्णुसर्गः कृष्णः । चतुर्थ्येकत्वे—डे ।

१५. कृष्णात् डेर्यः ।

कृष्णस्य त्रिविक्रमः, कृष्णाय । द्वित्वेभ्याम् कृष्णाभ्याम् । वहुत्वेभ्यस् ।

अमृता०—११. अरामान्तइति संज्ञासूत्रम् । ननु कृष्णशब्दसाधन प्रक्रमएवैतत्संज्ञाकरण मुचितमासीत्, तत्कथं द्वितीया विष्णुभक्ति पर्यन्तं साधनान्तरमिति चेत्तत्रोच्यते—स-र-रामयोरित्यादि सूत्रवर्णेण इरामान्तोरामान्तादि शब्दा अपि साध्यन्त इत्यत एषामविशेषणोक्तिः, इतः परेषान्तु सूत्राणामरामान्ता एवविषया ज्ञेयाः ।

अमृता०—१२. कृष्णादिति । अरामान्तशब्दादुत्तरे टास्थाने इन इत्यादेशः स्यात् । सूत्रवलेनेति तेषुवेदवद् व्यवहारः सूचितः । टा इन इति—अनित्यं सूत्रनिहंशे इति परिभाषावलेन असन्धिः स्पष्टार्थमिति तूद्देश्यकथनम् ।

अमृता०—१३. कृष्णस्येति । गोपालेपरे कृष्णसंज्ञकनाम्नत्रिविक्रमः स्यात् । ननु कृष्णस्य त्रिविक्रम इत्युक्ते अरामान्तशब्दस्य त्रिविक्रम इत्येव लब्धम्, सच पुनराद्यक्षररस्य मध्यमाक्षरस्य, अन्त्याक्षरस्यवेतिसंशये परिभाषामाचष्टे—एकवर्णति । एक वर्णमाश्रित्य योविधिः प्रवर्तते सतु अन्ते एव भवतीति ज्ञेयम् ।

अमृता०—१४. कृष्णादिति । कृष्णाद भिसः स्थाने ऐस् आदेशोभवति । एस् कृतेऽप्यत्र सिद्धे ऐस् करणं निर्जरसैः सिद्धार्थम् ।

अमृता०—१५. कृष्णादिति । कृष्णात् डेविभक्तिस्थाने यहत्यादिश्यते । त्रिविक्रम इति कृष्णस्य त्रिविक्रमो गोपाल इत्यनेन ।

बाल०—दशा । तस्मात् । तस्मात् त्रिविक्रमात् । अराम इति नरामस्येति शेषः ॥

बाल०—अरा । संज्ञासूत्रमेतत् ॥१२॥

बाल०—कृष्णात् । ननु टा इन इत्यत्र टेन इति कस्मात् स्यादिति चेत्तत्राह स्पष्टतार्थमिति । एवमिति अन्यत्राप्यऽसन्धिः स्पष्टतार्थ एवेत्यर्थः ॥१३॥

बाल०—कृष्णस्य । ननु कृष्णस्य त्रिविक्रम इत्युक्ते अन्ते भवतीर्ति कुतो लभ्य इति चेत्तत्राह एकवर्ण इति । एकोवर्णो यत्रेति विग्रहः ॥१४॥

१६. कृष्णस्य एवैष्णवेवहुत्वे ।

कृष्णभ्यः । पश्चम्येकत्वे—कृष्ण उसि—

१७. कृष्णात् उन्सेरात् ।

कृष्णात् । पश्चमी द्वित्व-वहुत्वयोश्चतुर्थीवत्,—कृष्णभ्यां कृष्णेभ्यः ।
षष्ठ्येकत्वे—कृष्ण उसि—

१८. कृष्णात् उन्सः स्यः ।

कृष्णस्य । द्वित्वे ओस् ।

१९. कृष्णस्य एओसि ।

एअय् कृष्णयोः वहुत्वे आम्

२०. वामन गोपीराधाभ्यो नुङ्गामि ।

ईद्यशोविधिविष्णुः । उटावितौ । टिदागमः परसम्बन्धी, किदागमः
पूर्वसम्बन्धी ।

अमृतां—१६. कृष्णस्येति । वहुत्वे विषये वैष्णवे परे अरामान्तशब्दस्यान्त वर्णस्य
एरामो भवतीत्यर्थः । वहुत्व इति किम्—कृष्णाभ्याम् ।

अमृतां—१७.—१८. सूत्रद्वयं सुगमम् ।

अमृतां—१९. कृष्णस्येति । कृष्णसंज्ञकस्यान्तस्य एरामो भवति ओस् प्रत्यये परे ।

अमृतां—२०. वामनेति । ईक्लक्ष्मी गोपीसंज्ञा, आवन्तलक्ष्मीराधासंज्ञा च
वक्ष्येते । आमि परे वामनादिभ्यो नुट् स्यात् । ईद्यशेति—प्रकृति-प्रत्यययो मंडये आगमनाद्
विष्णु रागमन्त्र । परसम्बन्धी प्रत्ययसम्बन्धी । पूर्व सम्बन्धी-प्रकृतिसम्बन्धी । तेनास्य
नुटः टित्वात् प्रत्यय सम्बन्धित्वेन आमविष्णुभक्त्या सह मेलनं, ततः कृष्ण नाम् इत्येवं
स्थितम् ।

बाल०—कृष्णात् । सुगमम् । 'कृष्णाद्विस् ऐस्' इत्यत्र ऐस् न कृत्वा ऐस् विधानं
निर्जरसैः सिद्धवर्थम् ॥१५॥

बाल०—कृष्णात् उन्सेरिति सुगमम् । कृष्णस्येति 'कृष्णस्य त्रिविक्रमो गोपाले'
इत्यनेन त्रिविक्रमः इत्यर्थः ॥१६॥

बाल०—कृष्णस्य । वहुत्वे विषये वैष्णवे परे इत्यर्थः । 'एकवर्णो विधिरन्ते
प्रवर्तते' इति न्यायेन अन्तस्य स्थाने एरामो भवतीति शेयम् ॥१७॥

बाल०—कृष्णात् सुगमम् ॥१८॥

बाल०—कृष्णात् सुगमम् ॥१९॥

बाल०—कृष्णात् । सुगमम् । कृष्णस्य अन्तस्य स्थाने एरामो भवति ॥२०॥

२१. तत्र टिन्मितौ सर्वत्रागमौ शनमं विना उगन्त किञ्च ।

यथा नुक् युक् तुक् युक् इत्यादि । ततो नामि स्थिते—

२२. वामनस्यत्रिविक्रमो नामि, नृशब्दस्य तु वा, नतिसृ चतस्रोः ।
कृष्णानाम् । कृष्णस्य त्रिविक्रम इत्यनेनैव सिद्धत्वेऽपि सूत्रस्य प्रयोजनं
हरीणामित्यादावेव । सप्तम्येकत्वे कृष्ण डि, डइत् । अद्यमिद्ये एः
कृष्णे । द्वित्वे ओस् कृष्णयोः । वहुत्वे सुप् परामदित् । कृष्णस्य एः

२३. ईश्वर-हरिमित्र-कडेभ्यः प्रत्यय-विरिञ्चि-सस्य षो, नुमविष्णु-
सर्ग-व्यवधानेऽपि, नतुविष्णुपदाद्यन्त सातीनाम् ।
कृष्णेषु । अथ सम्बोधने, तत्रहे शब्दः सम्बोधनसूचकः ।

अमृतां—२१. तत्रेति । टित् मित्र सर्वत्र आगमः स्यात् तथा उक् अन्ते यस्य
तादृशः किञ्च आगमः स्यात् । परिभाषेयम् । तत्र च प्रकृति-प्रत्यययोर्मध्ये आगमनात्
तथा मित्त्वाद्व शनम आगमत्वे प्राप्ते निषिद्धयति—शनमं विनेति । तस्य तु विकरणाख्या
प्रत्यय संज्ञा चाग्रे वक्ष्यते ।

अमृतां—२२. वामनस्येति । नामिपरे वामनस्य त्रिविक्रमो भवेत् । नृशब्दस्यतु
स वा भवेत् । तिसृ-चतसृशब्दयोस्तु तस्मिन् परे त्रिविक्रमो न स्यात् । अत्र अर्थवदग्रहण
परिभाषया नामीति पष्ठीवहुत्वस्य नुटा सह आम् प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्, तेन अङ्गनामित्यादौ
न त्रिविक्रमः । ननु कृष्णस्य त्रिविक्रम इत्यनेन हि कृष्णानामिति सिद्धे निष्फलमेतत्लक्षण
मिति चेत्तत्राह—कृष्णस्येति । पर्जन्यबल्लक्षण प्रवृत्तिरिति न्यायात् प्रयोजना-प्रयोजनेषु
सर्वत्रलक्षण व्याप्तौ न क्षतिरिति भावः ।

ननु कृष्णानामित्यत्र त्रिविक्रमात् पूर्वं वामनं हृष्टवैव नुट उत्पत्तिः, अतस्तस्य
सन्निपात लक्षणत्वेऽपि कथं तमेव वामनं निघनन् पुनस्त्रिविक्रम उत्पद्यत इतिचेत् ? मैवम्
आरम्भ सामर्थ्यदेव सन्निपातविधिं वाधतेऽयं त्रिविक्रमविधिः । नतिसृ-चतस्रोरिति निषेधो
हि तज्ज्ञापकः । तथाहि—सन्निपातलक्षणे यदि तिसृ-चतसृशब्दयो वर्मिनाङ्गस्य पूर्वत एव
त्रिविक्रमो वाधितः स्यात्तर्हि किमनेन निषेधेन ? अतो हि ज्ञायते सन्निपातविधे वर्धकोऽयं
त्रिविक्रमविधिरिति ।

अमृतां—२३. ईश्वरेति । ईश्वरात् हरिमित्रात् करामात् डरामात् च परस्य प्रत्यय
सस्य विरिञ्चि सस्य च मूर्द्धन्यादेशो भवेत्; नुमा विष्णुसर्गेण च व्यवधानेऽपि तस्य पत्व

बाल०—वामन । ई-ऊलक्ष्मीर्गोपीसंज्ञा । आवन्तलक्ष्मी राधासंज्ञा । परसम्बन्धी
प्रत्ययसम्बन्धी । पूर्वसम्बन्धी प्रकृतिसम्बन्धी ॥२१॥

बाल०—तत्र शनमं विना सर्वत्र टिन्मितौ आगमौ, उगन्तकिञ्चागमम् । परिभाषा
सूत्रमेतत् ॥२२॥

२४. सम्बोधने सुरुद्धसंज्ञः ।

सम्बुद्धिश्च ।

२५. एओ वामनेभ्यो वुद्धस्यादर्शनम् ।

हे कृष्ण । द्वित्व-वहृत्वयोः पूर्ववत् —हेकृष्णौ हे कृष्णाः । अत्र प्रथमैव । हेशब्दाद्यभावेऽपि—कृष्ण कृष्णौ कृष्णाः । विष्णुभक्तिहरेऽपि तदर्थवृत्तवान्नामत्वातिक्रमः । ततः कृष्ण यासि कृष्ण भासीत्यादौ नामविशेषस्य विहितं त्रिविक्रमादिकं न स्यात् । एवं रामः रामौ रामा इत्यादि ।

२६. र-ष-ऋद्येभ्यो नस्य णः, सर्वेश्वर-ह-य-व-कर्वग-पर्वग-द्यवधानेऽपि, समान विष्णुपदे नतु विष्णुपदान्तस्य ।

मतम् । नत्विति—आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ, विष्णुपदस्य आद्यन्तौ विष्णुपदाद्यन्तौ; तौच सातिश्च विष्णुपदाद्यन्त सातय स्तषां तुनपत्वम् । विष्णुपदस्य आदावन्ते च स्थितस्य प्रत्यय विरिच्चि सस्य तथा साति प्रत्ययस्य च सस्य षट्वं न भवतीति सरलार्थः । नुम शब्देन विष्णुचक्रमेव लक्ष्यत इत्यग्रे वक्ष्यते । ईश्वरादेः किम्—रामस्य, पयः सु । प्रत्यय विरिच्चि सस्येति किम्—सुपीः सुपिसौ । नतु विष्णुपदाद्यन्तेति किम्—मधुसेकः व्यतिसे, हरिः अस्तौः । अग्निसात् । विरिच्चि सरामस्यतु केवलस्यैव ग्राहां, तेन तिसः प्रभृतौ न ।

अमृता०—२४. सम्बोधन इतिसंज्ञा सूत्रम् । सम्बोधने सु-विष्णुभक्ति वुद्ध संज्ञकः स्यात् । बुद्धो भगवतो दशावतारेषु नवमः ।

अमृता०—२५. एओ इति । एरामात् ओरामात् वामनाद्व परस्य वुद्धस्यादर्शनं हरो भवेत् । तत्र सम्बोधने प्रथमैवेति कारके वक्ष्यते । कृष्णस्य त्रिविक्रम विधानसूत्रे गोपाल वर्णमात्रग्रहणेन प्रत्ययरूपनिमित्ताभावात् वुद्धस्य महाहरत्वं सिद्धम् ततश्च कृष्ण यासीत्यादौ त्रिविक्रमे प्राप्ते तन्निरासाय सिद्धान्तयति—विष्णुभक्तिहरेऽप्येति । तदर्था वृत्तत्वाद् विष्णुभक्त्यर्थयुक्तत्वात् नामत्वातिक्रमो नामत्वलङ्घनं नामत्वाभाव इत्यर्थः । तत्र नाम विशेषस्य विहितस्त्रिविक्रम इहतु न स्यात्, नामत्वातिरिक्तत्वादितिभावः ।

अमृता०—२६. रघेति । ररामात् षरामात् ऋद्याद्व परस्य समानविष्णुपदस्थस्य नरामस्य मूर्दन्यादेशः स्यात् सर्वेश्वरादि व्यवधानेऽपि । विष्णुपदान्ते स्थितस्य तु नरामस्य

बाल०—वामनस्य । नृ शब्द न तिसृ । ननु कृष्णानामित्यत्र ‘कृष्णस्य त्रिविक्रम गोपाले’ इत्यनेनैव त्रिविक्रमो भविष्यति, किमनेन लक्षणेन इति चेत् तत्राह कृष्णस्येति । तस्मात्तदर्थं क्रियमाणं सुत्रमेतदर्थमपीति ॥२३॥

बाल०—ईश्वर । आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ विष्णुपदस्याद्यन्तौ विष्णुपदाद्यन्तौ विष्णुपदाद्यन्तौ च सातिश्च विष्णुपदाद्यन्तसातयस्तेषाम् । विष्णुपदस्यादावन्ते च स्थितस्य सातेश्च सस्य षो न भवतीत्यर्थः ॥२४॥

बाल०—सम्बो । संज्ञासूत्रमेतद् ॥२५॥

रामान् रामेण इत्यदि । वामन नारायण गोविन्द वैकुण्ठवासुदेवादयोऽप्यरामान्ताः कृष्ण तुल्याः । कुर्वन्नस्तीत्यादौ द्वित्वे पूर्वनरामस्य न णत्वं तत्राकरणात् ।

अइति शब्दोऽप्याद्यन्तवदेकस्मिन्निति न्यायेन अरामान्तः । अः औ आ इत्यादि । सम्बोधने अन्यत्र चानित्यमिष्यत इति हे अ । दूराद्वाने हैहयोरेव महापुरुषत्वं मतम् । हे अ, अहे अ ।

२७. शसादयो यदुसंज्ञाः ।

रामादि पूर्वनिमित्त सत्त्वेऽपि न णत्वम् । यथा सर्वेश्वरादिव्यवधाने-चरणं हरिणा तरुणः शरेण; वहेण कार्येण श्रवणं अकर्णेण मूर्खेण वर्गेण अर्धेण शृङ्गेण, सर्पेण अर्बणा दर्भेण शर्मणेत्यादि । एषामनेकै युगपद व्यवधानेऽपि स्यात्—पर्यायिण वैषम्येण । अपिशब्दाद अव्यवधाने च, यथा—शीर्णं, तिसृणां पूष्णाम् नृणामित्यादि । अन्तरालपाठेन विष्णुचक्रविष्णुसर्गयोः सर्वेश्वरत्वच्च, अतस्तद व्यवधानेऽपि णत्वमिष्यते । यथा—वृङ्गणं, उरः केण । समानविष्णुपदे इति किम्—अग्निर्नयति । विष्णुपदान्तस्य तु न—रामान् । कुर्वन्नस्तीति—वामनाद डणना द्विः सर्वेश्वर इत्यनेन नरामस्य द्वित्वे सति पूर्वनरामस्य विष्णुपदान्तत्वाभावात् सर्वेश्वरादिव्यवधाने पूर्वनिमित्तेच सति णत्वं प्राप्नोति, ततु न स्यात् तत्राकरणात् । “असिद्धरूपं नत्याज्य” मिति प्रतिज्ञा सिद्धचर्यमिदं तत्रैव कर्तुं योग्यमपि यन्नकृतं तस्मात् तत्राकरणादित्यर्थः । किञ्च विधानसामर्थ्यादिव न स्वादित्यपि वक्तव्यम् ।

“आद्यन्तवदेकस्मिन्” इतिपाणिनीयसूत्रम् । तत्र व्याख्याच काशिकानुसारिणीः— असहायस्य आद्यन्तोपदिष्टानि कार्याणि नसिध्यन्तीति अतिदिश्यते । सम्मर्थं वतिः । एकस्मिन् वर्णं आदाविव अन्तेइव च कार्यं भवतीत्यर्थं इति । हे अ इत्यत्र सम्बोधने सन्धेरनित्यता विलम्बेनोद्घार्यत्वादितीह वीजम् ।

अमृताऽ—२७. शसादय इतिसंज्ञासूत्रम् । यदुश्चंद्रवंशीय राज्ञो ययाते ज्येष्ठपुत्रः । धर्मशीलस्य यदोर्वंशे भगवानवततारेति श्रीमद्भागवतमनु सन्वेयम् ।

बाल०—ए-ओ । अत्र सम्बोधने ननु कृष्णायासीत्यादौ कृष्णस्य त्रिविक्रमो गोपाले’ इत्यनेन त्रिविक्रमः कस्मान्न स्यादिति चेतत्राह—विष्णुभक्तीति-तदर्थावृतत्वादिति कृष्णेत्यस्येति शेषः । अतिक्रमो लङ्घनम् अभाव इति फलितार्थः । ननु कृष्ण यासीत्यादौ बुद्धस्यदर्शनमेव विहितम् अतो गोपालस्य परता नास्तीति कथं त्रिविक्रमो भवतु? उच्यते अरामान्तात् परस्य बुद्धस्य सूत्रे प्रत्ययरूपेण निमित्तत्वाभावादस्य हरोऽपि महाहर इति त्रिविक्रमः स्यात् ॥२६॥

बाल०—रप । समानविष्णुपदे एकविष्णुपदे रामानित्यत्र विष्णुपदान्तत्वान्न णत्वं कुर्वन्निति । तत्राकरणादिति असिद्धरूपं न त्याज्यमिति प्रतिज्ञासिद्धचर्यमिदं तत्रैव कर्तुं योग्यमपि, तस्मात् तत्राकरणान्नात् णत्वम् ।

२८. अत्र पाद-दन्त-मास-यूष-इत्येतेषां पद-दत्त-मास-यूषन् इत्येते
विरिञ्चयो यदुषु वा ।

अत्र पाद-दन्त-मास-यूष-इत्येतेषां पद-दत्त-मास-यूषन् इत्येते विरिञ्चयो
यदुषु वा ।

२९. यथासंख्यमनुदेशः समानाम् ।

कार्यिणां कार्यणाश्च प्रकृतीनां प्रत्ययानाश्च तुल्यसंख्यानां सतां यद्
विधानं तद् यथासंख्यं स्यात् । प्रथमस्य प्रथमं द्वितीयस्य द्वितीय-
मित्यादि क्रमेणेत्यर्थः ।

प्रयोगाश्च पक्षे विष्णुजनान्तवज्ज्ञेयाः । यथा पदः पादान् पदा पादेन
पदभ्यां पादाभ्यामित्यादि ।

अथ धातुस्वरूप आरामान्तो विश्वपा शब्दः ।

विश्वपाः विश्वपौ विश्वपाः । विश्वपाम् विश्वपौ । विश्वपा शस्

३०. आरामहरो यदुसर्वेश्वरे नत्वापः ।

विश्वपः । विश्वपा टा, टइत् विश्वपा विश्वपाभ्याम् विश्वपाभिः । विश्वपा
डे, डइत् विश्वपे विश्वपाभ्याम् विश्वपाभ्यः ।

अमृता०—२८. यथेति । पदादि विरिञ्चीनां व्युत्क्रमत्वं निरस्यति—यथासंख्य
मित्यतिदेशेन । अत्र पदादीनां चतुर्णां प्रकृतीनां पदादय श्रत्वार आदेशाः क्रमेणैव
भवन्तीत्यर्थः । इति अरामान्ता व्याख्याताः ।

अथधातुस्वरूप इति विवन्तत्वात्; वक्ष्यते च स्वयमेव लुप्तं कृतप्रत्ययस्य
(क्विवन्तस्य) धातुत्वेऽपि नामत्वमिति ।

अमृता०—३०. आरामेति । यदुश्चासौ सर्वेश्वरश्चेति यदुसर्वेश्वर स्तस्मिन् परे
आरामहरो भवति । किन्तु ख्लियां विहितस्य आप आरामहरो न भवति । अत्र यदुसर्वेश्वर
इत्यनेन यदूनां पौडशप्रत्ययानां मध्ये सर्वेश्वरादौप्रत्यये परे इत्यवगन्तव्यं, प्रत्ययग्रहणे

आद्यन्तेति एकस्मिन् आद्यन्तयोरिव कार्यं भवति । आदावन्ते च यथा तथैवेत्यर्थः ।
आद्यन्तवदेकस्मिन्नित्यत्र आद्यन्तवदेकमिति पाठः सभ्यः । अन्यत्र चानित्यमिष्यते इति
सन्धेवनित्यता । महापुरुषत्वं मतमिति हैहेप्रयोगे तु हैहयोरेवानन्त्ययोरपि इत्यनेनेति
शेषः ॥२७॥

बाल०—शसा । संज्ञासूक्तमेतत् ॥२८॥

बाल०—अत्र पाद । यथा चात्र पदादयः कार्यिणः पदादयः कार्याणि । अथेति ।
धातुस्वरूप इति क्विवन्तादिति शेषः ॥२९॥

विश्वपा उसि, इडावितौ विश्वपः विश्वपाभ्याम् विश्वपाभ्यः । विश्वपा उस्, उद्दित् विश्वपः विश्वपोः विश्वपाम् । विश्वपाडि, उद्दित् विश्वपि विश्वपोः विश्वपाम् । सम्बोधने पूर्ववत् हे विश्वपाः इत्यादि । एवं सोमपाप्रभृतयः । आराम हरविधिर्वा हाहा अव्जादीनामिति क्रम-दीश्वरादयः । हाहः हाहान् अव्जः अव्जान् । हाहा अव्जा इतिकेचित् । एवं अग्रेगाः उदधिक्राः ।

इरामान्त हरिशब्दः ।

३१. इउरामान्तो हरिसंज्ञः ।

अग्निधिश्च । हरिः ।

३२. हरित औ पूर्वसर्वणः ।

हरित इति पञ्चम्यातस् तद्धितः । हरी ।

तदादि गृह्यत इतिवक्ष्यमाणानुरोधात्, अन्यथाभ्यामित्यादौ चातिव्यामिप्रसङ्गःस्यात् । नत्वापः किम्—एता लताः पश्य । क्रमदीश्वरादय इति—अत्रेदमाकृतम्,—हाहाहृहृश्चैव-माद्या गन्धर्वा इत्यमरोक्तिः केचित् हाहा शब्दमव्युत्पन्नं मन्यन्ते । अतस्तन्मते धातुत्वाभावान्नारामहरः, हाहान् इत्येव । केचित् हाहिति शब्दं जहातीति व्युत्पत्त्या धातुत्वस्वीकारेण नित्यमारामहरं कुर्वन्ति, हाह इत्येव । तदेतदुभयमतग्रहणेन सामझस्य कृतं क्रमदीश्वरादिभिः । एतद् विकल्पेहि स्वमतम् । केचिदिति वोपदेवादयः । तन्मते आरामोऽप्यमुणादिप्रत्ययसम्बधीति न तस्य हरः किन्तु शसः सस्य नरामोऽपि न स्यात्, यावत् सम्भवक्षेत्ररस्वीकारात्, हाहा इत्येव । एवमग्रेगा इति—अव्जा अग्रेगा उदधिक्रा शब्दा औणादिक विप्रत्ययान्ताः । औणादिकानां यथाकथच्चिद् व्युत्पत्तिरिति रीत्या केषाच्चिन्मते शब्दत्वं केषाच्चिद् धातुत्वं वा मननाद् विभाषेति भावः ।

अमृता०—३१. इउइति । संज्ञासूत्रम् । सर्वाण्यमङ्गलानि हरतीति हरिविष्णुः । तन्नामाभगवदवतारविशेषश्च । मुक्तप्रग्रहवृत्त्या कृष्णश्च । तत्र प्रेमविशेषदानेन मनो हरतीतिचार्थो योज्यः । कृष्णादन्यः कोवा लतास्वपि प्रेमदो भवतीति कृष्ण कर्णामृते ।

अमृता०—३२. हरित इति । ओ इति लुप्तप्रथमान्तः । हरिसंज्ञकशब्दादुत्तरं औ

बाल०—आराम ! आरामहरविधिर्वेति । क्रमदीश्वरादयः इति यदुक्तं, तदसङ्गत-मिव प्रतिभाति; क्रमदीश्वरकृतव्याकरणे ईदशमतादर्शनात् अव्युत्पन्नोऽपि गन्धर्ववाचको हाहाशब्दोऽस्ति । तस्य हाहानिति भवतीति तु तटीकाकारेणोक्तम् । अव्जाशब्दस्य उत्त्वेष्वोपि न दृश्यते इति । हाहा अव्जादयः क्विवन्ता एवमिति हाहाव्जादिवत् एतयोरपि रूपमित्यर्थः अग्रेगाशब्द उदधिकाशब्दश्च क्विवन्तः ॥३०॥

बाल०—इ उरामान्तो । मुगमम् ॥३१॥

३३. इद्वयस्य ए, उद्वयस्य ओ, चूद्वयस्य अर्, लृद्वयस्य अल्
गोविन्दसंज्ञः ।

गुणसंज्ञश्च ।

३४. डितो वृष्णिसंज्ञाः ।
वृद्धिसंज्ञाश्च ।

३५. हरे गोविन्दो जसि वृष्णिषु वुद्धे च ।
हरयः । हर्य वर्ही हरीन् ।

३६. हरितष्टाना नतु लक्ष्म्याम् ।
हरिणा हरिभ्याम् हरिभिः । हरये हरिभ्याम् हरिभ्यः ।

३७. एओभ्यां डसि डसो ररामपरः ।
हरे: हरिभ्याम् हरिभ्यः । हरे: हर्योः हरीणाम् ।

प्रत्ययः पूर्वस्याः प्रकृतेः समानवर्णः स्यात् । औप्रत्ययः कमेण इराम उरामश्च स्यादिति
फलितम् । तत एकात्मक परत्वात् त्रिविक्रमः हरित इति किम् कृष्णौ ।

अमृतां—३३. इद्वयस्येति संज्ञासूत्रम् । गवामिन्द्रो गांविन्दिति वेति गोविन्दः
श्रीकृष्णः । गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामीति ब्रह्मसंहिता ।

अमृतां—३४. डितइतिचसंज्ञासूत्रम् । चतुर्थी पञ्चमी षष्ठी सप्तमीनामेकवचनं
वृष्णिसंज्ञकमित्यर्थः । अत्र डितइति वहृत्व निर्देशेन स्वाद्यधिकार एवास्याः संज्ञायाः
पर्याप्तिरिति ज्ञाप्यते । डिन्निर्गुण इति धातुपादे विशेषावगमात् । वृष्णिर्यदुवंशीयमधो
ज्येष्ठपुत्रः । यदुमधु वृष्णय एते त्रयः कुलप्रवर्त्तका इति केचित् ।

अमृतां—३५. हरेरिति । जसि वृष्णिषु वुद्धे च परेषु हरिसंज्ञकशब्दस्य गोविन्दो
भवति । इरामस्य एरामः, उरामस्य ओराम इत्यर्थः । जसादिषु किम्—अन्यत्र मा भूतः
हरिः हरिभ्याम् हरिषु ।

अमृतां—३६. हरितइति । टेति सूत्रवलेन लुप्तषष्ठी । पुरुषोत्तमान्तस्य हरि-
संज्ञकस्य टा स्थाने ना इत्येतदादिश्यते । हरिणा विष्णुना । लक्ष्म्यान्तु न स्यात्—भक्त्या ।
ब्रह्मान्तस्य तु विशेषो वक्ष्यते ।

अमृतां—३७. एओभ्यामिति । अरामहरइति किम्—डसिडसो हरे कृते तु 'हरे'

बाल०—हरितः । औ इति सूत्रवलेन लुप्तषष्ठी ॥३२॥

बाल०—इद्वयस्य । सुगमम् ॥३३॥

बाल०—डितो । सुगमम् ॥३४॥

बाल०—हरे । सुगमम् ॥३५॥

बाल०—हरितः । टेति सूत्रवलेन लुप्तषष्ठी ॥३६॥

३८. हरितः डेरौच् ।

चराम इत् । अन्त्यसर्वेश्वरादिवर्णः संसारसंज्ञाः ।

३९. संसारस्य हरश्चिति ।

डितीति प्राञ्चः । हरौ हर्योः हरिषु । हे हरे ।

एवं अग्नि रवि गिरि प्रभृतयः ।

त्रि शब्दो वाच्यलिङ्गो नित्यवहुवचनान्त स्तस्य पुंसि ।

त्रयःत्रीन् त्रिभिः त्रिभ्यः त्रिभ्यः ।

४०. नेस्त्रयो नामि स्वार्थे ।

त्रयाणां, तदन्तत्वेऽपि—परमत्रयाणाम् । अस्वार्थे तु प्रियत्रीणाम् ।

त्रिषु । कतिशब्दोऽपि तदवत् ।

४१. षणान्त-संख्यातः कतेश्च जस्शसो र्महाहरः स्वार्थे ।

अत्र आत्यन्तिक लयात् प्रत्ययकार्यं न गोविन्दः । कति कति कतिभिर-
त्यादि । कतेरिति यति-तत्योरुपलक्षणं । यति ते नाग शीषर्णि, तति ते
नाग वेदना इतिप्रयोगात् । एवंपरमकतीत्यादि । अस्वार्थे तु प्रियकतयः ।
अथसखि शब्दः ।

इत्येवं विष्णुसर्गरहितं पदंस्यात् । एओभ्यामिति किम्—रायः ग्लावः । अकृते तु लक्षणे
वेवलसन्धौ हरयः इत्येवं स्यात् ।

अमृताऽ—३८. हरित इति । सुगमम् । अन्त्येत्यादि पूर्वोक्तस्यैव स्मारकम् ।

अमृताऽ—३९. संसारस्येति । चइत् यस्य स चित्, तस्मिन्प्रत्यये परे संसारस्य
हरोभवति । चित्करणभावेतु हर्यो इत्येवमनिष्टं रूपमापद्येते ।

अमृताऽ—४०. त्रेरिति । नामिप्रत्यये परे स्वार्थे त्रिशब्दस्य त्रय आदिश्यते । ततः
कृष्णस्येति त्रिविक्रमः । परमत्रयाणामिति—परमाञ्च ते त्रयश्चेति परमत्रयस्तेषाम् ।
प्रियत्रीणामिति—प्रियाञ्चयो येषामिति पीताम्बर समासेऽन्यपदार्थं प्रवानत्वादस्वार्थतेति
भावः । तद्वदिति—वाच्यलिङ्गो नित्य वहुवचनान्त इत्यर्थः ।

अमृताऽ—४१. षणान्तेति । षश णश्च पणो तौअन्ते यस्याः सा षणान्ता साचासौ
संख्या चेति षणान्तसंख्या तस्याः कतेष्व स्वार्थे जस्शसोर्महाहरः स्यात् । षणान्तेत्यत्र

बाल०—ए-ओभ्याम् । सुगमम् ॥३७॥

बाल०—हरितो पूर्वोक्तमेव संसारसंज्ञासूत्रं पाठकहिताय पुनर्लिखितम् ॥३८॥

बाल०—अन्त्येति टिसंज्ञाश्चेति यदुक्तं, तत्रोचितं प्रयोजनाभावात् ॥३९॥

बाल०—संसारस्य । सुगमम् ॥४०॥

४२. ऋराम-सखिभ्यामुशनस् पुरदंशस् अनेहस् इत्येतेभ्यश्च
सोराच् बुद्धं विना ।

संसारस्य हरः । सखा ।

४३. अद्वयस्य आ, इद्वयस्य ऐ, उद्वयस्य औ, ऋद्वयस्य आर्,
लृद्वयस्य आल् वृष्णीन्द्रसंज्ञः । वृद्धिसंज्ञश्च ।
ए ओ स्थाने ऐ औ च ।

नत्वविधिना मूर्द्धन्य णराम पाठः । नचेह विधानवलात् मूर्द्धन्यणरामान्तस्यैव जस्-शसो-
र्महाहरः स्याक्षतु दन्त्यान्तस्येति वाच्यं, संख्यावाचेषु मूर्द्धन्यणरामान्तशब्दाभावान्विहि-
ततशङ्कावसरः । षणेति अराम उच्चारणार्थः । ननु हरोऽपि महाहर इतियदुक्तं तेनात्रहरे
कृतेऽपि सिध्येत कि महाहरेणेतिचेत्तदुच्यते—गोविन्द विधानसूत्रे जसः प्रत्यय रूप निमित्त-
त्वाद् हरत्वं सिध्यति, ततो जसः स्थानिवत्तामङ्गी कृत्य गौविन्दादिकमापद्येत । अतश्च
साधूकं महाहरइति ।

सूत्रस्थ कतेरिति पञ्चम्यन्तपदं यति-तति शब्दौ चोपलक्षयति । तदेवाह—कतेरिति ।
स्वप्रतिपादकत्वे सति स्वेतर प्रतिपादकत्वमुपलक्षणत्वम् । स्वं ज्ञापयदपरमपि ज्ञापयति
यत् तदुपलक्षणमिति सरलार्थः । परमकतीति तदन्तत्वात् कतिवत् । प्रिय कतय इति—
प्रियाः कति येषामिति विग्रहः ।

अमृता०—४२. ऋरामेति । ऋरामान्त शब्दात् तथा सखि उशनस् पुरदंशस्
अनेहस् शब्देम्यश्च सुस्थाने आच् आदिश्यते बुद्धं विना । अत्रबुद्धसाहचर्यात् प्रथमैक
वचनस्यैवादेशो वोध्यो ननु सप्तमी वहृत्वस्य । बुद्धविनेतिकिम्—हेससे ।

अमृता०—४३. अद्वयस्येति संज्ञासूत्रम् । वृष्णीषुइन्द्रः श्रेष्ठ इति वृष्णीन्द्रः श्री
वासुदेवः । सकृद विहित संज्ञस्य (गोविन्दस्य) संज्ञान्तराभावमाशङ्क्य तन्निरस्यति—
एओस्थाने ऐओ चेति ।

बाल०—त्रेष्यो । स्वार्थं विषये । प्रधानार्थस्य त्रिशब्दस्य त्रयो भवतीत्यर्थः ।
परमत्रयाणामिति परमाश्र ते त्रयश्चेति परमत्रयस्तेषामिति प्रियत्रीणामिति प्रियाख्ययो
येषामिति विग्रहः । तद्विदिति वाच्यलिङ्गो नित्यत्रहुवचनश्चेत्यर्थः ॥४१॥

बाल०—ष-नान्त । पश्च णश्च ष-णौ ष-णावन्ते यस्याः सा ष-गन्ता ष-णान्ता चासौ
संख्याचेति ष-णान्तसंख्या तस्याः । ष-णेति सौत्रत्वादरामान्तनिहैशः । ननु कतीत्यत्र जसि
वृष्णिषु बुद्धे चेत्यनेन गोविन्दः कस्मान्न स्यादिति चेत्तत्राह—अत इति । गोविन्दविधान
सूत्रे जसप्रत्ययरूपेण निमित्तम् अतोऽस्य हरो महाहरो न भवतीति महाहरविधानम् ।
कतेरिति पञ्चम्यन्तं पदं यतितत्योः शब्दयोरुपलक्षणं भवति । तदयथा स्वं ज्ञापयत् परं
यत्र ज्ञापयत्युपलक्षणमिति अत्र कतेरिति पञ्चम्यन्तं पदं जस शसोर्महाहरकार्यं सिद्धे
आत्मनः प्राङ्निमित्तत्वं ज्ञापयतीति उपलक्षणमिति करणे कर्त्तरि वा । टन् प्रत्ययः ।
प्रियकतय इति प्रियाः कति येषामिति विग्रहः ॥४२॥

४४. स्वादयः पञ्च पाण्डवाः ।

घुटः सुटश्च ।

४५. सख्युर्वृष्णीन्द्रः सुवर्जन्पाण्डवेषु ।

ऐ आय् । सखायौ सखायः । सखायम् सखायौ सखीन् ।

४६. न सखिर्हरिसंज्ञष्टादौ, पतिस्त्वसमासे ।

सख्या सखिभ्याम् सखिभिः । सख्ये सखिभ्याम् सखिभ्यः ।

४७. ख्य-त्याभ्यां डसिडसोरुहस् ।

खिशब्द-खीशब्दयोः तिशब्द-तीशब्दयोः कृतयरामादेशयोरिदं ग्रहणम् ।

सख्युः सखिभ्याम् सखिभ्यः । सख्युः सख्योः सखीनाम् ।

अमृता०—४४. स्वादयइति संज्ञासूत्रम् । पाण्डोस्तन्नाम्नोराज्ञोऽपत्यानि पुमांसः पाण्डवाः-युधिष्ठिर-भीमार्जुन-नकुल-सहदेवाः पञ्च भ्रातरः ।

अमृता०—४५. सख्युरिति । सुवर्जितेषु पाण्डवेषु परेषु सखिशब्दस्य वृष्णीन्द्रो भवेत् । सुवर्जन्मितिकिम्—असम्बोधन-सो-राच्चिहितत्वाद् बुद्धसी—हेसवे । पाण्डवेष्विति किम्—सखीन् ।

अमृता०—४६. नसखिरिति । टादौ विष्णुभक्तौ परस्यां सखिशब्दो हरि संज्ञो न स्यात् । पतिशब्दष्टादौ परे असमासेसति हरिसंज्ञो नस्यात् समासेतु स्यादेव । यथाश्रुतार्थौ व्याख्याताः; विशेष स्तावदेषः—तुकारोऽत्र अवधारणे, तुस्याद् भद्रेऽवधारण इत्यमरः । तेन पतिशब्दएवासमासे हरिसंज्ञो नस्यात् किन्तु सखिशब्दे तदवधारणाभावादसमासे क्वचित् तस्य हरि संज्ञत्वं भवेदेवेति ध्वनितम् । किञ्च निषेधोऽयं सामान्यतो लब्धोऽपि असमस्त-स्यैव सखि शब्दस्य वोध्यः अन्तिकेहि भाष्यादि प्रयोग संग्रहेण समस्त-सखि शब्दस्य हरि संज्ञत्वस्वीकारात् ।

अमृता०—४७. ख्य त्याभ्यामिति । ख्यश्च त्यश्चेति समाहारे ख्यत्यं ताभ्याम् । तत्र वामन-त्रिविक्रमयोः खिखीशब्दयोः तितीशब्दयोश्च कृत यरामादेशयोरिदमनुकरणम् । उभयत्राप्यकार उच्चारणार्थः । तेनमुख्य, अपत्य प्रभृतीनां डसिडसो नं उस् ।

बाल०—ऋराम । सुगमम् । सुगममिति व्याख्यापरम् । किन्तु विशेष उच्यते । ननु सोराचित्यत्र बुद्धं विनेत्यनेन बुद्धसंज्ञस्य वर्जनेन प्रथमैकवचनसुसद्दशस्य समस्याः सोरपि आच् कथं न स्यादिति कैश्चिदाशड्क्यते चेतत्र एवं व्यक्तव्यं—बुद्धसंज्ञकेन मुना सह ज्ञाटिति प्रथमबुद्धिग्राह्यस्य प्रथमैकवचन-सोः स्फुरणात्तस्यैवाच् स्यान्नतु सप्तम्याः सोस्तत्र बुद्धचस्फुरणात् ॥४३॥

बाल०—अद्वयस्य । ए ओ स्थाने ऐ औ च वृष्णीन्द्रः संज्ञः ॥४४॥

बाल०—स्वादयः सुगमम् ॥४५॥

बाल०—सख्युः । सुवर्जनस्य प्रयोजनं बुद्ध एवेति ज्ञेयम् ॥४६॥

४८. सखि-पतिभ्यां डे रौ ।

सख्यौ सख्योः सखिषु । हेसखे हेसखायौ हेसखायः । तदन्तत्वेऽपि बहु-
सख्या बहुसख्ये बहुसख्युः बहुसख्यावित्याहुः । पञ्चम्यां सुसखेरागच्छतीति
तु भाष्यादौ । एतद्वृष्ट्यैव सख्युः समासे घिसंज्ञास्तीति प्रक्रियायाम् ।
समास इत्युपलक्षणमिति कृष्णपण्डितः । तेन प्रकृतेः पूर्वत्र बहुप्रत्ययेऽपि
बहुसखेरित्यादि ।

पतिशब्दस्य प्रथमा-द्वितीययो हरिशब्दवत्, तृतीयादौ सखिशब्दवत्,
समासान्तस्य तु हरिशब्दवदेव । यदुपतिना यदुपतये इत्यादि ।
ईरामान्तो दैत्यप्रमीशब्दः । दैत्यात् प्रमीनाति हिनस्तीति विववन्तो
विष्णुवाची ।

दैत्यप्रमीः दैत्यप्रम्यौ दैत्यप्रम्यः । धातुत्वादत्र सर्वत्र सर्वेश्वरे यराम एव
वक्ष्यते, तस्यैवोदाहरणमिदं वातप्रमीभेदज्ञापनार्थमत्रलिखितम् । एव-
मन्यत्रापि ज्ञेयम् । दैत्यप्रम्यम् दैत्यप्रम्यौ दैत्यप्रम्यः । दैत्यप्रम्या दैत्य-
प्रमीभ्याम् दैत्यप्रमीभिः । दैत्यप्रम्ये दैत्यप्रमीभ्याम् दैत्यप्रमीभ्यः । दैत्य-
प्रम्यः दैत्यप्रमीभ्याम् दैत्यप्रमीभ्यः । दैत्यप्रम्यः दैत्यप्रम्योः दैत्यप्रम्याम् ।
दैत्यप्रम्य दैत्यप्रम्योः दैत्यप्रमीषु । सम्बोधने पूर्ववत् ।

अमृता०—४८. सखीति सुगमम् । तदन्तत्वेऽपीति—सख्यन्तस्यापि सखि शब्दवद्
रूपं केचिदाहुः । वहुसख्येति—“स्वाद्यन्तात् प्राग् वहुर्वा कल्पार्थे” इति बहुप्रत्ययस्तद्वितः,
नायं समस्तः, तत् प्रसङ्गस्याग्रेवक्षमाणत्वात् । सुसखेरिति—सुशेभनः सखा तस्मात् ।
नचात्र “राजाहसखिभ्य” इति समासान्तश्चत्ययः शङ्क्षयः, “स्वतिभ्यां नतीप्रत्ययो पूजाया-
मिति” निषेधात् । भाष्यादावित्यत्रादिपदेन न्यासादिर्ग्रहणीयः । तन्मते च “ग्रहणवता
प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ती” ति परिभाषया सखिशब्दस्यहरिसंज्ञा स्यात् । यथा हि—
इह द्विविधा घिसंज्ञा अवयवाश्रया समुदायाश्रया च । तत्रयावयवाश्रया (केवलसख्याश्रया)
साप्रतिषिध्यते, यापुनः समुदायाश्रया (समासाश्रया) साच भवत्येव, तस्या अप्रतिषेधादिति
न्यासकारः । तेन समासाश्रित सखिशब्दस्य निषेधाभावाद् हरिसंज्ञत्वं भवेदेव । तस्मात्
साधूक्तं प्रक्रियायाम् । उपलक्षणमिति—समस्ता समस्तयो रुभयोर्ग्रहणमिति कृष्ण-
पण्डितः । (प्रक्रिया कौमुदी टीकाकारः) तत्र स्वसूत्रेऽपि तुशब्देन व्यज्यत इति प्रपञ्चितमेव
तदव्याख्याप्रसङ्गे । तस्मादेव “सखिना वानरेन्द्रण” “कृष्णस्य सखिर्जुनः” इत्याद्यपि

बाल०—न सखि । पतिशब्दस्तु टादौ परे असमासे हरिसंज्ञो न भवति समासे तु
भवत्येव इत्यर्थः ॥४७॥

एवं वातप्रमीशब्द ईप्रत्ययान्तत्वात् अमृशस्त्रिषु विशेष इति केचित् । वातप्रमीम् । यावत् सम्भवस्तावद् विधिरिति न्यायेन दशावतारस्येति त्रिविक्रमे कृते तस्मात् सो नः । वातप्रमीन् । डौवातप्रमी । वातप्रमी हूहप्रभृते धर्तुत्वं वेत्यन्ये । वातप्रम्यम् वातप्रमीम्, हूहम् हूहम् । उरामान्त विष्णु शब्दः । हरिसूत्रैरेवसाधनम् । विष्णुः विष्णू विष्णवः । विष्णुम् विष्णू विष्णून् । विष्णुना विष्णुभ्याम् विष्णुभिः । विष्णवे विष्णुभ्याम् विष्णुभ्यः । विष्णोः विष्णुभ्याम् विष्णुभ्यः । विष्णोः विष्णवोः विष्णुनाम् । विष्णौ विष्णवोः विष्णुषु । हेविष्णो ।

चालनी तितउः पुमानित्यमरः । प्रकृतौ सन्धिं विनैव सिद्धोऽयमुणादा- विति प्रकृत्यज्ञयो नं सन्धिः । तितउः तितऊ तितअवः इत्यादि ।

कृष्णश्रीः

धातुत्वादिति—लुप्तकृतप्रत्ययस्य (किववन्तस्य) धातुत्वं नामत्वञ्च मन्यन्ते । अत्र— दैत्यप्रमीशब्दे । यरामएव वक्ष्यत इति—सहजानेक सर्वेश्वरस्येत्यादिना ।

वातं प्रमिमीते इत्यर्थे माड ईप्रत्यय औणादिकः । वातमृग इत्यर्थः । केचिदिति— पाणिन्यादयः । धातुत्वमिति—वातप्रमीवाचरतीत्यर्थे किववन्तत्वे बोध्यम् । वेत्यन्य इति— दैत्यप्रमीवत् अमृशस् डिषु विशेषश्च । हूह शब्दो गन्धर्ववाचकः अव्युत्पन्नः । धातुत्वे पूर्ववत् किववन्तः ।

तितउरिति—प्रकृतौ प्रकृत्यवस्थायां प्रत्यययोगात् प्राक् स्वभावतः सन्धिं विनैव उणादौ । सिद्ध इतिपद साधन कालेऽपि प्रकृत्यज्ञयोः अराम उरामयो नं सन्धिरित्यर्थः ।

बाल०— सखि तदन्तत्वेऽपीति बहुसखीत्यादौ पीताम्बरः समासः कर्तव्यः । आहुरिति पूर्वचार्याः इति शेषः । एतन्मते सखिशब्दः समासेऽपि हरिसंज्ञो न भवतीत्यर्थः । सुसखेरिति शोभनः सखा सुसखिस्तस्मादिति स्वतिभ्यां नतौ प्रत्ययौ प्रशंसायामित्यनेन समासान्त निषेद्यः । भाष्यादिमते समासे हरिसंज्ञो भवतीत्यर्थः । एतददृष्ट्यैवेति भष्यादिमत दर्शनेन— वेत्यर्थः । भाष्यादिमतं हृष्टैव सख्युः समासे धिसंज्ञोऽस्तीति प्रक्रियायां कथितमिति उपल- क्षणमिति तदन्तत्वमात्रेऽपीत्यस्येति शेषः । अथ वा उपलक्षणमिति समस्तासमस्तयोग्रंहण- मित्यर्थः । तेनिवहुसखेरिति स्यात् सखिना वानरेन्द्रणेत्यपि च । कृष्णपण्डितः प्रक्रिया टीकाकारः । समासान्तस्येति समासे अन्तस्थित्येत्यर्थः । उदाहरणन्तु यदुपतिनेत्यादि स्वमतेतु न सखिरित्यत्र सूत्रे नन्त्रप्रयोगात् सर्वं सिद्धं स्यात् । क्वचिच्चन्नं विधेरनित्यमिति न्यायेनाऽममासेऽपि सखिना पतिना चेति । पतिना नीयमानायां पुरः शुको न दुष्यतीति दृश्यतेचान्यत्र । धातुत्वादिति अत्र दैत्यप्रमीशब्दे । तस्यैवेति यराभ विधान सूत्रस्यैवेत्यर्थः । वातप्रमीति वातप्रमीशब्देन सह भेदज्ञापनार्थमित्यर्थः । भेदस्तु परमतेनेवेति ज्ञेयम् ।

४८. धातोरीदूतोरियुवौ सर्वेश्वरे वहुलम् ।

ईरामस्य इय ऊरामस्य उद् । प्रत्यय वर्णेन तदादि गृह्णते । ततः सर्वेश्वरादौ विष्णुभक्तावित्यर्थः । एवमन्यत्रापि । एतद्विधि सूत्रस्य नामप्रकरणे पाठात् लुप्तकृतप्रत्ययस्य धातुत्वेऽपि नामत्वम् । ततः प्रत्ययाश्च । कृष्णश्रियः । परत्वादमृशसोरपि कृष्णश्रियमित्यादि ।

भावेकिवपि भूः भुवौ भुवः । वाहुल्यात् न सर्वत्र । यथोक्तम्—कवचित् प्रवृत्तिः कवचिदप्रवृत्तिः कवचिदविभाषा कवचिदन्यदेव । विधेविधानं वहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं वाहुलकं वदन्ति । तेन—

अमृतां—४८. धातोरिति । सवश्वरे सर्वेश्वरादौ विष्णुभक्तौ धातोरीराम-ऊरामयोर्यथाक्रमं वहुलं यथास्यात्तथा इय उवौ भवतः । ननु नामप्रकरणे कथं धातु-सम्बन्धि सूत्रमिदम् । यदि कृष्णश्रीत्यादे धातुत्वं तर्हि तदुत्तरं कथं च स्वादि प्रत्यया इति चेत्तत्राह—एतद्विधेति । लुप्तकृतप्रत्ययस्य किवन्त शब्दस्य यत् धातुत्वं नामत्वञ्चास्ति तदीदशसूत्रकरणेनैव ज्ञापितमित्यर्थः । ननुकृष्णश्रियं कृष्णश्रिय इत्यत्र दशावतारादमृशसोररामहरः कथं प्रवर्त्तते ? तत्राचष्टे परत्वादिति । पूर्वपरयोः परविधिर्वलवानिति न्यायेन अरामहरं वादित्वा इय एव भवतीत्यर्थः । सूत्रस्थ वहुलपदग्रहण सार्थकं दर्शयति—वाहुल्यादिति । ऊक्तं पूर्वाचार्यैरिति शेषः ।

कवचिदिति—कवचिद् विधेः प्रवृत्तिः प्रवर्त्तनं, कवचिदप्रवृत्तिर्तिवृत्तिः; कवचिद् विभाषा विकल्पः, कवचिदन्यदपूर्वमेव; एवं विधानं वहुप्रकारं द्वाष्टा वाहुलकं चतुर्विधं वदन्ति पूर्वाचार्या इतिशेषः । बहूनर्थान् लाति ददातीति वहुलं, वहुलमेव वाहुलकम् ।

ईप्रत्ययान्तत्वादित पूँसि ईप्रत्ययः कृतः । वातप्रमीवर्वातमृग इत्यमरः । ननु वातप्रमी शब्दस्य शसि त्रिविक्रमस्य कि प्रयोजनिमिति चेत्तत्राह यावदिति । दशावतारस्येति 'दशावतारस्य त्रिविक्रमः शसी'त्यनेनेत्यर्थः । धातुत्वं वेत्यन्य इति धातुत्वे वातप्रम्यमिति हूह्वमिति च हूह्व शब्दोगन्धर्व वाचकः ननु तितउरित्यादौ सन्धिः कस्मान्नस्यादिति चेत्तत्राह प्रकृताविति । अयं तितउ शब्दः प्रकृतौ प्रकृत्यवस्थायां स्वभावेन सन्धिं विनैव उणादि सिद्ध इति पदसाधन-कालेऽपि प्रकृत्यङ्गयोररामोरामयो नं संन्धिरित्यर्थः ॥४८॥

बाल०—धातो वहुलमिति किया विषेशणम् । प्रत्ययेति प्रत्ययवलेन तदादि प्रत्ययः वर्णादिगृह्णते । प्रत्ययवर्णाद्विं सर्वेश्वरः । तदादिरित्यत्र सर्वेश्वरादावित्यत्र च पीताम्बर-समासः । एतद्विधेति एतत् प्रकारसूत्रस्येत्यर्थः । विधाविधौ प्रकारे चेति नानार्थवर्गः । लुप्त-कृतप्रत्ययो यत्र तस्य धातुत्वेऽपि नामत्वं भवति अतस्तस्मात् स्वादिप्रत्यया भवन्ति । ननु कृष्णश्रियं कृष्णश्रिय इत्यत्र 'दशावतारादमृशसोररामहरः' इत्यनेनारामहरः कस्मान्न स्यादिति चेत्तत्राह परत्वादिति । पूर्वपरयोः परविधिर्वलवान् इति न्यायेन अमृशसोरपि इय भवतीत्यर्थः । वाहुल्यान्न सर्वेत्रैति यदुक्तं तत् पूर्वाचार्यवचनेनदृढयति यथोक्तमिति ।

५०. सहजानेकसर्वेश्वरस्य किववन्तस्य केवलधात्वक्षर सत्संगा-
स्पृष्ट्योरीदूतो यंवौ ।

तत्र कृत्समासे विश्वनीः विश्वन्यौ विश्वन्यः इत्यादि । षष्ठी वहुत्वे
विश्वन्याम् ।

५१. नी राधाभ्यां डे राम् ।

विश्वन्याम् विश्वन्योः विश्वनीषु ।

अमृता०—५०. सहजेति । किववन्तस्य शब्दस्य ईदूतो रीरामोरामयो यथाक्रमं
यवौभवत इत्यन्ययः । कथम्भूतस्य किववन्तस्य ? सहजश्च असौ अनेकश्चेति सहजानेकः,
तादृशः सर्वेश्वरो यस्मिन् तस्य । कथम्भूतयोः ईदूतोः ? केवलच्च तत्धात्वक्षरञ्चेति
केवलधात्वक्षरं, तस्य सत्सङ्गः केवलधात्वक्षर सत्सङ्गः । तेन अस्पृष्ट्योरयुक्तयोरीदूतो-
रित्यर्थः ।

कृत्समासइति—कृद्धिः सह समासे इत्यर्थः । उपेन्द्रोर्यादिव्यान्ताजन्तपूर्वपदानि
कृदन्तेन समस्यन्त इत्यनेन समासः । तत्र उपेन्द्रैर्यादिभिश्च गतिसमासः, पूर्वपदैस्तु कारक
समासः उपपदसमाश्चेति प्राच्चः । तत्रकारकसमास उपपदसमासान्तर्गत एवेति कृदन्ते
प्रपञ्चयिष्यते । गतिसमासो विश्वनीः । कारकसमासो वृक्षभीः । उपपदसमासः कृष्णसेव
इत्यादि । गतिकारकोपपदानां कृद्धिः सह समासवचनं प्राक् सुवृत्पत्तेरिति तेषां
परिभाषा । ततश्च धातोः कृतप्रत्ययोरुपत्तिकाले एव विधीयमानो यः समासः स कृत्समास
उच्यते न तु कृदन्तात् सुवृत्पत्ते: पश्चात् समस्तः । अतएवाद्वृते व्यावृत्ति मुखेन पश्चादयोगे
विश्वनीरित्यादौ सहजत्वाभावो दर्शितः ।

अमृता०—५१. नीराधाभ्यामिति । नीशब्दात् राधासंज्ञकाच्च परस्य डिविभक्तेः
आमादेशः स्यात् । प्रधीरितिगतिसमासः । प्रादीनां क्रिया योगे गतिसंज्ञा प्राचामिति
वक्ष्यते । केवलविवन्त इति—उपपद-गतिसमासाभ्यां रहित इत्यर्थः । मालीयतीति—
मालामिच्छतीत्यर्थं मालाशब्दात् क्यन् प्रत्यये कृते मालीयधातुः तस्मात् किवपि यवयो हर्ते
वले इति यरामहरे मालीयशब्दो निष्पन्नः । पदकृत्यं दर्शयति—पश्चाद् योगेनु नस्यादित्या-
दिभिः । तत्र कृत्समासत्वाभावादित्यैव बीजम् । “गति-कारकोपपदानां कृद्धिः सहसमास

विधेः क्वचित् अप्रवृत्तिनिवृत्तिः । क्वचित् विभाषा विकल्पः क्वचित् अन्यत एव अपूर्व-
विधानम्—एवं क्रमेण विधानं बहुधा वहुप्रकारं समीक्ष्य दृष्ट्वा बाहुलकं बहुलं चर्तुविधं
वदन्ति पूर्वाचार्या ईति शेषः । बाहुलकमिति स्वार्थं तद्वितः । बहुनर्थान् लाति ददातीति
बहुलशब्दस्यार्थः ॥४८॥

बाल०—सह । केवलच्च तत् धात्वक्षरञ्चेति केवलधात्वक्षरम् तस्य सत्सङ्ग-केवल-
धात्वक्षर-सत्सङ्गस्तेनास्पृष्ट्योः । विश्वनीरिति ‘उपेन्द्रोर्यादिव्यान्ताजन्तपूर्वपदानि कृदन्तेन
समस्यन्ते इत्यनेन समासः ॥५०॥

एवं प्रकृष्टं ध्यायतीति किवपि निपातात् । प्रधीः प्रध्यौ । केवलकिववन्ते मालयतीति माली माल्यौ । डौ मालिय । सहजेति किम्—पश्चाद् योगे तुन स्यात् । विश्वस्य नीः विश्वनीः विश्वनियौ विश्वनियः । आमिडौ च विश्वनियाम् । अनेकेति किम्—नीः नियौ नियः । धात्वक्षर सद-संगास्पृष्टयोरिति किम्—कृष्णप्री कृष्णप्रियौ । कृष्णपटप्रः कृष्णपट प्रौ वौ । केवलेति किम्—इहतुस्यादेव उन्नीः उन्न्यौ उन्न्यः ।

५२. सुधीभुवोरियुवावेव ।

सुधु ध्यायतीति किवपि निपातनात् । सुधीः सुधियौ सुधियः । कृष्णभूः कृष्णभुवौ कृष्णभुवः ।

५३. वर्षा पुनर्दृन् कर-कार-कारान्तो भुवो वएव ।

करएवकारः सोऽपि गृह्यत इति-विस्तरादुभयोरुपादानम् वर्षाभूः वर्षाभ्वौ वर्षाभ्वः । दृनभूः दृवभ्वौ । एवं खलपू प्रभृतयः ।

वचनं प्राक् सुवृतपत्ते"रिति परिभाषया स्वादिविष्णुभक्तियोगात् पूर्वमेव कृतसमासः (गति समासः उपपदसमासो वा) अभिमतः । विश्वस्य नीरिति—इह तु सुवृतपत्ते: पश्चात् पष्ठी समासत्वात् सहजानेक सवश्वरत्वाभाव इतिमम् । उन्नीरिति—अत्रकेवल धात्वक्षरस्य सद सज्जेन नन्हि स्पृष्टत्वं किन्तु उपेन्द्राक्षर- धात्वक्षरयो मिथः सत्संगस्पृष्टत्वमतो यरामएव भवतीत्यर्थः ।

अमृता०—५२. सुधीति । एतयोरियुवौ भवतः । पूर्वपूत्रेण ननुयुवौ इति एवकारेण नियमः सूचितः ।

अमृता०—५३. वर्षेति । वर्षादिभ्य उत्तरस्य भूशब्दस्य व एव नतूव् इत्यपि नियमः । पूर्वलक्षणस्य वाधकमेतत् । विस्तरो व्याकरण विशेषः । वर्षाभूर्भेकः, इन्द्रगोप कीटो वा । पुनर्भूः पुनर्विवाहः दृनभूः पन्नगो वज्रं वा । करभूः कारभू नर्खः । काराभूर्वा-सुदेवः, तस्य कंसकारागारे जन्मस्वीकारात् ।

कृष्णसुखीयतीति—कृष्णसुखमिच्छतीत्यर्थं क्यन्, अद्वयस्य ईःक्यनि, ततः किवप् ।

बाल०—नीराधा । केवलेति । मालीयतीति क्यन्नन्तान्मालीयधातोः किवपि, यवयो-हंरो वले' इति यरामहरे च मालीशब्दो निष्पन्नः । तस्य मालीरित्यादि रूपं । एवं कृष्ण-सुखीरित्यादि । विश्वस्यनीय विश्वनोरीति पष्ठीकृष्णपुरुषः । उन्नीरिति अत्र ईत केवलधात्व-धरस्य सत्सज्जेन न स्पृष्टः । किन्तु उपाक्षर धात्वक्षरयोः सत्सज्जेन स्पृष्टः अतोऽत्र भवत्येव ॥५१॥

बाल०—सुधी । एतयोरियुवावेव न-नु य-वौ । नियमसूचनार्थमेवशब्दो-पादानम् ॥५२॥

कृष्णं सुखो यतोति कृष्णं सुखोः कृष्णं सुख्यौ कृष्णं सुख्यः । अनन्तो यतीति
अनन्तीः अनन्त्यौ अनन्त्यः । ख्यत्याभ्यामिति त्रिविक्रमग्रहणात् डंसि-
डंसोरुस् । कृष्णं सुख्युः अनन्त्युः । नरामादेशस्य तराम स्थानिवत्वात्
लून्युः । कृष्णं सुख्यः इत्याद्येके ।

अथ ऋरामान्तः । तत्रपितृशब्दः ।

ऋराम-सखिभ्यात्यादि पिता ।

५४. ऋरामस्य गोविन्दः पाण्डवेषु डौच ।

पितरौ पितरः । पितरम् पितरौ पितृः । पित्रा पितृभ्याम् पितृभिः ।
पित्रे पितृभ्याम् पितृभ्यः ।

य-वयो हर्षो वले इत्येनेन फलमाह—डंसि-डंसोरुम् । लून्युरिति—लून्युरिति धातोः क्षप्रत्य-
यन “हरिमित्रयुगि” त्यादिना क्तस्थाने नादेशे लून शब्दः । ततो लूनमिच्छतीति वाक्ये
क्यन्, अद्वयस्य ईः क्यनीति लूनीय धातुः । ततः क्विपि यरामहरे क्विप्लोपे च लूनी
शब्दादडंसि प्रत्यये सन्धिना यरामे जाते “आदेशः स्थानिवत् कवचिदिति” न्यायेन नरामा-
देशस्य स्थानिनं तरामं विद्यमानं मत्वा स्वय-ताभ्यां डंसिडंसोरुस् प्रवर्त्तत इति विशदः
केचिदिति तन्मते ख्य-त्याभ्यामिति उसन्प्राप्नोति । इतिइक्तरामान्तः ।

अमृतां—५४. ऋरामस्येति सरलम् ।

बाल०—वर्षा । वर्षादिभ्यः परस्य भूशब्दस्य व एव भवति न तूव् । पूर्वलक्षणे
प्राप्तमुवं वाधित्वा व एव भवतीत्यर्थः । ननु व्याकरणान्तरे कारशब्द एव गृहीस्तर्तहि कथं
करशब्दोपादानं कृतमिति चेत्त्राह करएवति । सूत्रे यः गृह्यते इति विस्तरार्थः । विस्तरे
व्याकरणविशेषः वर्षाम् भर्कादौ । पुनर्भूद्विवदायाम् । इतिति हिसार्थेऽव्ययं हिसाया
भवतीति द्वन्भूः द्वन्शब्दस्तवर्गान्तः । द्वन्भूः पञ्चगेरुदेवज्जे च । करभूः कारभूश्च नखे ।
काराभूः काराजाते कारा निगडवन्धनस्थानम् कारा स्याद् बन्धनालये इयमरः । ख्यत्या-
भ्यामितीति । ख्यत्याभ्यां डंसि डंसोरुसित्यत्र खीशब्द तीशब्दयोश्च कृतयरामादेशयोर्ग्रहणा-
दित्यर्थः । लून्युरिति लूनमिच्छतीति क्यन् । उक्तार्था नामप्रयोग इति न्यायेन इच्छतेरप्रयोगः ।
अन्तरङ्गं स्वादे महाहर एकपदत्वारम्भे इति अमो महाहरः । अद्वयस्य ई क्यनीति
अरास्येरामः । ततो लूनीयधातोः क्विप् यवयर्हरोवले इत्येनेन यलुक् ततो लूनीशब्दात्
डंसि इरामस्ययरमः ततोऽस्य लरामरुपादेशस्य तराम रूपस्थानिवत्वात् ख्य-त्याभ्यामित्यया-
दिनाडंसेरुस् । नरामस्य तरामस्थानिवत्वम् स्थान्यादेशः स्थानिवदति न्यायेन इतिज्ञेयम् ।
लूनशब्दः कान्तः कृष्णमुख्य इत्येक इति तन्मते उसन् न भवति ॥५३॥

बाल०—ऋरामस्य सुगमम् । ऋराम । पितृरित्यत्र संसारस्य हरश्चितीति ऋराम-
हरः । बुद्धे गोविन्द इति ऋरामस्येत्यादिनेति शेषः ॥५४॥

५५. ऋरामतो डसि डसोरस्य उच्च ।

पितुः पितृभ्याम् पितृभ्यः । पितुः पित्रोः पितृणाम् । पितरि पित्रोः
पितृषु । बुद्धे गोविन्दः ।

५६. राधा-विष्णुजनाभ्यामीपश्च त्रिविक्रमात् सोहर्षः ।

हेपितः । एवं जामातृ प्रभृतयः ।

नृशब्दः । ना नरौ नरः । नरम् नरौ नृन् । ब्रा नृभ्याम् नृभिः । नृशब्दस्य
तु वा नृणाम् नृणाम् ।

कर्तृ शब्दस्य भेदः । कर्त्ता ।

५७. स्वसृ तृल् तृन् प्रत्ययान्तानां वृष्णीन्द्रः सुवर्जं पाण्डवेषु ।

कर्त्तारौ कर्त्तारः । कर्त्तारम् कर्त्तारौ । यदुषु पितृवत् । हेकर्त्तः । लेष्टृ ।
लेष्टा लेष्टारौ लेष्टारः । लेष्टारम् लेष्टारौ । हरिमित्रादिरेवायम् । हरि-
वेण्वादि स्त्वपपाठः ।

अमृता०—५५. ऋरामत इति । चित् करणेन संसारस्य (ऋरामस्य) हरः ।
अस्येति किम्? डसिडसोरुच् कृते पितु इत्येवं विष्णु सर्गरहितं रूपंस्यात् । बुद्धेगोविन्दइति—
ऋरामस्य गोविन्दः पाण्डवेषु डौ चेत्यस्येव प्रतीक ग्रहणं स्मरणार्थम् । एवमग्रेऽप्यनु-
सन्धेयम् ।

अमृता०—५६. राधेति । राधा आवन्त स्त्रीलिङ्गशब्दः विष्णुजनश्च ताभ्यां,
त्रिविक्रमादीपः ईवन्ताच्च सोहर्षः स्यात् । त्रिविक्रमादिति ईपो विशेषणम् । येन वामना-
दीपः सोहर्षो न—अतिस्त्रिरित्यादी । कर्तृ शब्दस्य भेदः सुवर्जं पाण्डवेष्विति शेषः ।

अमृता०—५७. स्वमृइति । तृल् च तृन् च तृलतृनौ, तौच तौप्रत्ययौ च तृलतृन्
प्रत्ययौ, तौअन्ते येषां ते तृलतृन् प्रत्ययान्ताश्चेति तथा तेषां सुवर्जं बुद्धवर्जं पाण्डवेषु
वृष्णीन्द्रः स्यात् । स्वसृ शब्दस्य तृलतृनन्तत्वाभावात् पृथगुपादानम् । तृलन्त-तृनन्त
शब्दयो रूपभेदाभावेऽपि प्रयोगभेदात् प्रथक् ग्रहणम् । तृलन्तयोगे षष्ठी, तृनन्तयोगे तु
द्वितीयेति कारक प्रकरणे व्यक्तीभविष्यति । सुवर्जमितिकिम्—बुद्धे तु गोविन्द एव—
हेकर्त्तः ।

हरिमित्रादिर्लरामादिः । हरिवेण्वादि: तवगन्तादिः । के तावत् तृलतृनन्ता
इत्यपेक्षायांपद्यमाह—लेष्टृइत्यादि । लेष्टृत्वष्टृशब्दौ तृलन्तौ मतौ, पित्रादीन् वर्जयित्वा
तृशब्दान्ताश्च तृलतृनन्ता दुधैर्मताः । लेष्टृत्वष्टृ शब्दयो स्तृलन्तत्वेऽपि पृथगुपादानं

बाल०—सुममम् ॥५५॥

बाल०—सुगमम् ॥५६॥

लेष्टु त्वष्टु तृशब्दान्तास्तृलतृनन्ता बुधैर्मताः ।

पितृ भातृ भ्रातृ यातृ जामातृ दुहितृ विना ।

५८. क्रोष्टु शब्दस्य पाण्डवेषु तृलप्रत्ययान्तस्येवरूपं बुद्धंबिना,
तादिसर्वेश्वरे तु विकल्पः ।

क्रोष्टा क्रोष्टारौ क्रोष्टारः । क्रोष्टारम् क्रोष्टारौ क्रोष्टन् । क्रोष्टा क्रोष्टना
क्रोष्टभ्याम् क्रोष्टभिः । क्रोष्टे क्रोष्टवे इत्यादि ।

कृतेऽप्यकृते यःस्यात् सनित्यः, नित्यस्य वलवत्त्वात् पूर्वन्त्वामि नुडेव—
क्रोष्टनाम्, क्रोष्टामित्येके । हे क्रोष्टो । लक्ष्म्यान्तु क्रोष्टी ।

ऐरामान्तः कृष्णरै शब्दः ।

तृशब्दान्तत्वाभावादपाप्ते विद्यर्थम् । पित्रादीनाच्च तृलतृनन्तत्वेष्पि विशेषेण ग्रहणं
नियमार्थम् । तेन संज्ञाशब्देषु पित्रादीनामेव वृष्णीन्द्रनियेद्यो नत्वन्येषाम् ।

अमृतां—५८. क्रोष्टिति । बुद्धं विना पाण्डवेषु परेषु क्रोष्टुशब्दस्य तृलप्रत्ययान्तस्यैव
रूपं स्यात्, टादौ तुविकल्पेन भवति । तत्र पक्षे उरामान्त विष्णुशब्दवत् । ननु आमि
तृलप्रत्ययान्तवद् रूपं पक्षे क्रोष्टणामिति भवितुमर्हतीति चेतत्र सिद्धान्तमाह—कृतेऽपीति ।
तृलप्रत्ययान्तस्येव रूपे कृतेऽपि नुद् स्यादेव । अतो नुटो नित्यत्वाद् वलवत्त्वम् । तेनादेशात्
पूर्वमेव नुडुत्पत्तेः सर्वेश्वरपरत्वाभावात् ऋभावः, क्रोष्टनामित्येव भवतीत्यर्थः लक्ष्म्यान्तु
नित्यं ऋरामादेशे क्रोष्टीति निपातनात् सिद्धम् । इति ऋरामान्ताः ।

प्रकृतिवदनुकरणमित्यतिदेशात् (वार्त्तिकात्) कृतप्रभृतेरनुकरणे—कृःक्रीकः । कृमकौ
कन् । क्रा क्रे इत्यादयः । एवभन्येषामपि ज्ञेयम् । गम्लृ शक्लृ अनयोरनुकरणे—गम्लुः
गम्लौ गम्लः । गम्लूम् गम्लू गम्लन् । गम्ला गम्ले इत्यादयः । देवृ सेवृ अनयोः क्विपि—
देः दयौ दयः । एओभ्यां डसिडसो ररामहरः—देः । एवं से: सयी सय इत्यादयः ।

किञ्च अस्यापत्यं पुमान् इः । अस्यस्त्रीः इः । तेनतया वा वर्त्तमान इतिपीताम्वर
समासे सेशब्द स्तस्य पुंसि—से: सयी सय इत्यादि । डसिडसोः से: । इत्येरामान्ताः ।

बाल०—राधा । त्रिविक्रमादिति ईपोविशेषणम् कर्तृशब्दस्येति भेदोवर्तंतैति शेषः ।
सुवर्जं पाण्डुवेषु वृष्णीन्द्रो भवतीति भेदः ॥५७॥

बाल०—स्वसृ । तृलच तृनच तृलतृणौ । तृलतृणौ च तौ प्रत्ययौ चेति तृल तृनप्रत्य-
यौ । स्वसा च तृल तृनप्रत्ययौ च स्वसृ-तृल तृनप्रत्ययास्तेषाम् । हरीति । हरिमित्रादिलंरा-
मादिः । हरिवेणवादिस्तवर्गान्तादि केवलयोस्तृल तृणोरसम्भात् तदन्ता एव गृह्यन्ते ।
तदन्ता एव के इत्यपेक्षयां पद्यमाह लेष्ट्रिति लेष्टृत्वद्वशब्दौ पित्रादीन् वर्जयित्वा
तृशब्दान्ताश्च बुधैः पण्डितै तृल तृनन्ता मता इत्यर्थः ॥५८॥

५८. राय आ सभोः ।

कृष्णरायः कृष्णरायोः कृष्णरायः । कृष्णरायमित्यादि ।
 एवं रैशब्दश्च । नेह तद्विते-रैत्वम्, क्यनि-रैयति । पाणिनीयेऽपि रायो-
 हलीत्यत्र विष्णुभक्त्यनुवृत्तेः ।
 ओरामान्तो गोशब्दो बलीवर्दादिषु पूलिङ्गः ।

६०. ओ औ पाण्डवेषु ।

गौः गावौ गावः ।

६१. ओआ अमृशसो नं च सोनः ।

अन्यथा वातप्रमीनिति वत् गा इत्यत्र सो नः स्यात् । गाम् गावौ गाः ।
 गवा गोभ्याम् गोभिः । गवे गोभ्याम् गोभ्यः । एओभ्यां डःसि डःसोरित्या-
 दिना अरामहरः । गोः गोभ्याम् गोभ्यः । गोः गवोः गवामित्यादि ।

अमृता०—५८. रायइति । एकवर्णविधिरन्ते प्रवर्तते इतिन्यायेन रैशब्दस्य
 ऐरामस्य स्थाने आरामो भवति सभोः परयोः । रैत्वं रैयतीत्युभयत्र आरामो न, सभोः
 परत्वाभावात् । आचर्यमत दर्शनेन स्वमतं द्रष्टव्यति—पाणिनीयेऽपीति । विष्णुभक्त्यनुवृत्तेः
 विष्णुजनादि विष्णुभक्तावित्यर्थत्वात् सभोरेव परत्वमायाति, तासु अन्यविष्णुजनत्वा-
 भावादिति भावः ।

अमृता०—६०. ओआ इति सुगमम् ।

अमृता०—६१. ओआ इति । अन्यथेति निषेधं विनेत्यर्थः । यावत् सम्भवस्तावद्
 विधिरिति न्यायेन त्रिविक्रमात् सो नः स्यादितिभावः । ननु गोशब्दस्य बुद्धे एओवामनेभ्य
 इति बुद्धस्यादर्शनं कथं न स्यात्त्राह—सर्वेति । सर्वविधिभ्यो हरविधि बलवान् हरादपि
 सर्वेश्वरादेशो बलवानिति परिभाषया सोहंरो न भवति । अपि च अन्तरङ्ग-वहिरङ्गयो

बाल०—क्रोष्टु । टादि बुद्धि विना पाण्डवेषु परेषु क्रोष्टुशब्दस्य तृल्प्रत्ययान्तस्यैव
 रूपं भवति । टादिसर्वेष्वरे तु परे तृल्प्रत्ययान्तस्यैव रूपस्य विकल्पः । स तु क्रोष्टु शब्दस्या
 पि क्रोष्टूनामित्यपि कथं न स्यादिति चेत्त्राह कृतेऽपि नुटः प्राप्तिरतो नुटो नित्यत्वं, अतो
 बलवत्वश्च । अतः प्रथमं नुटेव । अतः क्रोष्टूनामित्येव भवति लक्ष्म्यां तु क्रोष्ट्री निपातनात्
 इति शेषः ॥५८॥

बाल०—रायः । एकवर्णो विधिरन्ते प्रवर्तते इति न्यायेन रैशब्दस्य ऐरामस्य स्थाने
 आरामो भवति सभोः परयोः । रैत्वमित्यत्र रैयतीत्यत्र च आरामो न भवति सभोः पर-
 त्वाभावात् । रोयो हलीति पाणिनीयसूत्रेऽपि विभक्त्यनुवृत्तेहेतोः रैत्यमित्यादौ न
 भवतीति ॥६०॥

सर्वविधिभ्यो हरो हरात् सर्वेश्वरादेशो बलवान् ।
अन्तरङ्गेत्यादि च विधानसामर्थ्यात् न सोर्हरः—हेगौः ।
औरामान्तो ग्लौशब्दः ।
ग्लौः ग्लावौ ग्लाव इत्यादि ।

॥ इति सर्वेश्वरान्तः पुंलिङ्गाः ॥

रन्तरङ्गविधिवर्लवानिति परिभाषाप्यत्र प्रवर्त्तते । प्रकृत्याश्रितत्वादौरामविधानस्या-
न्तरङ्गत्वम् । हरविद्वेः प्रत्ययाश्रितत्वाद् वहिरङ्गत्वमिति । तेन च न सोर्हर इत्यर्थः ।
इत्योरामान्ताः । ग्लौशब्दश्वन्द्रवाची । साधनन्तु सरलम् ।

॥ इति व्याख्याताः सर्वेश्वरान्तपुंलिङ्गाः ॥

बाल०—ओ औ सुगमम् ॥६१॥

बाल०—ओ आ अन्यथेति सरामस्य स्थाने नरामत्य निषेधं विनेत्यर्थः । सो नरामो
न स्यात् अपि तु स्यादेवेति निषेधविधानम् सोनः स्यादिति पाठान्तरम् ॥

ननु गोशब्दस्य बुद्धे ए ओ वामनेभ्य इत्यादिना बुद्धस्य हरः कस्मात् स्यादितिचेत-
त्राह सर्वेति । सर्वविधिभ्यो हरो बलवान्, हरात् सर्वेश्वरादेशो बलवान् इत्यस्ति, अतो
विधानस्य औरामविधानस्य सामर्थ्यात् बलवत्वात् प्रथमम् औरामः अतो न सोर्हरः ।
प्रकृत्याश्रितत्वादौरामविधानस्यान्तरङ्गत्वम् । ग्लौशब्दश्वन्द्रवाचकः ॥६२॥

॥*॥ इति सर्वेश्वरान्तपुंलिङ्गाः ॥*॥



अथसर्वेशरान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

६२. तत्रावन्तलक्ष्मी राधासंज्ञा ।

शद्वासंज्ञा च । तत्रराधाशब्दः ।

राधाविष्णुजनाभ्यामिति राधा ।

६३. राधा-ब्रह्माभ्यामौ ई ।

अद्वयमिद्ये ए राधे राधाः ।

६४. राधाया एःटौसो वुद्धे च ।

एथय् राधाया राधाभ्याम् राधाभिः ।

६५. राधातो याप् वृष्णिषु ।

एद्ये ए । राधायै राधाभ्याम् राधाभ्यः । राधायाः राधाभ्याम्
राधाभ्यः । राधायाः राधयोः राधानाम् ।

अमृता०—६२. तत्रेति संज्ञासूत्रम् । याधयति सर्वथा पूरयति कृष्णवाच्छामिति
राधा । राधसंसिद्धावितिधातोः खियामाप् ।

अमृता०—६३. राधेति सुगमम् । राधे इत्यत्र त्रिविक्रम ईविधानफलाभावेऽपि
दधिनी मवुनीत्यादौ हि तत्साकलत्वं ज्ञेयम् ।

अमृता०—६४. राधायाइति । एकवर्णविधिरन्ते प्रवर्त्तत इत्यनेन राधासंज्ञक
शब्दस्य आरामस्थाने एरामो भवति टाओस् प्रत्यययो वुद्धे च । ननु राधाया इति
सामान्य निर्देशात् पञ्चमीग्रहणेन राधाया उत्तरमेराम इत्येवं व्याख्यायताम् । मैवम्, तर्हि
तृतीयैकत्वे राधाया इत्यनिष्ठरूपं स्यात् । किञ्च एवम् भूत सन्देहस्थले स्वयं ग्रन्थकृद्धिरेव
पञ्चम्यां तस् प्रत्ययेनैव निर्देशः कृत इत्यपि द्रष्टव्यम् ।

अमृता०—६५. राधात इति । वृष्णिषु परेषु राधासंज्ञकशब्दादुत्तरं याप् इत्यागमः
स्यात् । अन्त विष्णुजनश्चेत्यनेन यापः पराम इत् । ननु सप्तम्येकत्वे “नीराधाभ्यां
डेरामि”त्यनेन आमि कृते वामनगोपीत्यादिना नुट् कथं न स्यात्त्राह—लाक्षणिकेति ।

॥ अथ सर्वेशरान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥

बाल०—तत्र । सुगमम् ॥६२॥

बाल०—राधा । सुगमम् ॥६३॥

बाल०—राधाया । राधाया आराम एरामो भवति ॥६४॥

बाल०—राधातो । ननु राधायामित्यत्र नी-राधाभ्यामित्यादिना डेरामि कृते
‘वामन-गोपी’त्यादिना नुट् न स्यादिति चेत्तत्राह—लाक्षणिकेति । ननु राधाशब्दस्य बुद्धे
‘राधा-विष्णुजनाभ्यामि’त्यादिना सोर्हरः कस्मात् स्यादिति चेत्तत्राह—अन्तरंगेति ।

डेराम्, लाक्षणिकप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवग्रहणमिति न नुट् । राधायाम् राधयोः राधासु । सम्बोधने— प्रकृत्याश्रितं प्रकृतावपि पूर्व-पूर्वमन्तरज्ञः, प्रकृतेर्वहिराश्रितं वहिरज्ञः, स्वल्पाश्रितमन्तरज्ञः, वह्वाश्रितं वहिरज्ञम् । अन्तरज्ञ-वहिरज्ञयो रन्तरज्ञो विधि वलवानिति न्यायेन प्रथममेत्वे कृते एओवामनेभ्यो बुद्धस्यादर्शनमिति हे राधे । एवं रमा रामा श्रद्धा मालादयः, अम्बादयश्च । लक्ष्मीग्रहणान्नेह राधासंज्ञा—समासे वामनो वक्ष्यते—प्रियराधाय कृष्णाय ।

६६. अम्बादीनां गोप्याश्च वामनो बुद्धे ।

हे अम्ब हेअकक हेअल्ल हेअप्य हेअव्व । एत एवाम्बादयः । नेह— हेअम्बाडे हेअम्बाले हेअम्बिके इत्यादि ।

अथ जरा ।

अत्रआम् न स्वाभाविकं किन्तु दिस्थाने विहितमिति लाक्षणिकत्वान्नुट् । ननु राधा शब्दस्य बुद्धे “राधाया ए” इत्यादिना एरामे कृते नकृतेऽपि सोर्हंरः सिद्ध्यति, तस्मात्तस्य नित्यत्वात् प्रथमतएव “राधाविष्णुजनाभ्यामि”त्यादिना सोर्हंरः क्रियताम्, कथं एराम-विधानात् परमिति चेतदुच्यते—मातृवत् परिभाषा हि नेष्टं विरुद्ध्यते; तस्मादिष्टपदसाधनाय तदनुकूले प्रकारान्तरपरिभाषामुपन्यस्यति—प्रकृत्याश्रितमित्यादिभिर्ग्रन्थैः । प्रकृत्याश्रितं विधानमन्तरज्ञम् । ननु पूर्वपरयो रित्यनेन परस्य वलवता । प्रकृतेर्वहिराश्रितं प्रत्यया-श्रितं विष्णवाश्रितं वा । इह एत्विधानस्य प्रकृताश्रितत्वात् स्वल्पाश्रितत्वाच्च अन्तरज्ञत्वम् । राधाविष्णुजनाभ्यामित्यादिना सु-हरविद्ये: प्रत्ययाश्रितत्वाच्च वहिरज्ञत्वम् । अतएवास्य दुर्वलत्वम् । प्रकृतावपि पूर्वपूर्वमन्तरज्ञमग्रेऽनुसन्धेयम् ।

राधासंज्ञायां लक्ष्मीशब्दनिवेशफलं दर्शयति—प्रियराधायेति । प्रिया राधा यस्य सप्रियराधस्तस्मै । अत्र पीताम्बर समासे राधा पदस्याप्रधानत्वाद् “गोरीप आप ऊङ्ग्राम-न्तस्याप्रधानस्य वामनः” इत्यनेन वामनः । अन्तर्भूतावन्तोऽपि प्रियराध शब्दः पुंवाची, ततएव लक्ष्मीत्वाभावान्न हि राधासंज्ञेत्यर्थः ।

अमृता०—६६. अम्बादीनामिति । ईऊलक्ष्मीर्गोपीसंज्ञेति वक्ष्यते । अम्बादिशब्दा मातृवाचकाः । एषां बुद्धेवामनः स्यात् । नेहेति अम्बादित्रयो मातृवाचिनोऽपि न ह्यम्बादिगणपातिनः; “डलकवतीनां प्रतिषेधो वक्तव्य” इतिभाष्यवचनात् ।

अन्तरंगेत्यादि न्यायेन प्रथमं ‘राधाया ए टौसीर्बुद्धे चेत्यनेन एत्वमेव । ततो बुद्धादर्शन-मिति । नत्वन्तरंगविधिर्वा को बहिरंगो वा क इत्यपेक्षायामाह,—प्रकृत्याश्रितमिति प्रकृत्याश्रितमित्यादेविधानमिति विशेष्यम् । पुरत्वनिर्देशस्तु सभ्यः । अन्तरज्ञविधेवलवान् इत्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् प्रकृत्याश्रितमन्तरंगं प्रकृतावपि पूर्वमन्तरज्ञमिति । अत्र एत्व-

६७, जराया जरस् वा सर्वेश्वरे ।

जरा जरसौ जरे जरसी इति केचित् । जरसः जराः । जरसम् जरामित्यादि । एवमरामान्त निजरशब्दस्यापि जरेति भागस्य विकल्पेनादेशो ज्ञेयः ।

वर्णनविधौ तदन्तस्य कार्यं स्यान्नाम्नातु क्वचिदिति निर्दिश्य मानानामादेशिनामादेशा इति । एकदेशविकृतमनन्यवदिति च न्यायेभ्यः । निर्जरसौ निर्जरौ, निर्जरसः निर्जराः इत्यादि । निर्जरेण निर्जरसा-

अमृता०—६७. जरायाइति । सर्वेश्वरादिविष्णुभक्तौ जरा शब्दस्य जरस् व आदिश्यते । जरसीति केचिदिति—तन्मते प्रथममेव लिङ्गोचित कार्यम् औईः, तते जरसादेशः । एवमिति—प्रसङ्गादरामात निर्जर शब्दस्यापीदशादेशज्ञापनार्थं स्त्रीलिङ्गप्रकरणे निर्देशो वोध्यः । निर्जरोदेवः पुलिङ्गेन् एव । तादृशादेशस्य सङ्गतिकरणे हेतुमाह—वर्णनेत्यादि । विधौ विधानसूत्रे येन वर्णन यत् कार्यं विधीयते तत्कार्यं तदन्तस्य तदवर्णन्तस्यापि भवति । यथा—एओ वामनेभ्यो बुद्धस्यादर्शनमिति एरामान्ता ओरामान्तात् वामनाच्च बुद्धादर्शनम्—हेहरे हेविष्णो हेकृष्ण । पुर्वविधौ येननाम्ना निर्देशे यत् कार्यं क्रियते तत्तु तत्त्वामान्तस्य भवति क्वचिन्नतु सर्वत्रेति न्यायार्थः । स (वर्णः) एतद् (नाम एव वा) अन्तस्तदन्तः तस्य । इह जराशब्दनिर्देशेन यो जरसादेशो विहितः च जरान्तस्य निर्जरशब्दस्यापि स्यादिति फलितम् । क्वचिदग्रहणफलमग्रे दर्शयिष्यते तत्रचादेशे क्रियमाणे एक वर्णत्वाभावात् सोपेन्द्रस्य समग्रनिर्जर शब्दस्य जरसादेशो प्राद्वितीयन्यायमाच्छ्टे—निर्दिश्यमानानामिति । आदेश एषामस्तीति आदेशिन स्तेषाम्

विधानस्य प्रकृत्याश्रितत्वात् स्वल्पाश्रितत्वाच्च अन्तरङ्गत्वम् । राधाया ए भवती स्वल्पाश्रितत्वम् । सु-हरविधानस्य प्रकृतेर्वहिराश्रितत्वात् वह्नाश्रितत्वाच्च बहिरङ्गत्वं राधादिभ्यः परस्य सोहर्हरो भवतीति बह्नाश्रितत्वम् । प्रकृतावपि पूर्वं पूर्वमिति तु स्थानान्तरोद्भव्यम् । प्रियराधायेति प्रिया राधा यस्य तस्मै 'गोरीप' आप ऊङ्ग्रान्तस्याप्रधानवामनं इत्यनेन वामनः ।

अम्बा । ई-ऊ-लक्ष्मीर्गेपीसंज्ञा । अम्बादयः षट्शब्दा अम्बावाचकाः । नाट्योन्माता अम्बा कथ्यते । अम्बाडादयोऽषि त्रयः शब्दा अम्बावाचका एव किन्त्वेषामस्मादिनास्ति, एते एवेति नियमात् ॥६५-६६॥

बाल०—जरा । एवमिति आदेशो भवतीति ज्ञापनार्थं स्त्रीलिङ्गप्रकरणे रामान्तस्योल्लेखः कृत इति ज्ञेयम् । निर्जरशब्दस्यापि जराया इत्यादिना जरेति भागस्य विकल्पेनादेशो भवतीत्यत्र हेतुमाह वर्णनेत्यादि । तत्र वर्णनेति विधौ विधाने सूत्रे वर्णन यत् कार्यं विधीयते, तत् कार्यं तद्वर्णन्तस्यापि भवतीति सर्वत्र । येन नामयद्विधीयते, तत्तत्वामान्तस्यापि भवतीति तु क्वचिदिति न्यायार्थः । तदन्तस्येत्यत्र सव-

निर्जरसिन इत्येके । निर्जरैः निर्जरसैः । निर्जरात् निर्जरसः । निर्जरसादिति केचित् ।

विश्वपा पुरुषोत्तम विश्वपा शब्दवत् ।

६८. अत्र निशा-नासिकयो निशनसावादेशौ यदुषु वा वाच्यौ ।
प्रयोगाश्र पक्षे विष्णुजनान्तवज्ज्ञेयाः । यथा—निशः निशा निज्म्यामित्यादि ।

इरामान्तो भक्तिशब्दः । तस्य याण्डवेषु हरिशब्दवत् । शसि भक्तीः ।
पुंसीति विशेषणान्नरामो नस्यात् । नतु लक्ष्म्यामिति न नादेशः ।
भवत्या भक्तिम्याम् भक्तिभिः ।

सूत्रादिषु आदेशिनो यावन्निर्दिश्यन्ते अतिदिश्यमान शब्दानां तावत्-स्थानेष्वेव तदादेशाभवन्ति नतु समग्रातिदेश-शब्दस्थाने । इह निर्दिश्यमान आदेशी जराशब्दः; तस्यादेशो जरस् सचादेशः अतिदिश्यमान-निर्जर शब्दस्य जर-भागस्य स्थाने हि भवति नतु निर्जरेति समग्र स्थाने । अन्यथा निर्जर शब्दस्यापि जरसौ इत्येवं रूपमाद्येते । अथ तत्रापि आरामान्तस्य जराशब्दस्यायमादेशः कथमरान्त निर्जरशब्दे प्रयुज्यत इत्याशङ्कायांतृतीयमाह—एक देशेति । व्याख्यात एष प्रागेव । आरामरूपस्यैकाङ्गस्य विकृतत्वेऽपि न तस्मादन्य इतीह नादेशवाधः । निर्जरसिन इत्येक इति पद्मनाभादयः । अत्र कृष्णात् टा इनं कृत्वा पश्चाद् जरसादेशः क्रियते । तथैव निर्जर सादित्यत्रापि कृष्णात् डसेरात् इत्यनन्तरमादेशः । तत्तन्मते अकारान्ताधिकार कार्यस्य वलवत्त्वात् । एके केचिदिति पदद्वयेन तत्र तत्र स्वमतामैक्यं व्यञ्जितम् ।

नचैवं स्वमतेऽपि निर्जरसैरित्यत्र अरामान्तस्य कार्यविशेषमग्रेकृत्वैव जरसादेशः क्रृतः, तदवत् निजरसिन निर्जरसादिति द्वे च स्वमतेऽपीष्टे इति वाच्यम् । निर्जरसैरित्यत्रादेश साफल्याय हि भिस ऐस् सूत्रेण विहितः, अन्यथा अकृते ऐस् भावे सर्वेश्वरादित्वाभावाज्जरसादेशस्तु न सम्भाव्येत । निर्जरसिन इत्यादि द्वये तु पूर्वत एव सर्वेश्वरादिविष्णुभक्ति सिद्धेः कार्यान्तरमनपेक्ष्यप्रथमेवादेश-प्रवृत्तिस्ततः कृष्णत्वाभावान्ततत् कार्यमिनादिकमिति ।

अमृतात्—६८. अत्रेति । अत्र लक्ष्म्यां यदुषु परेषु निशा-नासिका शब्दयो र्यथाक्रमं निश-नसी आदेशी वा स्याताम् । निज्म्यामित्यत्र “पस्यङ्” इति वत् शस्य जो मन्त्रव्य इत्यग्रे वक्ष्यते । सुपि “यादवमात्रे हरिकमलम्” (जरामस्यचरामः) “सश्यशश्वर्वग्योग” इति सरामस्यशरामे निच्छु पक्षे छत्वं निच्छु । केचित् “छणोराजयजि” त्यादिना पत्वं विद्याय “पस्यङ्गो विष्णुपदान्त” इत्यनेन निःम्यां निःम्यु इत्येवं मन्यन्ते ।

अन्ते यस्य इति विग्रहेण पीताम्बरसमासे कृते सति, तस्य तदगुणसम्बिज्ञानमनेन उभय-पदस्य तत् कार्यं स्यात् । अतदगुणसम्बिज्ञानस्वीकारेण पूर्वपदस्य तत् कार्यं स्यादिति

६८. हरिताप् वा वृष्णिषु लक्ष्म्यां नित्यं गोप्याः ।

वृष्णिनिमित्तापो न याप् । भवत्ये भवत्ये भक्तिभ्याम् भक्तिभ्यः । भवत्याः
भक्तेः भक्तिभ्याम् भक्तिभ्यः । भवत्याः भक्तेः भवत्योः भक्तीनाम् ।
आवन्तेऽपि नीराधाभ्यां डेराम्—भवत्याम् भक्तौ भवत्योः भक्तिषु ।
हे भक्ते ।

एवं द्विद्वि मति भूति कृति धृति रुचिप्रभृतयः ।

अथ धेनु शब्दः ।

अमृतां—६८. हरित इति । वृष्णिषु परेषु लक्ष्म्यां हरिसंज्ञक शब्दादुत्तरे आप्
वा स्यात् । गोपीसंज्ञकशब्दात्नित्यमाप् भवति । वृष्णिरेवनिमित्तं यस्य सवृष्णिनिमित्तः
सचासौ आपचेति वृष्णिनिमित्ताप्, तस्मादुत्तरन्तु याप् न स्यात् लाक्षणिकत्वादिति मूलम् ।

नतु सम्म्येकत्वे कथं लाक्षणिकता न मता, तत्रापि वृष्णिनिमित्तावन्तस्यैव राधा
संज्ञत्वमङ्गीकृत्य डेराम् विधानादिति चेदुच्यते—तत्रडेरामिति आमो विरिच्चित्वम्,
इहतु प्रकृतिप्रत्ययोर्मध्ये विधानाद् यापो विष्णुत्वमिति स्थिते विरिच्चिराक्षणिकत्वं
सहते वचिन्न विष्णु रिति न्यायेन सम्म्यां विधी लाक्षणिकत्वेऽप्यामि कृते न दोषापत्ति-
रिति । एव मुरामान्ता नित्यस्त्रीलिङ्गा धेनुवत् ।

अशन्यादीनामिति—अशनिर्बन्धम् । अशनि शब्दस्य पुरुषोत्तमत्वं लक्ष्मीत्वच्च
कोषात् प्रसिद्धम् । आदिशब्देन इषु मणि तिथि रेणु प्रभृतीनां ग्रहणम् ।

हरे: स्वभावलक्ष्मीत्वे इउरामान्तस्य नित्यस्त्रीत्वे हि विभाषया आवन्तकार्यं वाच्य
मित्यर्थः । पदान्तरं विनापि स्त्रियां वर्तमानत्वं नित्यस्त्रीत्वमिति प्राचां लक्षणम् । प्रिय-
हरये इति प्रियो हरि यस्या स्तस्यै । अत्र हरिशब्दस्य स्वभावलक्ष्मीत्वं नास्ति किन्तु

विरोधे प्राप्ते यावत् सम्भवस्तावद्विविरति न्यायेन अन्तर्भूतद्वर्णस्यैव तत् कार्यं स्यादिति ।
अथवा स एव वर्णः अन्तः तद्वर्णान्ति इति श्यामरामे कृते न कश्चिद्दोष इति । अतएव
ग्रन्थकारेणाप्युक्तं जरेति भागस्येति । एवं तत्रामानतस्येत्यत्रापि ज्ञेयम् । निर्दिश्येति
इत्येव-प्रकारेण निर्दिश्यमानानाम् आदेशिनां स्थाने आदेशा भवन्त्येवेति शेषः । अत्रादेशी
जराशब्दः । एकदेशेति स्पष्टार्थमेव । केचिदिति क्रमदीश्वरादय इत्यर्थः । अत्रनिशा—
सुगमम् ॥६७-६८॥

बाल०—हरित । वृष्णि । अशन्यादीनामिति अशनिर्द्वयोरित्यमरात् अशनिशब्दस्य
पुरुषोत्तमत्वं लक्ष्मीत्वच्च । अशनिशब्दः वज्रवाचकः, आदिशब्देन तिथि-मणिप्रभृतीनां
रेणुप्रभृतीनाच्च ग्रहणम् । अत्रेति । अत्र हरित आप् वेत्यादिलक्षणे । प्रियहरये इति प्रियो
हरियस्यास्तस्यै । अत्र हरे: स्वाभाविक लक्ष्मीत्वं नास्ति, किन्तु पीताम्बरसमासेन लक्ष्मी-
त्वम् । एवं प्रियविष्णवे इति । एवमिति प्रियत्रिशब्दोऽपि एवं प्रियहरिशब्दविदित्यर्थः ।
प्रियाख्यः प्रियाणि त्रीणि वा यस्या इति विग्रहः ।

धेनुः धेनु धेनवः । धेनुम् धेनु धेनुः । इत्यादि ।
 वृष्णिगु धेन्व धेनवे, धेन्वाः धेनोः, धेन्वाम् धेनौ । अशन्यादीनां लक्ष्मीत्वे
 पक्षेऽपि एवमेव ज्ञेयम् । अत्रहरे: स्वभाव लक्ष्मीत्वे सत्येवेति वाच्यम् ।
 तेन नेह—प्रियहरये प्रियविष्णवे श्रिये । एवं पियत्रिः । मतिवदयमिति
 तु तस्यां भ्रमः । शसि प्रियहरीः । नादेशस्तु न प्रियहर्या । पटु प्रभृती-
 नान्तु विकल्प इति केचित् । पटवे पट्वै ।
 त्रिशब्दस्य लक्ष्म्याम्—

७०. लक्ष्मीस्थयो स्त्रि-चतुरोस्तिसृ-चतसृ विष्णुभक्तौ ।

७१. तिसृ-चतस्रो रः सर्वेश्वरे ।

गोविन्द त्रिविक्रमोरामाणामपवादः । षट्वे केवलसरामो विरच्चि
 गृहीतः । तिस्रः तिस्रः तिस्रभिः तिस्रभ्यः तिस्रभ्यः । आमितु नतिसृ
 चतस्रो रिति ज्ञापकात् नुडेव । तिसृणाम् तिसृषु ।

पीताम्बरसमासेऽन्य पदार्थवाचित्वे लक्ष्मीत्वम् । एवं प्रियत्रिरिति प्रियहरिवत् । अत्रापि
 प्रियास्त्रयः प्रियाणि त्रीणि वा यस्या इति पीताम्बरे पश्चालक्ष्मीत्वात् नित्यस्त्रीत्वमिति
 आपोऽभावः । तथापि मतिवदयमिति प्रक्रिया कौन्दुयां भ्रमः । पटु प्रभृतीनान्तिवति—
 प्रभृतिना मृदु लघु गुरु पृथ्वादीनाच्च वाच्यलिङ्गत्वेऽपि स्त्रीवाचकपक्षे स्वभावलक्ष्मीत्वं
 मन्तव्यम् । तेन धेनु शब्दवदेषां वृष्णिगु रूपद्वयं सिद्धेत् । तुकारेण हरे: स्वभाव-
 लक्ष्मीत्वाभावो व्यावर्त्तितो ग्रन्थकारसम्मति श्राव शूचितः । केचिदिति न्यासकारादयः ।

अमृतात्—७०. लक्ष्मीति । विष्णुभक्तौ परस्यां लक्ष्म्यां वर्त्मानयोः त्रि-चतुर-
 शब्दयोः क्रमात् तिसृ चतसृ आदेशौ भवतः । तिसृ चतसृ इति समाहारे ब्रह्मत्वमेकत्वच्च ।
 विष्णुभक्ताविति किम्—त्रित्वम् चतुष्यम् । लक्ष्मीस्थयोरिति विशेषणात् प्रिया स्त्रिस्रो
 यस्य इति विग्रहे समस्तस्य पुरुषोत्तमत्वेऽपि भवत्येवादेशः । तेन प्रियतिसा प्रियतिस्रो
 प्रियतिस्र इत्यादि । टादौ प्रियतिस्रा प्रियतिस्रे इत्यादि ।

अमृतात्—७१. तिस्रिति । एकवर्णो विधिरन्ते प्रवर्त्तत इत्यनेन ऋराम स्थाने
 ररामो भवति । गोविन्देति ऋरामस्य गोविन्दः पाण्डवेषु डौचेत्यनेन गोविन्दप्राप्ति प्रसङ्गः ।
 दशावतारस्य त्रिविक्रमो शसीत्यनेन त्रिविक्रमस्य तथा ऋरामतो डसिङ्गसोरस्य उच्च इत्यु-
 रामस्य च प्रसङ्गः । तत् सर्वेषां प्रसङ्गानामपवादो बाधकोऽयं रविधिः । षट्व इति—

मतिवदिति अयं प्रियत्रिशब्दः । तस्यां प्रक्रियाकौमुद्याम् । पटु-प्रभृतीनामिति ।
 पटुशब्दादीनामपि स्वभावलक्ष्मीत्वं नास्ति वाच्यलिङ्गत्वात् । अतोऽस्माकं मते—आप् न
 भवति, केचिदिति क्रमदीश्वरादय इत्यर्थः ॥६८॥
 ब्राल—लक्ष्मी । लक्ष्मीस्थयोर्लक्ष्म्यां वर्त्मानयोः ॥७०॥

ईवन्तगोपीशब्दः ।

ईविति लक्ष्मीविहितप्रत्ययः ।

७२. ईऊलक्ष्मी गोपीसंज्ञः ।

नदी संज्ञाच । गोपी गोप्यौ गोप्यः । गोप्यम् गोप्यौ गोपीः । गोप्या
गोपीभ्याम् गोपीभिः । गोप्यै गोपीभ्याम् गोपीभ्यः । गोप्याः गोपीभ्याम्
गोपीभ्यः । गोप्याः गोप्योः गोपीनाम् । गोप्याम् गोप्योः गोपीषु ।
हेगोपि ।

अत्रविधान सामर्थ्यान्नगोविन्दः ।

षत्वविधान सूत्रे प्रत्ययविरच्चि सस्य ष इत्यनेन यत् विरच्चि सस्य षत्वमुक्तं तेन तु
केवलसराम-लक्षित-विरच्चिगृहीतः ननु वर्णन्तर-सहितो विरच्चिः । तस्मात् तिसृ
चतसृविरच्चियोः सस्य न षत्वं सरामातिरक्तवर्णं साहचर्यात् । ननु सर्वेश्वर इति-
सामान्योक्तिः पष्टीवहुत्वेऽपि तिसृ-चतस्रो र एव भवितुमुचितमिति चेत्तत्राह-आमित्विति ।
वामनस्य त्रिविक्रमो नामीत्यादौ—नतिसृ-चतस्रोरितित्रिविक्रमं निषेध एव नुटो ज्ञापकः ।
तथाहि—नामिसत्येव तत्र प्राप्तत्रिविक्रमस्य प्रतिषेधः कृतः । अजाते नुटि कुतो नाम् कुतो
वा तन्निषेधसम्भावनेति । अतो विरच्चितो विष्णुर्वलवानिति न्यायेन रादेशात् प्राक् नुटः
प्रवृत्तिः; प्रवृत्तो तुतस्मिन् सर्वेश्वर परत्वाभावान्न हि रादेशावसर इतिभावः ।

अमृतां०—७२. ईऊ लक्ष्मीरिति । ईरामान्तः ऊरामान्तश्च स्त्रीलिङ्गशब्दो गोपी
संज्ञक इत्यर्थः । गोपाति रक्षतीति गोपः । यद्वा गोपायति रक्षति शुद्धभक्तिरसं तदधिष्ठा-
न्त्वादिति गोपो ब्रजस्थाभीर जाति विशेषः । गो—पा+कः, गुप्त+अल् वा । तस्माद्
रामान्त जाते रित्यादिना स्त्रियामीप्-गोपी ब्रजगोपवनिता । नदी संज्ञा प्राचाम् । ननु
हेगोपि इत्यत्र हरेगोविन्द इत्यादिना गोविन्दः कथं नस्यात्तत्राचष्टे—अत्रेति । यद्यत्र
गोविन्देन भाव्यं तर्हि बुद्धे वामनविधानमकृत्वा “गोप्या गोविन्दो बुद्धे” इत्येवं सूत्रं कियेत,
अन्यथा वामनविधेरनर्थकत्व-प्रसक्तेः ।

बाल०—तिसृ । चिसृ चतस्रिति समाहारात्तिसृ । एकवर्णो विधिरन्तेप्रवर्तत इति
न्यायेन ऋरामस्य स्थाने ररामो भवति । गोविन्देति ‘ऋरामस्य गोविन्दः पाण्डवेषु डौ
चे’त्यनेन गोविन्दः स्यात् । ‘दशावतारस्य त्रिविक्रमः शसी’त्यसेन त्रिविक्रमः स्यात् ।
‘ऋरामातो डसि डसोरस्य उच्च’ इत्यनेन उरामः स्यात् । तेषामपवादो बाधकोऽयं ररामः ।
प्रियास्तिस्रो यस्मिन् तस्मात्स्य वा प्रियतिस्र इत्यतो ररामो न स्यात् । ननु तिस्र इत्या-
दिषु विरच्चि-सस्य षत्वं कथं न स्यादिति चेत्तत्राह—षत्वमिति । केवलसरामो यत्र
विरच्चिस्तत्र षत्वम् । अत्र तु तिसृविरच्चिरिति न षत्वम् । ‘न त्वामि’—तिसृणामित्यत्र
ररामः कथं न स्यादिति चेत्तत्राह—आमि त्विति । यद्यत्र ररामः स्यात्तर्हि न तिसृचतस्रो-
र्लक्षणं निरर्थं कं स्यात्तस्मादत्र नुडेव भवति, न तु ररामः ॥७१॥

एवं नदीमही प्रभृतयः । सखी च ।

सखी सख्यौ । अत्र नाम्नो ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति परिभाषा नेष्यते । डौ सख्याम् ।

एवं सुपथीत्यत्र नात्वम् । त्रिविक्रमादिति विशेषणान्नेह—सोर्हरः— अतिगोप्यः । पुंसि वृष्णिषु अतिगोपये इत्यादि लक्ष्म्याम् अतिगोप्यै अतिगोपये इत्यादि ।

७३. अवी तन्त्री तरी लक्ष्मी ही धी श्रीणामुणादिना ।*

शब्दानान्तु भवत्येषां सुलोपो न कदाचन ॥

लक्ष्मीः लक्ष्म्यौ लक्ष्म्यः इत्यादि गोपीवत् ।

ननु नाम्नोग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणात् सखी सख्यौ इत्यादौ पूर्वोक्तं सखिकार्य आच्च-वृष्णीन्द्रादिकञ्च कथं न स्यादित्याशङ्कायामाह—अत्रेति । परिभाषा नेष्यत इति— विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणमिति वार्त्तिकनिषेधात् । परिभाषा सा सन्ध्यादौ तद्वित प्रत्ययादौ च विषये प्रवर्तते ननु विभक्तौ । यत्र खलु एकस्यैवाविकृतशब्दस्य लिङ्गान्तरे रूपभेदो जायते तत्र तु तत्परिभाषा न प्रभवति अशन्यादौ यथेतिभावः । एवमिति— लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया अनिष्टत्वात् सुपथीत्यत्र च “पथ्यादीनामिरामस्यारामः कृष्ण स्थान” इत्यनेन प्राप्त आरामो न स्यात् । सुपथीति—ऋक्पथिपुरप इत्यनेन समासान्ता प्रत्ययादीप् । राधाविष्णुजनाभ्यामित्यादौ त्रिविक्रमादिति विशेषणोपादानकलमाह— त्रिविक्रमादिति । तेनविशेषणमिदं वामनस्वरूपेणापि ईपः सत्तां ज्ञापयति । अति गोपिरिति—गोपीमतिकान्त इति विग्रहे “अत्यादयो द्वितीयये” त्यनेन कृष्णपुरुषः, “गोरीप् आप्” इत्यादिना वामनः । लक्ष्म्यां—गोपीमतिकान्तेति विग्रहः ।

अमृता०—७३. अवीति । उणादिना निष्पन्नानामेषां सप्तशब्दानां कदाचन कदाचिदपि सुलोपो न भवति; ईप्रत्ययान्तत्वाभावात् । उणादिनेति—उपलक्षणे तृतीया । उणदिनोपलक्षितानाम्, उणादि सिद्धानामित्यर्थः । एषु च ही धी शब्दौ उणादावेव किवन्तौ, शेषास्तु ईप्रत्ययान्ताः । क्वचित् तन्द्रीति च पाठो दृश्यते । ननु तन्त्री वीणायमित्यादि प्रयोगे सुलोप दर्शनाद् व्यभिचार इति चेत्तद् समादधाति—तन्त्रयते

बाल०—ईऊ । ई-ऊ लक्ष्मीः ईरामोरामान्तलक्ष्मीरित्यर्थः । ननु हे गोपीत्यत्र ‘हरेगोविन्द’ इत्यादिना गोविन्दः कस्मात् भवतीति चेत्तत्राह—अत्र वामनेति । यद्यत्र गोविन्देन भाव्यं, तदा बुद्धे वामनविधानसूत्रमकृत्वा गोप्या अपि गोविन्दविधानसूत्रमेव विदध्यात् । ननु सखीत्यादौ नाम इत्यादि न्यायेन पूर्वोक्तं सखिशब्दस्य कार्यं कस्मात् भवतीति—चेत्तत्राह अत्रेति । एवमिति नाम्न इत्यादिन्यायस्यानिष्टत्वात् । सुपथीत्यत्रापि

* उणादीनामिति च क्वचित् पाठान्तरम् ।

तन्त्री वीणायामिति तु तन्त्रयतेरणन्तत्वादीपिसिद्धा । गौरादित्वात्
स्त्रीशब्द ईवन्तः । ततः सोहरः स्त्री ।

७४. स्त्रीभूवोरियुवौ सर्वेश्वरे, स्त्रिया अमृशसो वर्ता ।

स्त्रियो स्त्रियः । स्त्रियम् स्त्रीम् स्त्रियौ स्त्रियः स्त्रीः । स्त्रिया स्त्रीम्याम् स्त्रीभिः ।
नित्यं गोप्या:—स्त्रियं स्त्रीम्याम् स्त्रीभ्यः । स्त्रियाः स्त्रीम्याम् स्त्रीभ्यः ।
स्त्रियाः स्त्रियोः । विरिच्चितो विष्णुर्वलवान्, स्त्रीणाम् । स्त्रियाम्
स्त्रियोः स्त्रीषु हेस्त्रि । गौणत्वे पुंसितु अतिस्त्रिः; नाम्नातु ववच्चिदिति
तदन्तविधिः । अत्र ववच्चिद् ग्रहणाद् गोविन्द ना नुडौज् वर्ज स्त्रिया
इयादेश इति विस्तरः । मतान्तरन्तु नभाष्यादिमतमिति च । अति-
स्त्रियौ अतिस्त्रयः । अतिस्त्रियम् अतिस्त्रीम्, अतिस्त्रियौ अतिस्त्रियः
अतिस्त्रीन् । अतिस्त्रिणा, अतिस्त्रये, अतिस्त्रेः, अतिस्त्रियोः अति-
स्त्रीणाम्, अतिस्त्रौ । लक्ष्म्याम् शस्तापरत्वे अतिस्त्रियः अतिस्त्रीः,

रिति । तन्त्रयते ष्यन्त-तन्त्रीधातौः अण् प्रत्ययात् ईप् प्रत्यये सिद्धोऽयं ननु उणादावित्यर्थः ।
गौरादित्वादिति गौरादेरीप् प्रत्यय स्तद्विते वक्ष्यते ।

अमृता०—७४. स्त्रीति । सर्वेश्वरादि विष्णुभक्तौ स्त्री-भू-शब्दयोः क्रमादियुवौ
अन्त्यादेशौ भवतः । स्त्रीशब्दस्य अमि शसि च परे इयादेशो वास्यात् । ईवन्तत्वेन
गोपीवद् आपि प्राप्ते विशेष विधिरयम् । ननु पृथीवहुत्वे आमि किमियादेशेन भाव्यमुत-
नुडागमेनेति विप्रतिषेधे समाधानमाह—विरिच्चितइति । अतिस्त्रिरिति—अतिक्रान्तः
स्त्रियमिति विग्रहः । तदन्तविधौ क्वचिद् ग्रहणसार्थकतां दर्शयति—गोविन्देति । गोविन्दश्च
(जसि वृत्तिषु च) ना च (तृतीयैकत्वे) नुट् च (आमि) औच् च (ङौ) इति गोविन्दाना
नुडौचः तान् वर्जयित्वेति गोविन्द नानुडौज्-वर्ज स्त्रीशब्दस्य यइयादेशः स स्त्रीशब्दान्तस्य

‘पथ्यादीनामिरामस्यारामः कृष्णस्थान’ इत्यनेनात्वम् । अतिगोपीरिति अतिक्रान्तो गोपी-
मिति ‘अत्यादयो द्वितीयये’ त्यनेन कृष्णपुरुषः । ‘गोरीप् आप् ऊत्रश्चान्तस्याप्रधानस्य वामन’
इत्यनेन वामनः । अवीति । एषामवीत्यादीनां शब्दानां कदाच न कदाचिदपि सुलोपो न
भवति, ईप्रत्ययान्तत्वाभावादिति शेषः । उणादिनेति उपलक्षणे तृतीया उणादिसिद्धाना-
मित्यर्थः । उणादिनेति तु अवी तन्त्री तरी लक्ष्मीपरं ज्ञेयम् । ह्री-धी-श्रीणां क्विवन्तत्वात् ।
तन्त्रीति । तन्त्री वीणायाम्, इति तु इत्यत्र वर्तमाना तन्त्री तन्त्रयतेरणन्तस्य
तन्त्रीधातोरणप्रत्ययान्तदीपि ईप्रत्यये सिद्धा । इतीति सप्तम्यन्तम् । गौरादित्वादिति ।
गौरादेरीप् प्रत्ययस्तद्विते वक्ष्यते ॥७२-७३॥

बाल०—स्त्री-भूवो । स्त्रियः । नन्वामि किम् इयादेशेन भाव्यं नुडागमेन वेति
सन्देह आह,—‘विरिच्चित’ इति । अतिस्त्रीरिति अतिक्रान्तः स्त्रीमिति विग्रहः । नाम्ना

अतिस्त्रिया । वृष्णिषु पक्षे अतिस्त्रियै अतिस्त्रिये अतिस्त्रियाः
अतिस्त्रियाम् ।

श्रीशब्दः । श्रीः । धातोरीदूतोरिति श्रियौ श्रियः इत्यादि ।

७५. नेयुव् स्थानं गोपी स्त्रियं विना, वृष्णिष्वामिच च ।

श्रियै श्रिये, श्रीभ्याम् श्रीभ्यः । धियाः श्रियः, श्रियाः श्रियः, श्रियोः,
श्रीणाम् श्रियाम् । श्रियाम् श्रियि श्रियोः श्रीषु । हेश्रीः । एवं
धीप्रभृतयः, भूप्रभृतयश्च । भूः भुवौ भुवः । एवं सुभूः । बुद्धे वर्मन
इति केचित् ।

अतिस्त्रिशब्दस्यापि भवतीत्यर्थः । भाष्य सम्मतत्वाद् विस्तर मतमेव ग्रन्थकृमन्तं ज्ञेयम् ।
लक्ष्म्यामतिक्रान्ता स्त्रियमिति विग्रहे पक्षे आप् पक्षे इत्यर्थः । पक्षान्तरे तु वृष्णिषु
पुरुषोत्तमवत् ।

अमृताद०—७५. नेयुविति । इयः उवोवा स्थानं स्थिति यत्र तदियुवस्थानम् ।
स्त्रीशब्दं विना इयुवस्थानं नाम गोपीसंज्ञं न भवति । वृष्णिषु आमि च परे इयुवस्थानं
गोपीसंज्ञं वाभवति । हेश्रीरिति—अम्बादीनां गोप्याश्चेत्यनेन न वामनः, गोपीत्वाभावात् ।
केचिदिति क्रमदीश्वरादयः । भूरिति गोपीत्वाभावात् सोहर्णः । सुभू शब्दस्य तु बुद्धे
वामनत्वं शिष्ट प्रयोगेण समर्थयते—आः कष्टमित्यादिभिः । श्रीसीताहरणानन्तरं विरहातुर
श्रीरामचन्द्रस्य खेदोक्तिरियम् । व्याख्या त्वाकरे द्रष्टव्या । “विमानता सुभू पितु गृहे
कुतः” इति कालिदासश्च । दीक्षितस्तु शिष्टप्रयोगोऽप्यनुपपत्ति इत्याह । अत्रेति—अत्र
पश्चात् समस्त प्रधीशब्दे यादेश स्तस्यां प्रक्रियाकीमुद्यां भ्रमः, सहजानेकसर्वेश्वरत्वाभावात् ।
तदेवोपन्यस्यति—गतिकारक पूर्वत्वाभावादिति । तथैव वात्तिकम्—गतिकरकेतर पूर्व-
पदस्य यन्नेष्यत इति । तन्मतेनैव तस्या अनुपपत्तिमालोचयति—प्रादीनामिति ।
प्रादीव्ययानां क्रियायेगे एव गतिसंज्ञा । गति कारकोपपदैः सह समासकाले हि विधीयन्ते
कृतप्रत्ययाः, ततःस्वाद्युत्पत्तिः । गतिकारकोपपदानां कृद्धिः सह समास वचनं प्राक्
सुबुतपत्तेरिति न्यायात् । अतः कृतन्तेन सह प्रादीनां पश्चात् समासे तु न गतिकारकत्वं
सहजानेक सर्वेश्वरत्वं वा । तस्मात्तन्मतेऽपि यादेशोऽत्र न युक्तएव ।

त्विति तदन्तविधिर्नामान्तविधिर्भवतीति शेषः । अतः खीशब्दस्य विहित इयादेशस्तदन्त-
कस्यातिभ्रिशब्दस्यापि भवतीति । अत्रेति । ख्लियाः खीशब्दान्तकस्य इति चेति विस्तर
इति शेषः । तत्र विस्तरमतमेव ग्रन्थकारस्यापि मतमिति ज्ञेयम् ॥७४॥

बाल०—नेयुव । खीशब्दं विना इयुवस्थानं गोपी न भवति । वृष्णीषु आमि च
परे इयुवस्थानं गोपी वा भवति । हेश्रीरिति गोपीत्वाभावात् ‘अम्बादीनां गोप्याश्च
वामनो बुद्धे’ इत्यनेन न वामनः । केचिदिति क्रमदीश्वरादय इत्यर्थः । शिष्टप्रयोगमपि
दर्शयति, हा पितरिति । तस्यां प्रक्रियाकीमुद्यां भ्रमः, सहजानेकसर्वेश्वरत्वाभावादिति शेषः ।

आः कष्टं वत ही चित्रं हूं मातर्देवतानि धिक् ।

हापितः क्वासि हेमुभू वह्नेवं विललाप सः ॥ —इति भट्टः ६।१।
पश्चात् प्रशब्दयोगे प्रकृष्टाधीः प्रधीः प्रधियौ प्रधियः । डे प्रधियै प्रधिये ।
अत्र यादेशस्तस्यां भ्रमः; गति कारक पूर्वत्वाभावात् । प्रादीनां क्रिया-
योगे एव हि तन्मते एव गतिसंज्ञेति । केवलाव्ययपूर्वत्वेऽपि, इति
त्वपाणिनीयम् । पुनर्भू शब्दस्य पुनर्व्यूदावाचकस्य नित्यस्त्रीत्वे हेपुनर्भु ।
क्वचिद्द्विन्न पदत्वेऽपि णत्वं वाच्यम् पुनर्भूणाम् । वधू प्रभृतीनां लक्ष्मी-
शब्दवत् । वधूः वध्वौ वध्वः । हेवधू ।

किञ्च, अनियुवां पश्चात् पुस्त्वेऽपि गोपीसंज्ञामाहः । ततो वहुप्रेयसी
शब्दः शसं विना पुंस्यपि गोपीशब्दवत् । एवमतिलक्ष्मीः लक्ष्मीशब्दवत् ।
अवयवस्त्रीविषयत्वात् सिद्धमिति भाष्यम् । ईप्रत्ययान्तवातप्रमी वदिति

न च वाच्यं प्रधीशब्दस्य कर्मधारये नित्यस्त्रीत्वेन गोपी संज्ञत्वाल्लक्ष्मीवद् रूपं युक्त-
मिति; गतिकारकपूर्वस्य विवन्तस्व विशेषेण यराम विधानाद् यदा गतित्वाभावेन यरामो
वाधितस्तदा तस्य धातुत्वापरहार्यत्वात् इयः प्रवृत्तिर्हि सञ्ज्ञता, सकृदगत न्यायेन पुनर्य-
रामाप्रवृत्तेः । नचात्रस्त्रीविषयत्वाद् गोपीकार्यमेव वलवदित्यपि वाच्यम्; गोपीसंज्ञायां
याप् विद्वरेव विशेषकार्यत्वात् । यरामस्तु सामान्य सन्धिविधिनैव सिद्ध इति तत्त्वम् ।
एवच्च “दुर्धियो वृश्चिकभियः” इत्यादौ दुस्थिता धीर्घेषामिति विग्रहे दुरित्यस्य गतित्वा-
भावान्न यकार इति पाणिनीयाः । केवलप्रादिभिः सह समासेऽपि यादेशं केचिन्मन्यते, ततु
पाणिनेरसम्मत्वान्नग्राह्यमित्यर्थः । वहुप्रेयसीरिति—वह्नः प्रेयस्यो यस्य स कृष्ण इत्यर्थः ।
“नचेयस्याः पीताम्बरे” इति वामननिषेधः । शसं विनेति—पुरुषोत्तमत्वात्त्र यावत्
सम्भव विधिना दशावतारस्य त्रिविक्रमः सो नश्च—वहुप्रेयसीनिति । अतिलक्ष्मीरिति—
अतिकान्तो लक्ष्मीमिति विग्रहः । ईवन्तत्वाभावाद् गोरीप आप इत्यनेन नवामनः ।
अवयवेति—अवयवस्यात्र प्रेयसीत्यङ्गस्य स्त्रीविषयत्वात् स्त्रीवाचित्वाद् नदीसंज्ञत्वं सिद्ध-
मिति भाष्यकारः । तेनअतिलक्ष्मी शब्दस्य प्रक्रियामतेन एकैकरूपाद् वृष्णिषु भेदः ।
नसोहंर इति विस्तरः, गोपीसंज्ञत्वच्च नेति च विस्तरः । अपाणिनीयमिति—अतिलक्ष्मै
त्राह्याणायेति भाष्योदाहरणात् धातुवदिति—अमृशसोः गोप्यम् गोप्यः इति भेदः । वामन-
त्वेत्विति—अनियुवां पश्चात् पुस्त्वे सति वामनत्वेतु गोपी संज्ञां न मन्यन्ते प्राच्चः । तेन

तन्मत एवेति न भवतीति शेषः । हेतुमाह—गतोति । गतित्वं खण्डयति प्रादीनामिति ।
हि यतः । केवलेति, केवलाव्ययपूर्वत्वेऽपि भवतीति तु मतमपाणिनीयम् । पुनर्भूशब्दस्येति
पुनर्भूशब्दो नेयुवस्थानमतोऽस्य न गोपीत्वनिषेधः, अतो नित्यस्त्रीत्वम् । हें पुनर्भु इत्यत्र
‘अम्बादीनामि’त्यादिना वामनः । ‘ए-ओ-वामनेभ्य’ इत्यादिना बुद्धादर्शनम् ।

क्वचित् । विद्विति लक्ष्मीशब्दवत् साधनमिति शेषः ।

तु प्रक्रियाकारः । वहुप्रेयसीरिति गौणत्वान्नसोहर्णः । वृष्णिषु गोपी-
संज्ञत्वञ्च नेति विस्तरः । इदमपाणिनीयम् । तथा गोपीमिच्छतीति
क्यन्नन्तात् क्विपि गोपी कृष्णः । सौगोपीवत्, शस्पर्यन्तं धातुवत्, पुनः
गोपीवत् । वामनत्वेतु गोपीसंज्ञत्वं नेच्छन्ति : सखीमतिक्रान्तस्य
अतिसखेरिति भाष्यम् । अनितुवामिति किम्—अतिश्रिये गोपीसंघाय ।
कश्चित् त्वत्रापीच्छति । ईऊरामयोरस्वाभाविक लक्ष्मीत्वे गोपीत्वं न;
विश्वन्ये श्रियै ।

मातृशब्दः पितृवत् । माता मातरौ मातरः । शसितु मातः । स्वसृशब्दः
कर्तृवत् । स्वसा स्वसारौ स्वसारः । शसि तु स्वसः । रैशब्दः
द्वियामपीत्येके इति क्षीरस्वामी । तेन पूर्ववत् । गोशब्दः पूर्ववत् ।
द्यो शब्दो गोवत् । नौगलीं वत् ।

॥ इति सर्वेश्वरान्तः स्त्रीलिङ्गाः ॥

सखीमतिक्रान्तः अतिसखिः छद्वेशीश्रीकृष्णः । गोरीप आप इतिवामनः । स्वतिभ्यामिति
समासान्तटप्रत्ययो निषिद्धः । रूपाणि हरिवदेव ननु सखिवत्, लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया
इहानिष्टत्वात् ।

अतिश्रिये इति—श्रियमतिक्रान्तः अतिश्रीः गोपीसमूह स्तस्मै । धातोरीदूतो-
रियुवाविति श्रीशब्दस्य इय सिद्धत्वान्न गोपी संज्ञत्वं पुस्त्वे । कश्चित् प्राप्तेयुवामपि
गोपीसंज्ञामिच्छति, तत् न भाष्यसम्मतम् । ईऊ रामयोरस्वाभाविक लक्ष्मीत्वे इति—
वाच्यलिङ्गयो स्तयो लं मीपक्षेऽपि न गोपीत्वम् । विश्वनीशब्दो वाच्यलिङ्गः, तेन
स्वाभाविक लक्ष्मीत्वाभावान्न तस्य गोपीसंज्ञत्वमिति बीजम् । ततश्च सहजानेकसर्वेश्वर-
स्येत्यादिका यराम एव । स्वसृ शब्दः कर्तृवदिति—स्वसृ तृल् तृनित्यादिना पाण्डवेषु
वृष्णीन्द्रः । शसितु स्वसृः पुंसीति विशेषणात् सोः नः नस्यात् । बुद्धे मातः स्वसरिति ।

॥ इति सर्वेश्वरान्तः स्त्रीलिङ्गा व्याख्याता ॥

किञ्चेति । अनियुवां शब्दानाम् । आहुरिति पूर्वाचार्या इति शेषः । बहूचः
प्रेयस्यो यस्येति विग्रहे 'न चेयस्याः पीताम्बर' इति वामननिषेधः, कृष्णवाची वहुप्रेयसी
अशब्दः । तिलक्ष्मीरिति अतिक्रान्तो लक्ष्मीमिति विग्रहः । अवयवेति वहुप्रेयसीप्रभृतीनाम्
अवयवस्य वहुप्रेयसीप्रभृते: स्त्रीप्रतिपादकत्वात् नदीसंज्ञत्वं सिद्धमिति ।
वहुप्रेयसीप्रभृतिरीप्रत्ययान्तवातप्रभीवदिति तु प्रक्रियाकारः । बृद्धिवति । न सोहरं इति
विस्तरः, गोपीसंज्ञत्वञ्च नेति विस्तरः । इदं मतम् । धातुवदिति गोप्यौ गोप्यः गोप्या-
मित्यादि नेच्छन्तीति पूर्वाचार्या इति शेषः । अतिश्रिये इति अतिक्रान्तः श्रियं अतिश्रीः
तस्मै । नात्र गोपीसंज्ञत्वम् । विश्वन्ये इति वाच्यलिङ्गत्वात् स्वाभाविकलक्ष्मीत्वाभावः ।
रैशब्द इति तेन तस्य रूपं पूर्ववत् ॥७५॥ ॥ इति सर्वेश्वरान्तः स्त्रीलिङ्गाः ॥

अथसर्वेशरान्ता नपुंसकलिङ्गाः ।

तत्र अरामान्तो गोकुलशब्दः ।

७६. ब्रह्मकृष्णात् सोरम् ।

दशावतारादमृशसोररामहरः । गोकुलम् । राधाब्रह्मामौई—
गोकुले ।

७७. ब्रह्मतो जस्तशसोः शिः ।

शद्वित् । एकवर्णत्वादन्ते प्राप्ते शित्सर्वस्येति शिदादेशः सर्वस्य भवति ।

७८. सर्वेश्वर-वैष्णवान्तयो नुम् शौ ।

उमावितौ ।

७९. अन्त्य सर्वेश्वरात्परं मितः स्थानम् ।

अमृताऽ—७६. ब्रह्मेति । अरामान्त नपुंसक शब्दात् सु स्थाने अमादेशोभवति ।
अत्र सोर्मरामे कृतेभीष्मिद्वे अमृविधानं निर्जरसं सिद्धर्थम् ।

अमृताऽ—७७. ब्रह्मत इति । एकवर्णेति—एकवर्णो विधिरन्ते प्रवर्त्तत इति
न्यायेन अत्रान्तस्थित-सरामस्थाने शि-विधाने प्राप्ते शित् करणेन तन्निर्वत्तिम्; यतः
शिदादेशः समग्रस्य स्थाने भवतीति नियमः । तेनात्र अस् इतिसमुदायस्यैव शिरादेश इति
निर्गलितार्थः ।

अमृताऽ—७८. सर्वेश्वरेति । शौ परे सर्वेश्वरान्तस्य वैष्णवान्तस्य च शब्दस्य
नुमागमः स्यात् । सर्वेश्वरादेः किम्—चत्वारि अहानि वहुपुरि ।

अमृताऽ—७९. अन्त्येति । परिभाषेयम् । मित् भूतस्य अन्त्यसर्वेश्वरात् परं
स्थितिः स्यात् ।

॥ अथ सर्वेश्वरान्ता नपुंसकलिङ्गाः ॥

बाल०—ब्रह्म । मरामं न कृत्वा यदमिति कृतं, तत्र निर्जरसमित्यस्य
सिद्धर्थम् ॥७६॥

बाल०—ब्रह्म । एकेति एकवर्णो विधिरन्ते प्रवर्त्तते इति न्यायेन अन्ते प्राप्ते शित्
सर्वस्येति न्यायेन शिदादेशः सर्वस्य समुदायस्य स्थाने भवतीति अरामसहित-सरामस्य
स्थाने शिर्भवति ॥७७॥

बाल०—सर्वेश्वर । शौ परे सर्वेश्वरान्तस्य वैष्णवान्तस्य च नुम् भवति ॥७८॥

बाल०—अन्त्य । परिभाषासूत्रमिदम् ॥७९॥

द०, अन्त्यात् पूर्ववर्ण उद्धवसंज्ञः ।

उपधेति प्राञ्चः ।

द१. अब्रह्मपाण्डवाः शिश्च कृष्णस्थानसंज्ञाः ।

घुट्संज्ञा इत्येके, सर्वनामस्थान संज्ञा इत्यन्ये ।

द२. नान्त, धातुर्वर्जितसान्त सत्संग, महदपामुद्धवस्य त्रिविक्रमः
कृष्णस्थाने बुद्धं बिना ।

नान्तस्य धातुर्वर्जित-सान्त-सत्सङ्गस्य महतः अपश्चेति विच्छेदः ।
गोकुलानि । एवंद्वितीयायाम् । तृतीयादौ पुरुषोत्तमवत् । बुद्धस्थानी-
यत्वादमपि बुद्धसंज्ञः, हेगोकुल । एवं कुल फल मूलादयः ।

अमृता०—द०. अन्त्यादिति सुगमम् । उत्—हु+अल्=उद्धवः । वृष्णीनां सम्मतो
मन्त्री कृष्णस्य दियतः सखा । शिष्यो वृहस्पते: साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः । इति श्रीमद्-
भागवतम् ।

अमृता०—द१. अब्रह्मेति । अब्रह्मपाण्डवाः पुरुषोत्तम-लक्ष्म्योः पाण्डवास्तथा
व्रह्मणः शिश्र कृष्णस्थानसंज्ञकाः स्युः । अन्ये पाणिन्यादयः । कृष्णस्य स्थानं धाम कृष्ण-
स्थानं वृन्दावनम् ।

अमृता०—द२. नातेति । सान्तश्चासौ सत्सङ्गश्चेति सान्तसत्सङ्गः, सान्तरूपेण
सत्सङ्ग इत्यर्थः । धातुर्वर्जितः सान्तसत्सङ्गः धातुर्वर्जितसान्तसत्सङ्गः । नान्तश्च
धातुर्वर्जितसान्तसत्सङ्गश्च महत् अप् च तेषामुद्धवस्य त्रिविक्रमः स्याद् बुद्धवर्जित कृष्ण
स्थाने । नान्तेति सामान्येन निर्देशाद् यः स्वाभाविक-प्रातिपदिकाङ्गभूतो नरामो, विष्णु
सम्बन्धी च यो नरामो नामान्तरस्यः, स च न शब्देन ग्राह्यः । विरिच्चिसम्बन्धि नरामश्च
नामान्तरं एव नाम धातु प्रत्यय विष्णुपदानामादेशस्य तज्जातिभाव-स्वीकारात् ।
तत्त्वरामान्तशब्दस्योद्धवस्य त्रिविक्रमो वोध्यः । तत्रस्वाभाविकनान्तस्य—राजानौ
इत्यादि । इह च नुमः प्रसङ्गाद् विष्णु सम्बन्धि नरामस्य नाम—नान्तत्वम्—गोकुलानि ।
विरिच्चि नान्तस्य च—शीर्षाणि दर्शयते । धातुर्वर्जितेति किम्—कंसहित् । कृष्णस्थाने
इति किम्—राजा गोकुले । बुद्धस्थानीयत्वादिति—बुद्धस्थानेभवो बुद्धस्थानीयः, तस्य
भाव स्तत्वं, तस्मात् । तेन अमो बुद्ध संज्ञते एओ वामनेभ्य इति तस्य हरः ।

बाल०—अन्त्यात् सुगमम् ॥८०॥

बाल०—अब्रह्म । अब्रह्मपाण्डवाः पुरुषोत्तमलक्ष्मीपाण्डवाः ॥८१॥

बाल०—नान्त । नान्तश्च धातुर्वर्जितसान्तसत्सङ्गश्च महत् अप् च तेषाम् ।
बुद्धेति । बुद्धरूपस्थानि-सम्बन्धित्वात् अम् बुद्धसंज्ञ इति । 'ए ओ वामनेभ्य'
इत्यादिना अदर्शनम् ॥८२॥

८३. हृदयस्य हृद यदुषु वा । शीर्षस्य शीर्षन् वेत्येके ।

प्रयोगाश्च पक्षे विष्णुजनान्तवज् ज्ञेयाः । यथा हृन्दि हृदयानि, हृदा
हृदयेन । उभयत्रापि शीर्षाणि ।

जराया जरस्वा सर्वेश्वरे । निर्जरम् निर्जरसम्, निर्जरे निर्जरसी ।
नुमः पूर्वं जरसादेशं मन्यन्ते ।

८४. अविष्णुपदान्तस्य नस्य मस्य च विष्णुचक्रं वैष्णवे ।

निर्जराणि निर्जरांसि । पुन स्तद्वत् । बुद्धे हेनिर्जर । हेनिर्जरसमित्यपि
केचित् ।

इरामान्तो दधिशब्दः ।

अमृता०—८३. हृदयस्येति । यदुषु विष्णुभक्तिषु हृदयशब्दस्य हृदादेशो वा स्यात्,
तेषुपरेषु शीर्षशब्दस्य शीर्षन्नित्यादेशो वा भवतीति एके पाणिनीया मन्यन्ते । उभयत्रा-
पीति—आदेशानादेशपक्षयो रित्यर्थः । अनादेशो सर्वेश्वरान्तत्वान्तुम्, आदेशपक्षेतु सर्वेश्वर-
वैष्णवान्तत्वाभावान्तुम् । नुमः पूर्वं जरसादेशं मन्यन्त इति—ननु निर्जर शि इतिस्थिते
जरसादेशो कृते न कृते च नुम् सम्भवेदेवेति तस्य नित्यत्वात् प्रथमं हिभवतु स इत्यनिष्ठा-
पत्तिरास्यते—“नुमो विधानाज्जरसादेशोभवति विप्रतिषेधनेति” काशिका । यदि पूर्वं
हि नुम् स्यात्ततो नुमा व्यवहितत्वाज्जरसादेशस्तु नलभ्येत । तस्मादिह—विरचितो विष्णु
र्वंलवान् विष्णुतः सर्वविरचितिरिति परिभाषया प्रागेव जरसादेशेन भवितव्यमित्यविरोधः ।

अमृता०—८४. अविष्णवति । वैष्णवे परे अविष्णुपदान्तस्य नस्य मस्य च विष्णु-
चक्रं भवति । अविष्णुपदान्तस्येति किम्—सम्भवति, क्रीडङ्गयति । वैष्णवइति किम्—
मन्यते गम्यते । तृतीयादौ निर्जरशब्दस्य रूपाणि पुरुषोत्तमवत्, दर्शितानि तानि लक्ष्मी
प्रकरणे । हेनिर्जरसमित्यपि केचिदिति—तन्मते सोरेव बुद्धसंज्ञा, तत्स्थानीयस्य अमस्तु
न । अतएव एओवामनेभ्य इत्यमोऽदर्शनाभावाज्जरसादेशे जाते निर्जरसमिति ।
अत्यरामान्ताः ।

बाल०—हृदयस्य । शीर्षस्य । उभयत्र शीषांणीति आदेशपक्षे सर्वेश्वरवैष्णवान्त-
त्वाभावात् न नुम् । नुम् इति मन्यन्ते पूर्वाचार्या इति शेषः । नुमः पूर्वं पूर्वस्मिन् जरादेशं
मन्यन्ते इत्यर्थः । यदि प्रथमं नुम् स्यात्तदा सर्वेश्वरपरत्वाभावात् जरसादेशो न स्यात् ।
तस्मादभिप्रायेणैतद्बोद्धव्यं, ते पण्डिताः प्रकृत्याश्रितं प्रकृतावपीति न्यायमनङ्गीकृत्य
भाविनि भूतवत् स्वीकारेण जसूशसोः शौ कृते प्रथमतो नुम् प्राप्नोति, तं नुमं विरचितो
विष्णुर्वंलवान् विष्णुतः सर्वविरचितिरिति न्यायेन वाधित्वा जरसादेशं मन्यन्ते, अन्यथा
व्यर्थमुक्तं स्यात् । अस्माकं मते प्रथमतो जरसादेशः, पञ्चादन्यत् कार्यमिति ॥८३॥

बाल०—अविष्णु वैष्णवे परे ॥८४॥

८५. ब्रह्मतः स्वमोर्महाहरः ।

दधि । कथं गोकुलं ? तत्राकरणात् ।

८६. ब्रह्मेशान्तानुक् सर्वेश्वरे नत्वामि ।

उकावितौ । दधिनी दधीनि । पुनस्तद्वत् ।

८७. दधि अस्थि सकृथि अक्षि शब्दानामिरामस्य अन् टादि
सर्वेश्वरे ।

८८. अकृष्णस्थानसर्वेश्वरो भगवत् संज्ञस्तद्वितेयश्च ।

अत्र पाणिनीयानां प्रकृतेर्भसंज्ञा ।

अमृता०—८५. ब्रह्मत इति । अरामान्यर्जिताद् ब्रह्मतः स्वमोः प्रत्यययोर्महाहरः स्यात् । महाहरत्वेन स्थानिवत्वाभावेनाग्रिमसूत्रस्य कार्यं नुक्न सम्भवेत् । कथं गोकुलमिति द्वितीयैकवचनमेवशङ्क्लयं, प्रथमैकवचने तु सोरम् विधान सामर्थ्यदिव महाहरो न स्यात् । तत्र सिद्धान्तयति—तत्राकरणादिति । यद्यरामान्त शब्दादमो महाहरः स्यात्तदा पूर्वत्र हीदंकियेत, असिद्धरूपं नत्याज्यमिति प्रतिज्ञानुरोधात् । तेन पूर्वत्र यन्नैव विहितं तस्मात्तत्त्वभवतीत्यर्थः । अत एव सूत्रमिदं अद्वयेतरत्रैव प्रवर्त्तितव्यमित्याशयः ।

अमृता०—८६. ब्रह्मेशान्तादिति । सर्वेश्वरादौ विष्णुभक्तौ नपुंसकात् ईशान्तात् परः नुमागमः स्यात्, आमि तु स न स्यात् । विष्णुभक्तावेव, तदन्यत्र न—मधु (मद्य) तस्येद माधवम् । सर्वेश्वर इतिकिम्—दधिभ्याम् । नत्वामीति—वामन गोपीराधाभ्यो नुडामीति नुड्विधेः परनिमित्तस्य स्वल्पाश्रितत्वेनान्तरङ्गत्वाद् वलवत्वम्, अतएवामि नुडेव । कृतेनु नुकि किदागमस्य पूर्वं सम्बन्धित्वेन प्रत्ययेन सह मेलनाभावाद् वामनस्य त्रिविक्रमो नस्यात्, नाम्-परत्वविरहात्; इत्थञ्च वारिणामित्यनिष्ठरूपमापद्येत ।

अमृता०—८७. दधीति । टादिसर्वेश्वरे परे दधिप्रभृतिचतुर्णामिरामस्य अन् इत्यादिश्यते । टादीतिकिम्—दधिनी । सर्वेश्वरे इति किम् दधिभ्याम् ।

अमृता०—८८. अकृष्णेति । कृष्णस्थानानि अब्रह्मपाण्डवाः शिश्र; तेभ्योऽन्यः लक्ष्मी-पुरुषोत्तमयोः पाण्डवेतरः शसादिः, ब्रह्मणः शिभिनः शेषश्च अकृष्णस्थानः । सचासौ

बाल०—ब्रह्मतः । कथमिति सिद्धान्तमाह,—तत्रेति गोकुलमिति द्वितीयैकवचनान्तं प्रथमैकवचने तु ब्रह्मकृष्णात् सोरम् इत्यम्—विधानसामर्थ्यदिव महाहरो न भवति, यद्यमो महाहरः स्यात्तदा पूर्वत्रैवेदं विदध्यात् तस्मादरामान्तान्महाहरो न भवति ॥८५॥

बाल०—सुगमम् ॥८६॥

बाल०—दधि । ब्रह्मेशान्तात् । आमि तु परे नुक्न न भवति । अतो वारीणामित्यादौ वामनगोपीत्यादिना नुटि कृते वामनस्येत्यादिना त्रिविक्रमो भवति । नुकि सति त्रिविक्रमो न स्यात् ॥८७॥

दर्द. वम-सत्संगहीनस्यानोऽरामहरो भगवति नतु ये, ईङ्ग्योस्तु वा ।

दध्ना दधिभ्याम् दधिभिः । दध्ने दधिभ्याम् दधिभ्य इत्यादि । डौ दध्नि दधनि ।

६०. व्रह्मणो गोविन्दो वा बुद्धे ।

हेदधे हेदधि । एवं अस्थि सकथि अक्षिः । अतिक्रान्तं दधि येन यथा वा अतिदध्ना, गोपालेन गोपाल्या वा । स्वभावतो ब्रह्मव दधिशब्दो गृह्णते । ततो दधातीति दधिः, तेन दधिना । इरामस्येति किम्—पद्माक्षेण । वारि वारिणी वारीणि । २।

सर्वेश्वरश्चेति तथा । अकृष्ण स्थानसर्वेश्वरो भगवत् संज्ञः स्यात् । तथा तद्वित यरामश्च तत्संज्ञः स्यात् । चकारात् तद्वित सर्वेश्वरश्च भगवत्संज्ञो ज्ञेयः । प्रकृते र्भसंज्ञेति—भगवत् संज्ञकः प्रत्ययो यस्याः प्रकृते रूतरं विधीयते तस्याः प्रकृतेरेवभगवत् संज्ञा । भगोऽस्यास्तीति भगवान् पठ्लक्षणान्वितः पुरुषो नारायणः । ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञान-वैराग्ययोश्चेति षण्णा भग इतीङ्गना ।

अमृता०—दर्द. वमसत्सङ्गेति । भगवति प्रत्यये परे वमयोः सत्सङ्गेन संयोगेन हीनस्य अनोऽनन्तशब्दस्य अनइति यावत् अरामहरो भवति, तद्वित यरामं वर्जयित्वा । ईङ्ग्योः परयोस्तु अरामहरो वा स्यात् । ईङ्ग्योरिति—राधा ब्रह्म्यामौई इत्यत्र तथा सप्तम्यैकत्वे च । तद्विते ईपि च । तेनराज्ञी, शुनीत्यादयश्च सिध्यन्ति । आमितु दध्ना-मित्येव । प्रकृत्याश्रितत्वेन अन् विधेरन्तरङ्गत्वाद् वलवत्त्वम्, नुड्विधेस्तु प्रकृते वर्हिराश्रितत्वाद् वहिरङ्गत्वमिति नुड्विधेरिह दुर्वलता । भगवतीति किम्—राजानौ । नतु येहति किम्—राजन्यः ।

अमृता०—६०. ब्रह्मण इति । सुगमम् । ननु अतिक्रान्तं दधि येन यथावेति विग्रहे अतिदधिशब्द स्तस्मात् टाप्रत्यये पुंसि—अतिगोपिनावत् अतिदधिना तथा लक्ष्म्यां प्रिय-हर्यावित् अतिदध्या इत्येवंरूपं हरिसंज्ञाकार्यं कथं नभवेदिति चेतदुच्यते—दधि अस्थीत्यादि

बाल०—अकृष्ण । कृष्णस्थानेभ्योऽन्यः सर्वेश्वरस्तद्वितः यश्च भगवत्संज्ञः स्यात् । अत्रेति । यो भगवत्संज्ञः सप्रत्यय एव यस्याः प्रकृतेः परे स विधीयते तस्या भसंज्ञा पाणिनीयानाम् ॥६०॥

बाल०—वम । व-म-सत्सङ्गः संयोगः अन इति अनन्तस्येत्यर्थः । ईङ्ग्योः परयोः ॥६०॥

बाल०—ब्रह्म । अतिदध्नेति अतिक्रान्तो दधि अतिदधिस्तेन अतिक्रान्ता दधि अति-दधिस्तया वा । ननु अतिदध्नेत्यत्र पुरुषोत्तमे अतिदधिना लक्ष्म्यामिति दध्या इति कृते

वारिणा वारिभ्याम् वारिभिः । वारिणे इत्यादि । वारीणाम् ।
मधु मधुनी मधूनि ।२।

६१. व्रज्ञान्त त्रिविक्रमस्य वामनः ।

विश्वनि विश्वनिनी विश्वनीनि । गोकुलाभ्यामित्यादौ तु नवामनः,
त्रिविक्रमविधेहभ्याश्रितत्वेन वहिरङ्गत्वात् ववचिदन्तरङ्गे कार्ये क्रिय-
माणे तदनिमित्तं वहिरङ्गमसिद्धं स्यादिति वक्ष्यमाणं न्यायेन तत्रा-
करणेन वा ।

सूते 'व्रह्माणीति' विशेषोक्ते रभावाद् व्रहोतरलिङ्गयोरपि दधि प्रभृति चतुः शब्दानां सम्बन्धे
एतदेव कार्यं स्यान्ननु हरि संज्ञायाः कार्यम् । ततु वारि मधु प्रभृतिविषयकं ज्ञेयम् । यतो
नाम्ना तु ववचिदिति तदन्तविधिरनुसरणीयः । दधातीति दधिः—“धात्र् कृसृ” इत्यादिना
कि प्रत्ययान्तः । पद्माक्षेणेति—पद्मे इव अक्षिणी यस्येति “स्वाङ्गाभ्यामक्षि-सक्थिभ्या-
मित्यनेन केशवारामस्तद्वितः । संसारहरोभगवतीति इरामहरः । एवच्च दीर्घसक्थः
असक्थ इत्यादावपि नान् ।

अमृता०—६१. व्रह्मान्तेति । नपुंसकस्यान्तस्थित त्रिविक्रमस्य वामनो भवति ।
अन्तत्रिविक्रमस्येति किम्—मध्यस्य न सीधु । विष्णुभक्तायेव, तेन नेह—विश्वनीत्वम् ।
विधिवलेन गोकुलाभ्यामित्यादावपि प्राप्तवामनाशङ्कां निराकरोति—ववचिदित्यादिन्यायेन ।
अत्रवामनविधानमन्तरङ्गकार्यं, प्रकृत्याश्रितत्वात् । त्रिविक्रम विधानन्तु वहिरङ्गमिति
मूले हि प्रतिपादितम् । वामने क्रियमाणे त्रिविक्रमोऽसिद्धः स्यातदा कस्य वामनो विधेयः ?
अतो निष्फलत्वान्न तस्य प्रवृत्तिरिति । हेत्वन्तरमप्याह—तत्राकरणेनेति । असिद्धरूप
मित्यादि प्रतिज्ञासिध्यर्थं तत्रैवकर्तुमुचितमपि यन्नकृतं तस्मान्न स्यादित्यर्थः ।

को दोषः ? यतोऽतिवोपिना प्रियहर्या इत्यादौ समस्तत्वेऽपि पुरुषोत्तमलक्ष्मीवद्रूपं स्यादिति
चेत् सिद्धान्तमुच्यते—‘दधि अस्थि सक्थि अक्षिशब्दानामि’ त्यादौ व्रह्माणीत्यविशेषणत्वेनान्-
विधानसामर्थ्यदितेषां टादिसर्वेश्वरे परे हरिसंज्ञत्वं न व्याख्यातम् । ततो न वाच्यानुसार-
रूपत्वमिति फलितार्थं स्यादेवेति भावः । अथवा समस्तत्वेनान्यलिङ्गत्वेऽपि दधिशब्दस्य
व्रह्मत्वमस्त्येवेति वर्णेन विधौ तदन्तस्य कार्यं नाम्ना तु ववचिदिति न्यायेन इरामस्यान् ।
दधिनेति किप्रत्ययान्तो दधिशब्दः । पद्माक्षेणेति । पद्मे इव अक्षिणी यस्येति स्वाङ्गा-
भ्यामक्षि-सक्थिभ्यामित्यनेन केशवारामस्तद्वितः, संसारस्य हरो भववतीत्यनेन
इरामहरः ॥६१॥

बाल०—व्रज्ञान्त । गोकुलाभ्यामित्यादाविति वामनप्राप्तौ हेतुमाह, ववचिदिति ।
ववचिदन्तरङ्गकार्ये क्रियमाणे तदनिमित्तं वहिरङ्गमसिद्धं स्यादिति न्यायेन । अत्रान्तरङ्ग-
कार्यं वामनः प्रकृत्याश्रितत्वात्, त्रिविक्रमविधानं वहिरङ्गम् । वहिरङ्गत्वं प्रतिपादयति
त्रिविक्रमेति । उभयाश्रितत्वेन हेत्वन्तरमप्याह तत्रेति ॥६१॥

८२. समानार्थतया पुरुषोत्तमतार्हमौशान्तं ब्रह्म पुरुषोत्तमवद् वा
टादिसर्वेश्वरे ।

विश्वन्या विश्वनिना । आमि विश्वन्यां विश्वनीनाम् । अत्र पुरुषोत्तमे
ब्रह्मणि च विश्वप्रेरकत्वं समानम् । असमानार्थत्वेतु पुंसिवृक्षे यथा
पीलवे ब्रह्मणि फले च तथा न किन्तु केवलं पीलुने । पूर्वत्र तद्वृक्षत्व-
मुत्तरत्र तज्जातत्वमित्यर्थभेदः ।

कृष्णरै शब्दस्य वामनइरामएव; यतः

८३. एऐ स्थाने इरामः ओअौस्थाने उरामो वामनः स्यात् ।

कृष्णरि कृष्णरिणी कृष्णरीणि । कृष्णराया कृष्णरिणा । एकदेशविकृत-
मनन्यवत्—कृष्णराम्याम् । कृष्णरायाम्, सभोरन्यत्र नात्वं कृष्ण-
रीणाम् । टामोः कृष्णराणा कृष्णराणामित्येव जुमरमतम् । आमि तु

अमृता०—८२. समानार्थेति । समानार्थत्वेन पुरुषोत्तमतामहंतीति पुरुषोत्तमतार्हं
पुस्त्वयोग्यं ईशान्तं ब्रह्म, तल्लक्षितशब्द इत्यर्थः । टादिसर्वेश्वरे परे विभाषया पुरुषोत्तम-
वद् भवति । यस्य शब्दस्य पुरुषोत्तमे ब्रह्मणि च समानार्थो विद्यते तादृशं शब्दस्य ब्रह्मणि
टादिसर्वेश्वरे विभाषया ब्रह्मवदरूपं भवति पक्षे पुरुषोत्तमवच्य स्यादिति सरलार्थं ।
पुरुषोत्तमवदिति—अकृतवामनास्थायां स्वाभाविकपुरुषोत्तमवदित्यर्थः । ब्रह्मपक्षेहि वामनः ।
पुरुषोत्तमवत्वे टामोः विश्वन्या विश्वन्यामिति । वृष्णिष्वपि विश्वन्ये इत्यादिकं पुरुषोत्तम
वज् ज्ञेयं, ब्रह्मपक्षे नुक् च । पीलुशब्दस्य प्रवृत्ते निमित्तं पुंसि वृक्षः, ब्रह्मणि तुफलमिति
प्रवृत्तिनिमित्तभेदः (अर्थभेदः); तस्मात् समानार्थत्वाभावात् पुरुषोत्तमतार्हता । एवमियुव्
वतामपि—कृष्णस्यभू जन्म यत्र तत् कृष्णभू गोकुलम्: कृष्णभुना कृष्णभुवेत्यादि । एवच्च
प्रियश्री वृन्दावनम्; प्रियश्रीणा प्रियश्रीयेत्यादि त्रेयम् ।

अमृता०—८३. एऐ स्थान इति । परिभाषासूत्रम् । कृष्णगातृत्वस्य पुरुषोत्तमे
ब्रह्मणि च समानत्वात् कृष्णरैशब्दोऽपि पुरुषोत्तमतार्हं ब्रह्म । कृष्णराया कृष्णराये
इत्यादीनि पुरुषोत्तमवत्त्वात् । ननु ब्रह्मान्तत्रिविकिमस्य वामने कृते कृष्णरि-भ्यामिति
स्थिते राय आ स्भोरिति कथं प्रवर्तते तदा रैस्वरूपस्याभावादिति चेत्तत्राह—एकदेशेति ।
कृष्णरायामिति पुरुषोत्तमवत्वे आमि । स्भोरन्यत्रेति—स्भोरिति लिपिकार प्रमादः ।

बाल०—समा । टादिसर्वेश्वरे परे समानार्थत्वेन पुस्त्वार्हमौशान्तं ब्रह्मपुरुषोत्तमवद्वा
भवति । पुरुषोत्तमवत्वे विश्वन्यामिति च । असमानार्थत्वे त्विति, पुंसि पुरुषोत्तमे वृक्षे
वाच्ये यथा पीलवे इति भवति, ब्रह्मणि फले वाच्ये तथा न भवति, किन्तु केवलं पीलुने
इति भवति । पूर्वत्र पीलव इत्यत्र तद्वृक्षत्वं पीलवृक्षत्वम् । उत्तरत्र पीलुने इत्यत्र तज्जा-
तित्वं पीलुवृक्षजातित्वम् ॥८२॥

कृष्णराणामित्येवोज्ज्वलदत्तमतम् । येषां विष्णुजनादि विष्णुभक्तिमात्रेऽप्यात्मं तेषामपि सन्निपात लक्षणत्वेन नात्वमिति प्रक्रियाकारेण तत्त्वं गृहीतम् । सन्निपात लक्षणं वक्ष्यते ।

सुद्धो शब्दस्य सुद्धु सुद्धुनी सुद्धूनि । टादौ सुद्धावा सुद्धुना । हेसुद्धो हेसुद्धु । कर्तृः पृथक् विधानेन ब्रह्म कार्यस्य वलवत्त्वान्न वृष्णीन्द्रः, कर्तृणी कर्तृणि । टादौ कर्त्रा कर्तृणा । हेकर्त्तः हेकर्तृ । एवं प्रियक्रोष्टु प्रियक्रोष्टुनी प्रियक्रोष्टूनि । अत्रापि तृभाव इति तस्यां भ्रमः ।

अन्यार्थादिभिर्योगे पञ्चमीविधानात् सम्भ्यामित्येव पाठः सङ्ग्रहतः । जुमरोज्ज्वलदत्तमतेन एवकारात् कृष्णरीणामित्यस्वीकृतम् । तेनतत्त्वमत्यासमीचीनतां प्रमाणयति—येषामित्यादिना । येषां मते विष्णुजनादिविष्णुभक्तिमात्रे परे आरामो भवति तेषां मतेऽपि सन्निपात लक्षणत्वेन न स्यादिति हेतोः प्रक्रिया कारेण तन्मत्पुरेक्षितम् । सन्निपात लक्षणं वक्ष्यत इति—यं दृष्ट्वा यस्योत्पत्तिः स तस्य सन्निपातः । सन्निपातलक्षणोविधिरनिमित्तं तद्विवातायेति । अत्र इरामं दृष्ट्वा नुक् नुटोस्तुपत्तिरिति तौ इरामस्य सन्निपातौ; अतश्च नुट् नुक् वा जनकधातकवत् तस्य विनाशाय नप्रवर्तत इत्यर्थः । सुद्धो शब्दस्य सुन्दर स्वर्गवत्त्वं प्रवृत्तिनिमित्तामभिधेयमुभयलिङ्गे तुल्यमिति पुरुषोत्तमार्हम् । सुद्धवेति पुरुषोत्तम वत्त्वे । एवं सुनी शब्दस्य च—सूनु सुनुनी सुनूनि । सुनावा सुनुना इत्यादि वोध्यम् ।

ननु कर्तृणीत्यादौ नुकः पूर्वं स्वसृत्वलतुल्यनित्यादिना वृष्णीन्द्रः कथं न स्यात्तदेतुं निर्दिशति—पृथगिति । पूर्व-परयोः पर विधिर्वलवानिति तत्त्वम् । कर्त्रेति पुरुषोत्तमवत्त्वात् । एवं प्रियक्रोष्टिः—प्रियाः क्रोष्टारो यस्य तद् प्रियक्रोष्टु अरण्यम् । ब्रह्मकार्यस्य वलवत्त्वान्नतुल्यवल-विरोधः । प्रक्रिया कौमुद्याभ्यां प्रतिपादयति प्राचां मत्रदर्शनेन । विप्रतिषेधस्तुल्यवल-विरोधः । काशिकामते—विप्रतिषेधेपरं कार्यमित्याचार्य

बाल०—ए ए । परिभाषासूत्रमेतत् । पुरुषोत्तमवत्त्वात् कृष्णरायेति । ननु कृष्णराम्भ्यामित्यत्र वामने कृते 'राय आ सभोरि'ति कथं प्रवर्ततामिति चेत्तवाह,—एकदेशेति । पुरुषोत्तमत्वात् कृष्णरायामिति सभोरित्यत्र सभभ्यामिति पाठः सम्भ्यः । अन्यार्थयोगे पञ्चम्या विधानात् । टामोरिति कृष्णराणा कृष्णराणामित्येव, न तु कृष्णरिणा कृष्णरीणामिति ।

आमि त्विति । टापरत्वे कृष्णराणेति नोज्ज्वलदत्तमतम् । येषामिति । येषां मते विष्णुजनादिविष्णुभक्तिमात्रे परे आद्वावति, तेषां मतेऽपि टामोः सन्निपातलक्षणत्वेन आन्न भवति । इति प्रक्रियाकारेण तन्मतं न गृहीतम् । सन्निपातेति 'यं दृष्ट्वा यस्योत्पत्तिः स तस्य सन्निपातः, सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विवातायेति'ति । अत्र इरामं दृष्ट्वा नुको नुटश्च उत्पत्तिरतो नुक् नुट् च इरामस्य सन्निपातः । अतो नुक् नुट् च इरामस्य आरामादेशस्तुल्यविधाताय निमित्तं न भवति । पुरुषोत्तमवत्त्वात् सुद्धवेति । ननु कर्तृणी इत्यादौ

तृभावात् पूर्वविप्रतिषेधेन नुम् नुटौ भवत इति काशिका । परत्वान्नुमा क्रोष्टभावो बाध्यत इति पदचन्द्रिका । आगमविधिर्वलवानिति कातन्त्रो विस्तरश्च । प्रियास्तिस्त्रो यस्मिन् गोकुले तत्प्रियत्रि । महाहरत्वेऽपि तिसृभावः काशिकादौ दृश्यते, प्रियतिसृ । यद्येवं तर्हि विष्णु भक्तावित्यस्य प्रत्युदाहरणन्तु त्रित्वमिति तद्वितादावेव ज्ञेयम् । प्रियतिसृणी प्रियतिसृणि । प्रियतिस्त्रा प्रियतिसृणा । डसिङ्गसोः प्रियतिस्त्रः, रविधानस्य नित्यत्वात् । एवंप्रियचतसृ । विस्तरकारस्तु विकल्पयति । तेन प्रियत्रि प्रियचतुरित्यपि ।

सूत्रात् परौ नुम् नुटावेव भवतो नतु तृभाव इति । पदचन्द्रिकामते—पूर्वपरयोः परविधिर्वलवानिति न्यायेन नुमः परत्वात् तदेव भवतीति । कातन्त्र-विस्तरयोमते—विरचित्वितो विष्णु वंलवानिति न्यायेन नुग्-विधेवंलवत्त्वान्न हि तृभाव इति । तदेतत्सर्वं स्व-मत-समर्थकं प्रक्रियामतविधातकञ्च । तेन काशिकादिमत-सम्मतेऽस्मन्मते—यत्र नुको नुटश्च विषय स्तत्र तृभावो न स्यात् । अर्थात् व्रह्म पक्षीयपदसाधने नुका तृभावो बाध्यते—प्रियक्रोष्टुना प्रिय क्रोष्टुने इत्यादीनि । पुरुषोत्तमवत्त्वे तु पुरुषोत्तमवदेव भवन्ति रूपाणि आमूर्वजंस्—प्रियक्रोष्टुना प्रियक्रोष्टा, प्रियक्रोष्टे प्रियक्रोष्टे इत्यादीनि । आमि तु नुटस्तृभाववाधकत्वात् प्रियक्रोष्टनामित्येकमेव पक्षत्रयेऽपि ।

महाहरत्वेऽपि तृभाव इति—काशिकादौ लुक्-लोपयोः सतोः प्रत्ययकार्यं निषेधस्य अनित्यता मन्यते । एवच्च सति तिसृ चतस्रादेशसूत्रे विभक्तावित्यनुवृत्तेः कुतस्तद्व्यावृत्तिः ? अतस्तदुपर्ति दर्शयति—यद्येवमित्यादिना । स्वमते तु महाहरे सति प्रत्ययलक्षण कायंस्यानुपपत्तेः प्रियत्रि इत्येव । विष्णुभक्तामेव त्रिचतुरोस्तिसृचतसृभाव इष्टः, यदिती स्त्रियां वत्तंते । समस्तस्यावयवस्यलक्ष्मीत्वेऽपि तयोरन्यलङ्घस्थयोस्तु तत्तदादेशौ नैवेष्टौ । यथा प्रियाञ्चयः प्रियाणि त्रीणि वा यस्याः सा प्रियत्रिरिति भक्तिवत् ।

नुकः पूर्वं 'स्वसृ-तृल-तृणप्रत्ययानां वृष्णीन्द्रं सुवर्जं पाण्डवेष्वित्यनेन वृष्णीन्द्रः कस्मान्न स्यादिति चेत्तात्राह । पृथग्मिति पुरुषोत्तमवत्त्वात् कर्त्तेति । अत्रापीति । तस्यां प्रक्रियाकौमुद्याम् । तृभावाभावे शास्त्रान्तराणि प्रमाणयति तृभावादिति । परत्वादिति । आगम इति च । विप्रतिषेधेन उभयाप्निविरोधेन नुम्-नुटौ भवतः परत्वादिति शेषः । प्रियक्रोष्टित्यत्रापि परत्वात् । प्रथमं महाहर एव भवतीति ज्ञेयम् । प्रिया इति प्रियास्तिस्त्रो यस्मिन् तत् प्रियत्रीति स्थिते सोर्महाहरत्वेऽपि तिसृभावो दृश्यते । अत्र त्रिशब्दस्य लक्ष्मीस्थत्वं विद्यत एवेति 'लक्ष्मीस्थयोऽस्त्रिचतुरोस्तिसृ-चतसृ विष्णुभक्तावित्यनेन तिसृभावः । यद्येवमिति यदि महाहरत्वेऽपि तिसृभावः स्यादित्यर्थः । तिसृणां भावस्त्रित्वम् । अत्रेति शब्दादार्थः । अन्यथा तद्वितादावित्यनेन सहासङ्गतिः स्यात् । इति हेतुप्रकरणप्रकाशादिसमाप्निष्विति नानार्थवर्गः । पुरुषोत्तमवत्त्वात् प्रियतिसृंते । डसिङ्गसोः प्रियतिस्त्रः इति,

सान्वादिष्वदानां स्वत एव द्विलिङ्गता, सानुने सानवे । स्तुप्रस्थ-
सानुरक्षियामित्यमरः । मधुशब्दानन्तरमेवम् अम्बुसान्वादय इति प्रक्रिया
तु चिन्त्या ।

॥ इति सर्वेश्वरान्त-नपुंसकलिङ्गाः ॥

पुरुषोत्तमवत्त्वपक्षे इति शेषः । पक्षे प्रियतिसृण इत्यपि भवतीति ज्ञेयम् । ननु प्रियतिस्त्र
इत्यत्र 'श्रामतो इसि इसोरस्य उच्च' इत्यनेन उच्च कथं न स्यादिति चेत्तत्राह,—रवि-
धानस्य नित्यत्वादिति । उच्च कृते न कृतेऽपि रः प्राप्नोतीति रविधानस्य नित्यत्वमतो
वलवत्त्वत्त्व, अतः प्रथमं रराम एव भवति । ननु रविधानसूत्रे गोविन्दत्रिविक्रमोरामाणाम-
पवाद इत्युक्तम् । अत उच्च न प्राप्नोत्येव तर्हि रविधानस्य नित्यत्वादिति कथमत्रोच्यते
इति चेत्तत्रोच्यते सिद्धान्तसमुच्चयोऽयम् । प्रियतत्त्विति प्रियाश्रतस्त्रो यस्मिन् तत् ।
सान्वादीति स्वत एव स्वस्मिन्नेव स्वभावत एवेत्यर्थः ।

मधिवति । मधुशब्दस्य ब्रह्मत्वमेव सान्वादीनान्तु द्विलिङ्गता । अतःप्रक्रिया न
सङ्गच्छते ॥८३॥

॥ इति सर्वेश्वरान्ता नपुंसकलिङ्गाः ॥

रविधानस्य नित्यत्वादिति हेतुस्तु उच्चवाधपरः । गोविन्दत्रिविक्रमोरामाणामपवाद इति
प्रागुक्तेरेव प्रपञ्चोऽयम् । नहि सनुक्वाधकपरः, पुरुषोत्तमतार्हत्वात् तत् पक्षेहि रविधिः,
पक्षान्तरे तु नुकोऽवाध्यत्वात् प्रियतिसृण इत्यपि । मधु शब्दस्य ब्रह्मत्वं सान्वादीनान्तु
द्विलिङ्गता कोषसिद्धा । अतो मधुशब्दवदेषां रूपमसङ्गतम् चिन्त्या पदेन प्रक्रियाया
अनवधानता वोधिता ।

॥ इति व्याख्याताः सर्वेश्वरान्तनपुंसकलिङ्गाः ॥



अथ विष्णुजनान्तपुलिङ्गाः ।

तत्र च रामान्ताः केचनशब्दा वाच्यलिङ्गाः ।

तत्र प्रत्यक् । प्रतिपूर्वादञ्चुधातोः किवप्रत्ययः ।

किवप्लोपो नलोपश्च । यत्वं, ततः प्रत्यच् शब्दात् स्वादयः ।

८४. अचश्चतुर्भुजानुवन्धानाच्च नुम्कृष्णस्थाने ।

राधाविष्णुजनाम्यामिति सोर्हरः ।

८५. तवर्गस्य चवर्गश्चवर्गयोगे ।

८६. सत्संगान्तस्य हरो विष्णुपदान्ते ।

अथ विष्णुजनान्तपुलिङ्गाः शब्दा दर्शयन्ते ।

तत्र विष्णुजनान्तेषु । तत्रपुनश्चरामान्तेषु । किवप् लोप इति—केवलस्य प्रत्यय वेहर्व इत्यनेन । न लोपइति—“अनिरामेतां विष्णुजनान्तानामुद्धवनरामहरः कंसारौ” इत्यनेन । यत्वं सर्वेश्वरसन्दिनेत्यर्थः ।

अमृता०—८४. अच इति । कृष्णस्थानेपरे अन्तुर्भुजातोः किववन्तस्य, चतुर्भुजः अनुवन्ध इत् येषां तेषाच्च शब्दानां नुमागमो भवति । अन्त्य सर्वेश्वरात् परं मितः स्थान-मित्यनेन प्रत्यन्त्रच् इति स्थितम् । अन्तुर्भुजातोश्चरामेत्वेन चतुर्भुजानुवन्धत्वेऽपि पृथगुपादानं ज्ञापयति—चतुर्भुजानुवन्धानामधातनां शब्दानां हि नुमागमः स्यात् धातूनां मध्ये अच्चतेरेव नान्यस्येति नियमः । एतच्चाग्रे मूले एवव्यक्तीभविष्यति । नचात्र सोर्हरे कृष्णस्थानरूप-निमित्तापायान्नैमित्तिकस्य नुमोऽपायः शङ्कृच्छः, सोर्हरत्वेन तस्य स्थानिवदभावद्विष्ट इति ।

अमृता०—८५. तवर्गस्येति । चवर्गेण सहयोगे सति तवर्गस्य चवर्गः स्यात् । चवर्गाग्योगच्च पूर्वस्येन परस्येन वेति ज्ञेयम् । पूर्वस्थितेन प्रियपञ्चत्र; इत्यादि । इह तु परस्थितेन चरामेण चहयोगे नरामस्य ब्रामः ।

अमृता०—८६. सत्संगेति । विष्णुपदान्ते विषये सत्सङ्गस्यान्तस्य हरो भवति । विष्णुपदान्त इति किम्—प्रत्यच्चौ ।

तत्रेति । तत्र विष्णुजनान्तेषु । तत्रेति तत्र चरामान्तेषु । नलोपश्चेति ‘अनिरामेतां विष्णुजनान्तानामुद्धवनरामहरः कंसारावित्यनेन । ‘इद्वयमेव यः सर्वेश्वर’ इत्यनेन यत्वम् ।

बाल०—अचः । अन्तुर्भुजातोः किवपि तल्लोपे नलोपे च कृते यदत्र इति भवति तस्य । चतुर्भुजानुवन्धा इतो येषां तेषाच्च ॥८४॥

बाल०—तवर्गस्य । अत्रानेन नरामस्य डरामः ॥८५॥

बाल०—सत्सङ्गान्त । विष्णुपदान्ते विषये ॥८६॥

८७. चर्वर्गस्य कवर्गो विष्णुपदान्ते वैष्णवेत्वसर्वे ।

प्रत्यङ् ।

८८. विष्णुजनस्यद्वित्वं वा विरामे ।

विरामो परवर्णदर्शनम् । प्रत्यङ् । सर्वे तु प्रत्यश्चौ प्रत्यश्चः । प्रत्यश्चम् प्रत्यश्चौ । कथं तच् शौरेः भवगाञ्चशूरः ? तत्राकरणात् ।

८९. अचोऽरामहरो भगवति पूर्वस्य त्रिविक्रमश्च ।

निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपाय इति न्यायेन यरामस्य इरामस्तत्त्वविक्रमः । प्रतीचः प्रतीचा ।

१००. पूर्वर्य विष्णुपदवत्वं स्वादितद्वितयो रथ-सर्वेशदराद्योः ।

प्रत्यग्भ्यामित्यादि । चर्वर्गस्य त्यादौ वैष्णवग्रहणं केवलधात्वर्थम्, अन्येषामपि सूत्राणांतत्पर्यन्तव्याप्तेज्ञपकम् । एवं प्राचः । तथा पित्रच-

अमृता०—८७. चर्वर्गस्येति । विष्णुपदान्ते विषये चर्वर्गस्य कवर्गो भवति; वैष्णवे परेत्वसर्वे तस्मिन् सति चर्वर्गस्य कर्वगः स्यात् । तेनात्र ब्रामस्य डरामः ।

अमृता०—८८. विष्णवति । विरामेसति विष्णुजनस्य द्वित्वं वा स्यात् । ननु तच् शौरेरित्यादौ छत्वाभावपक्षे असर्वे वैष्णवस्य परत्वेऽपि कथं न कर्वत्वमित्याशङ्कायां समादधाति—तत्राकरणादिति । विकल्पविद्यानसामधर्यादिव तत्र न स्यादिति भावः ।

अमृता०—८९. अच इति । भगवति प्रत्यये परे लुप्तनरामस्य अच्चते ररामस्य हरो भवति, सञ्चातहरात् अरामात् पूर्वस्थस्य वामनस्य त्रिविक्रमश्च भवति । प्रतीच इत्यादौ अन्तरङ्गे त्रिविक्रमे कर्तव्यः वहिरङ्गः अरामहरो नासिद्धः, अतोमहरं मत्वैव त्रिविक्रमस्य प्रवृत्तोः । अतश्च निमित्तापाये नैमित्तिकस्यापायो युज्यत एव । अत्र निमित्तं अरामः, नैमित्तिको यरामः । भगवति किम्—प्रत्यश्चौ ।

अमृता०—१००. पूर्वस्येति । विष्णुपदमस्यास्तीतिविष्णुपदवत्, तस्यभावः तत्त्वम् । पूर्वशब्दस्य प्रकृतिवोधकत्वेऽपीह-नामवोधकत्वमिलक्ष्य ब्रह्मत्वम् । य-सर्वेश्वरादिभिन्नयोः स्वादि तद्वितयोः परयोः पूर्वस्य नाम्नो विष्णुपदवत्वं स्यात् । तत्र यावदसम्भव विधिना

बाल०—चर्वर्गस्य । विष्णुपदान्ते विषये चर्वर्गस्य स्थाने कवर्गो भवति । वैष्णवे तु परे तस्मिन् वैष्णवे असर्वे सति चर्वर्गस्य स्थाने कवर्गो भवति । अत्रानेन ब्रामस्य डरामः ॥८७॥

बाल०—विष्णु । कथमिति सिद्धान्तमाह, तत्राकरणादिति ॥८८॥

बाल०—अचोऽराम । निमित्तापाय इति निमित्तमत्रारामः नैमित्तिको यरामः ॥८९॥

बाल०—पूर्वस्य । य-सर्वेश्वरादिभिन्नयोः स्वादि-तद्वितयोः परयोः पूर्वस्य विष्णुपदवत्वं भवति । प्रत्यग्भ्यामिति । विष्णुपदवत्वात् ‘चर्वर्गस्ये’त्यादिना चरामस्य करामः,

इत्यस्य शसि पितृचः । अनन्तस्थैव त्रिविक्रम इति तस्यां भ्रमः,
तदधिकार निवृत्तेः । तिर्यंच् । तिर्यंड् तिर्यंश्रौ तिर्यंश्रः । तिर्यंच्चम्
तिर्यंश्रौ ।

१०१. तिर्यंचस्तिरश्चिरुदग उदीचिर्भगवति ।

इराम इत् । तिरश्रः । तिरश्रा तिर्यग्भ्याम् तिर्यग्भिः । एवं उदच् ।

स्वादौ सर्वेश्वरादि प्रत्यय वर्जनं, तद्विते तु यराम-सर्वेश्वरादि प्रत्ययवर्जनं वोध्यम् । व्युत्कम
निर्देशस्तु स्वल्पाक्षरस्य पूर्वनिपातानुरोधात् । विष्णुभक्तिसिद्धेः प्राग् विष्णुपदत्वं तैव
सम्भवेदिति तद्विष्णुनार्था परिभाषेयम् । विधीयमाना नराम हरादिकार्यविशेषाः पूर्वस्य
विष्णुपदवत्तां मत्वैव सिध्येयुः, ततश्च तत्तदकार्याणि समग्रेक्ष्य हि शब्दस्य विष्णुपदत्वं
मन्यते, नक्तिन्तु सिद्धविष्णुपदत्वं तस्य विधीयत इति विभाव्यम् । विष्णुपदत्वमननेन यथा
हि नलोप-राजभ्याम्; मोनः—प्रशान्तः दरामः विद्वत् सु, करामः—गोरक्षु, विष्णुसर्गः—
पयःसु अहोभ्यामित्यादीनि दर्शयिष्यन्ते । एवं च तद्विते राजत्वं पयस्विनीत्यादौ विष्णु
षदत्वं कार्यं द्रष्टव्यम् । अ-य-सर्वेश्वराद्यो रिति किम्—प्रत्यंचः राजानौ । तद्विते—राजन्यः
सुप्रेमनीत्यादि ।

ननु प्रत्यग्भ्यामित्यत्र वैष्णवपरतास्त्येव, तयैवेष्टसिद्धौ पूर्वस्य विष्णुपदवत्वविधान-
मिह निष्कलमिति चेत्तत्राह—चवर्गस्येति चवर्गस्य कवर्गविधानसूत्रे यद् वैष्णव इति
परनिमित्तमुक्तं ततु केवलधातुविषयकम् । अनेन च वैष्णवग्रहणेन ज्ञाप्यते—अन्यानि च
नामप्रकरण सूत्राणि धातुपर्यन्तं व्याप्त्वुक्तीति । ननु च कथं तर्हि—सर्वगेतु प्रत्यञ्चौ प्रत्यञ्च
इति प्रत्युदाहरणं सङ्घच्छते? मंवम्, अञ्चते: किववन्तस्य धातुत्वसत्त्वान्नासङ्घतमिति ।
प्रत्यग्भ्यामित्यत्र विष्णुपदवत्त्ववर्गस्य कवर्ग स्ततो विष्णुदासो विष्णुपदान्त इति हरिगदा ।
प्राच—प्राढः प्राञ्चौ प्राञ्चः । शसादौ प्राचः प्राचा इत्यादि । पित्रचिति पितरमञ्चतीति
पितृपूर्वदिग्भृत्यातोः किवप् । शसि-अचोऽरामे हरे नैमित्तिकस्य ररामेस्य चापाये ऋराम
एव, तत्तद्विविक्रमः—पितृच इति । तस्यां प्रक्रियाकौमुद्यां भ्रमइति सर्वेषाममतत्वात् ।
तदधिकारनिवृत्तेः अनन्ताधिकारनिवृत्ते रित्यर्थः । वस्तुतस्तत्र 'चौ' इतिपाणिनिसूत्रस्य-
त्रितयोपरिष्ठात् 'इकः सुञ्जि' इत्यस्मादिक एवानुवृत्तिं युक्ता ।

अमृता०—१०१. तिर्यंच् इति । भगवति परे तिर्यंचस्थाने तिरश्रि स्थाना उदच्

'विष्णुदासो विष्णुपदान्ते' इत्यादिना करामस्य गरामः । ननु प्रत्यग्भ्यामित्यादौ यदि
विष्णुपदवत्त्वेनैन चवर्गस्य कवर्गः कृतस्तर्हि चवर्गस्येत्यादौ वैष्णवग्रहणम् किमर्थं कृतमिति
चेत्तत्राह चवर्गस्येत्यादाविति । 'चवर्गस्य कवर्गो विष्णुपदान्ते वैष्णवे त्वसर्वगे' इत्यस्मिन्
लक्षणे वैष्णवग्रहणं केवलधात्वर्थम् । अयेषां नामजविष्णुपदसम्बन्धिनां सूत्राणामपि
धातुपर्यन्तप्राप्तेज्ञपिकच्च तथेति । तथा तेन पूर्वोक्तेन प्रकारेणेत्यर्थः । पितृच इति 'अचोऽ-
रामहर' इत्यादिना अरामहरे कृते 'नैमित्तिकस्याप्यपाय' इति न्यायेन
राम य ऋरामस्तत्तद्विविक्रमः । तदधिकारनिवृत्तेरनन्ताधिकारनिवृत्तिः ॥१०१॥

उदङ् उदञ्चौ, उदञ्चम् उदीचः उदीचा इत्यादि । कुञ्च कुड् कुञ्चौ
कुञ्चः । कुञ्चम् कुञ्चौ कुञ्चः । कुञ्चा फुड्भ्याम् कुड्षु । एवमन्दुपूजार्थे
प्रत्यञ्चः प्राञ्चः ।

ओद्रश्चू ष्टेदने धातुर्दन्त्यमध्यः । ओऽरामावितौ ।

१०२. सस्य शश्चर्वर्गयोगे ।

ततो व्रश्च इतिस्थिते तस्य दैत्यशब्दपूर्वस्य विवप्स्त्ययत्वोपे ररामस्य
ऋरामः—दैत्यवृश्च सोहरः ।

१०३. छशो राज् यज् भाज् परिव्राज् सृज् मृज् भस्ज् व्रश्चां च

स्थाने उदीचिरादिश्यते । भगवति किम्—तिर्यञ्चौ तिर्यग्भ्याम् । कुञ्च इति कुञ्च
कौटिव्यात्मीभावयोः धातु नलोपाभावेन विवपि निपातः । कुड् पक्षि विशेषः । कुड्-प्रिवति—
ईश्वन हरिमित्रेत्यादिना पत्वम् । शौरीणडाम्यां टकौ वेति कुड्क्षु इत्यपि । पूजार्थे प्रत्यञ्च
इति—अञ्चेः पूजायां नलोपाभाव इति नलोपनिषेधः । तुम्भिव्यानसूत्रे अरामहर सूते च
लुप्तनरामस्यैव अच उपादानाभावत्र तुम् नवा अचोऽराम हरः । सुपि प्रत्यड्षु प्रत्यड्कु ।
एवं पित्रड्षु पित्रड्कु, तिर्यड्षु तिर्यड्कु गत्यर्थं तु केवल प्रत्यक्षु इत्यादि । खजिधातोः
विवपि खन्ज् शब्द स्तस्य सत्सङ्गान्तहरे—खन् खञ्जो खड्भ्याम् खड्षु खड्कु ।

अमृता०—१०२. सस्येति । चवर्गयोगश्च पूर्वतः परतो वेति ज्ञेयम्, इहयोगः परतः ।
अच्छु इत्यादौ तु पूर्वतः । ररामस्य ऋराम इति—ग्रहिज्या व्ययि व्यधि वशि व्यचि
व्रश्चि प्रचिठि भ्रस्त्रीनां सङ्कर्षणः कंसारावित्यनेन सोहर इति—राधाविष्णुजनाभ्या-
मित्यादिना ।

अमृता०—१०३. छशोरिति । विष्णुपदान्तेविषये वैष्णवे च परे छराम-शरामयोः
स्थाने राजादीनामन्तवर्णस्थाने च पराम आदिश्यते । तत्रस्य शोवस्य ऊदित्यादिना

बाल०—तिर्यच । भगवति परे तिर्यचः स्थाने तिरश्चिर्मवति, तस्मन्नेव परे उदचः
स्थाने उदीचिर्मवति । कुड्-प्रिवति 'ईश्वर-हरिमित्र-क-डेश्य' इत्यादिना पत्वम् । पूजार्थे
इति 'अञ्चेः पूजायां नलोपाभाव' इत्यनेन, पूजार्थे नलोपनिषेधः, प्रत्यगादिशब्दानां
सप्तमीवृहवचने प्रत्यक्षु प्रत्यड्-प्रिवत्यादयः प्रयोगः प्रसिद्धाः । अन्येषां मतन्त्वेवं शब्दे
वर्गाद्यास्तद्वितीय इत्यनुपदकारा आहुः, तन्मते प्रत्यक्ख्यम् इत्यादयः । पक्षे यथासम्भवं
द्वित्वादिकं ज्ञेयम् । केचिन्मते वर्गादिस्तद्वितीयः शषसे वा इत्यनेन, तन्मते प्रत्यक्ख्यम्
प्रत्यक्ख्यम् इत्यादिकमिति । दन्त्यमध्यो दन्तवर्णमध्यः ॥१०१॥

बाल०—सस्य । तस्य व्रश्च इत्यस्य । ररामस्य ऋरामः । इति 'ग्रहि-ज्या-व्ययि-
व्यधि-वशि-व्यचि-व्रश्चि-प्रचिठि-भ्रस्त्रीनां सङ्कर्षणः कंसारावित्यनेन । 'सपरसवेश्वर-
यवराणामि-उरामदेशः सङ्कर्षणसंज्ञ' इति । सोहर इति 'राधाविष्णुजनाभ्या'मि-
त्यादिना ॥१०२॥

शोविष्णुपदान्ते वैष्णवे च ।

अथ नैमित्तिकापाये दत्त्यमध्य एव ।

१०४. स्कोः सत्संगाद्यो हर्हो विष्णुपदान्ते वैष्णवे च ।

१०५. षस्य डो विष्णु पदान्ते हरिघोषे च ।

१०६. विष्णुदासस्य हरिकमलं वा विरामे ।

दैत्यवृट् दैत्यवृद् दैत्यवृश्चौ दैत्यवृश्चः । दैत्यवृद्भ्यां दैत्यवृट्सु । जलमुच् ।

सदसङ्गान्ते हरेणैव सुलोपसिद्धौ राधाविष्णु जनाभ्यामित्यत्र विष्णुजन-
ग्रहणवलात् नात्रस्कोरिति हरः । जलमुक् जलमुग् जलमुचौ जलमुचः ।

छरामस्य शरामे प्राप्तेऽपि पुनरिह छ्रग्रहणं पृच्छादीनां प्रष्टा प्रष्टु मित्यादि सिद्ध्यर्थम् ।
अन्यथा तत्र कंसारि वैष्णवस्यनिमित्तत्वनिर्देशात् पृष्टः पृष्टवानित्याद्येव सिद्धेत् ननु
प्रष्टादि । अतइह छरामस्य कंसारीतर वैष्णवेहि पविधानं ज्ञेयम् । निजभ्यामिति वत्
शरामस्य जरामे प्राप्ते, राजादीनाच्च वक्ष्यमाणसूत्रेण कत्वेप्राप्ते तत्तदपवादो षरामोऽयं
विहितः । छशोरिति धातोरेव, तथाराजादीनामष्टानामिह धातुस्वरूपो निर्दिष्टः । प्रच्छ-
प्राट्, विश-विट् । राजादीनां—सम्राट् देवेट् परिभ्राट्, विश्वसृट्, मन्दिरमृट्, धानाभृट्,
दैत्यवृट् । नैमित्तिकः शरामः, निमित्तां चरामः; अत्रापि वैष्णवग्रहणं धात्वर्थम् । विष्णु-
पदान्ते इति किम्—दैत्यवृश्चौ । वैष्णवे किम्—वृश्चति ।

अमृता०—१०४. स्कोरिति । विष्णुपदान्ते विषये वैष्णवे वा परे सत्सङ्गाद्य स्थि-
तयोः सरामकरामयो हर्हो भवति । चकारो विभाषार्थकः । विषयेइति प्रायः शब्दसाधनपरं
परे इतितु प्रायोधातुपरं ज्ञेयम् वैष्णवे—अभार्क्षीति, अमांक्षीति । सत्सङ्गाद्योरिति किम्—
अमार्क्षीति, हिस्ति । विष्णुपदान्ते किम्—प्रत्यक्षु । वैष्णवे किम्—वक्ष्यति शिक्षते ।

अमृता०—१०५. षस्येति । विष्णुपदान्ते विषये हरिघोषे चपरे परामस्य डरामः
स्यात् । हरिघोषे—अकृद्गद्वम् ।

अमृता०—१०६. विष्णवति । परवर्णस्यादर्शने सति विष्णुद सस्य स्थाने हरिकमलं
वादिश्यते । विष्णुदासस्येति किम्—प्रत्यड् । विरामे किम्—दैत्यवृद्भ्याम् । दैत्यवृट्सु
इति—पस्य डे कृते यादवमात्रे हरिकमलमिति डरातस्य डरामः । पक्षे तुकि च दैत्य
वृट्सु । ननुजलमुच्शब्दस्यसौ चरामस्य करामेकृते सुलोपात् प्राक् स्कोरित्यादिना

बाल०—छशो राज् । विष्णुपदान्ते विषये वैष्णवे च परे छशोः स्थाने राज्-
यजादीनामन्तस्य च स्थाने पो भवति । अथेति । नैमित्तिकोऽत्र शरामः ॥१०३॥

बाल०—विष्णुपदान्ते विषये वैष्णवे च परे सत्सङ्गादिस्थितयोः सराम-कराम-
यो हर्हो भवति ॥१०४॥

बाल०—पस्य । विष्णुपदान्ते विषये हरिघोषे च परे पस्य स्थाने डो
भवति ॥१०५॥

जलमुग्भ्याम् । पाणिनीयाः प्रत्याहार वाचिनामच् शब्दादीनां उत्
नज् अनुकरणस्य च न कवर्गादित्वम् । अच् अचौ अचः । अज्भ्याम्,
सस्य शः अच्शु, छत्वे-अच्छु । उत् उबौ उबः । यदुराज्—यदुराट्
यदुराड् यदुराजौ यदुराजः । ऋस्ज् धातोः किवपि भृज्ज्—भृट् भृड्
भृज्जौ भृज्जः ।

करामहरः कथं न प्रवर्त्तते ? तत्राह—सतसङ्गान्तस्य हरो विष्णुपदान्त
इत्यनेनैव विष्णुजनात् परस्य सोहरः सिध्यतीति राथाविष्णुजनाभ्यामित्यत्र विष्णुजन
ग्रहणमनर्थकं स्यात् । अतस्तत्र विष्णुजनग्रहणसामर्थ्यात् प्रथममेव विष्णुजनात् परस्य
सोहरो भवति, तदा च करामस्य ततसङ्गाभावः । तत्र विष्णुजनग्रहणस्यायमाशयः—
सतसङ्गान्तहरलक्षणस्य वह्नाश्रितत्वाद् वहिरङ्गता, स्कोरित्यस्य तु स्वल्पाश्रितत्वादन्त-
रङ्गता । इतिस्थिते यदि तत्र विष्णुजनग्रहणं न क्रियेत तदा अन्तरङ्गस्य वलवत्वेन स्कोरिति
सतसङ्गाद्यहरस्य प्रवृत्तेः जलमुरित्येवमनिष्टृप्मपद्येतेति । जलमुग् मेघः । जलमुगिति—
चर्वर्गस्यकर्वे कृते विष्णुदासो विष्णुपदान्त इत्यादि सन्धिसूत्रेण करामस्य गरामः, ततो
विष्णुदासस्य हरिकमलं वाविरामे, पक्षे गरामस्य च स्थितिः । एवमग्रेऽपि योज्यम् ।
पाणिनीया इति—अल्पाक्षरेण वहुवर्णानां ग्राहकरूपा संज्ञैव प्रत्याहार उच्यते, तंवक्तुं
शीलमेषाभिति प्रत्याहार वाचिनः, अच् इच् हल् प्रभृतयः, तेषां, उत् नन् इत्यव्यययो स्तथा
अनुकरणशब्दानाच्च कवर्गादिकं न मन्यन्ते पाणिनीयाः ।

कवर्गादित्वाभिति—आदिपदेन हरिगदानिपेधादिवैध्यः । तेन अच्भ्यामित्यत्र न
कवर्गो न वा हरिगदा । अजन्त इत्यादौ तु सूत्रनिर्देशवलात् सन्धिनिपेधस्यानित्यता ।
अनुकरणं तावद् द्विविधम्, शब्दानुकरणमर्थनुकरणच्च । व्यक्ताव्यक्तमेदेन शब्दानुकरणं पुन
द्विविधम् । व्यक्तच्च पुन भेदभेदविवक्षया द्विविधम् । यथा—रिपवः पृष्ठिति भेदे, अभेदे—
अयमाहगविति । अव्यक्तम्—पटपटिति शिलावर्षति । अर्थानुकरणन्तु तुल्यशब्दयोजनम् ।
तत्र शब्दानुकरणस्येह निषेधः कृतः । सस्य शः—चर्वर्गयोग इति शेषः । छत्वे इति—ततः
शश्छोवेत्यनेन । भृज्जिति—ग्रहिज्येत्यादिना सङ्कुर्षणः, सस्यजो जे ननु वैष्णव इत्यनेन
सरामस्य जत्वम् । भृडिति—छशोरिति पत्वं, निमित्तापायात् जरामस्य पुनः सरामः, ततः
स्कोः सतसङ्गाद्यो हंरे धस्य डः, हरिकमलच्च ।

बाल०—विष्णु । विरामे परवर्णादिर्शने । दैत्यवृट्टिवति पस्य डे कृते 'यादवमात्रे
हरिकमलमि'त्यनेन डरामस्य टरामः । ननु जलमुगित्यत्र चर्वर्गस्येत्यादिना चरामस्य
करामे कृते स्कोरित्यादिना करामहरः कस्मात्—स्यादिति चेत्तत्राह,—सतसङ्गान्तेति ।
'सतसङ्गान्तस्य हरो विष्णुपदान्ते' इत्यनेनैव विष्णुजनात् परस्य सोहरः सिध्यतीति ।
'राथाविष्णुजनाभ्यामि'त्यत्र विष्णुजनग्रहणमनर्थकं भूतं, तस्मात्तत्र विष्णुजनग्रहण-
सामर्थ्यात् प्रथमं सोहरो भवतीति । जलमुगिति चरामस्य करामे कृते 'विष्णुदासो
विष्णुपदान्त' इत्यादिना करामस्य गरामः । पक्षे गरामस्यैव स्थितिः । एवमन्यत्रापि ।

१०७. स्रज् दिश् हृश् ऋत्विज् उष्णिह् दधृष् अनुदकपूर्व स्पृश्
ताहृश् इत्यादीनां को विष्णुपदान्ते ।

ऋतौ यजति ऋत्विक् ऋत्विग् ऋत्विजौ । युजः पुंसि ।

१०८. युजोऽसमस्तस्य नुम्कृष्णस्थाने नतु समाधौ ।

अत्र सुटीति तस्यां भ्रमः । युड् युज्ञौ युज्ञः । युग्भ्याम् । समस्तस्य
समाध्यर्थस्य च न नुम् । कृष्णयुक् कृष्णयुग् कृष्णयुजौ कृष्णयुजः । कृष्ण-
युग्भ्याम् । युक् युग् युजौ ।

ऊर्जः पुंसि ।

अमृता०—१०७. सजिति । विष्णुपदान्ते विषये स्रजादीनामन्त्यवर्ण स्थाने करामो
भवति । उदकशब्देतरशब्दपूर्वस्य स्पृशः अन्त्यस्थाने करामः स्यादित्यर्थः । एते सर्वे एव-
क्विवन्ताः । तत्र सजिति क्विवन्तनिपातस्य मालार्थस्य ग्रहणम् । सामान्यक्विववन्तस्य तु
छशोरित्यादिना पराम एवेति दर्शितम् । इत्यादिपदेन ईहृश् कीहृश् अमूहृश् सहृश्
अन्याहृशादयोग्राहाः । छशोरित्यादिना परामे प्राप्ते विधिरयं करामार्थः ।

अमृता०—१०८. युज इति । कृष्णस्थाने परे असमस्तस्य युजो नुमागमो भवति ।
किन्तु युजसमाधावित्यस्य क्विवन्तस्य समस्तस्य च स न स्यात् । सुटीतिस्यांभ्रमइति—
तन्मते पाण्डवस्य सुट्संज्ञा । तेन च ब्रह्मणिशिपरे अश्यान्तेः; सुटीति विधानसामर्थ्याच्च
सर्वेश्वर-वैष्णवान्तयोरिति ब्रह्मकार्यं नुमपि नस्यात् । ततो 'युजिः' इत्येवमनर्थरूपं सम्पद्ये-
तेति भ्रमएव । तत्र सर्वे नुमइष्टत्वात् सर्वनामस्थानरूपं निमित्तं निवेशितम् । ततो
'युज्ञिः' इत्येव शुद्धरूपम् । कृष्णयुगिति—कृष्णयुनतीति विग्रहेक्तुसमासः । संयोजनार्थं
इह युज्धातुः । युगिति—समाधिवाची । ऊर्ज वलप्राणनयोर्धर्ताः क्विपि ऊर्ज-
कार्त्तिकमासः । "वाहुलौज्जौं कार्त्तिकिक" इत्यमरः । ऊर्ज इत्यरामान्तोऽपि दृश्यते ।

पाणिनीयेति । अच् शब्दादीनामिति आदिशब्देन इच् एच् प्रभृतीनां ग्रहणम् । उत्रो
नन्न इत्येव पाठः । अनुकरणस्य अनुकरणशब्दस्य । अच्भ्यामिति लिपिकारप्रमादः,
अज्भ्यामिति पाठः सभ्यः, कवगादित्वनिषेधात् । 'सस्य शश्वर्गयोरो' इत्यनेन शत्वम्,
'ततः शश्ठो वे'त्यनेन छत्वम् इति । भृजिति 'ग्रहिज्या व्ययि व्यधि वशी'त्यादिना
सङ्क्षर्षणः । 'सस्य जो जे, न तु वैष्णवे' इत्यनेन सस्य जः ॥१०६॥

बाल०—स्रज् दिश् । विष्णुपदान्ते विषये स्रज् दिश् हृशादीनामन्तः को भवति ।
अनुदकेति । उदकशब्देतरशब्दपूर्वस्पृशोन्तः को भवतीत्यर्थः । ऋत्विगिति, 'वचि स्वपि
यजादीनां सङ्क्षर्षण कपिल' इत्यनेन सङ्क्षर्षणः । छशोरित्यादिना परामे प्राप्ते कराम-
विधानम् । युजः पुंसीति रूपं निरूप्यते इति शेषः ॥१०७॥

बाल०—युजो । कृष्णस्थाने परे असमस्तस्य युजो नुम् भवति, न तु समाधाविति ।
युज् समाधावित्यस्य क्विवन्तस्य युजो नुम् न भवतीत्यर्थः । युडिति, युजिर् योग इत्यस्य

१०८. रात् सस्यैव सत्संगान्तहरविधिः ।

नियमोऽयम् । वहुत्र प्राप्तौ सङ्कोचनं नियमः ।

ऊर्क् ऊर्ग् ऊर्जौ ऊर्जः । विश्वसृज् - विश्वसृट् विश्वसृढ् विश्वसृजौ विश्वसृजः । षत्वं नेति केचित् - विश्वसृक् । कंसजित् कंसजितः कंसजिद्ध्याम् कंसजित्सु ।

उरामानुवन्धो महत्; तस्य पुंसि - नान्त धातुवज्जितेति त्रिविक्रमः, अचश्चतुर्भुजेति नुम्, सोर्हरः । सत्सङ्गान्तस्य हरः । अत्राकरणात्; क्वचिदिन्तरङ्गः इत्यादि वक्ष्यमाणन्यायात् । ब्रह्मेशान्तान्तुगित्यत्र

अमृताऽ-१०८. रादिति । ररामादुत्तरं सत्सङ्गान्तहरविधी प्राप्ते सरामस्यैव हरो भवति नान्यस्य । नियमलक्षणमाह - वहुत्रेति । अत्र ररामादुत्तरच्च सर्वेषांविष्णु-जनानां हरेप्राप्ते सराममात्रस्य तदविधानादेष नियमः । तेनजरामस्य लोपाभाव इत्यर्थः । षत्वं नेतिकेचिदिति - कालापाः कत्वमेव मन्यन्ते । केचित्तुविकल्पमिच्छन्ति । मरुत् भूमृत् विपश्चित् वृहत् हरित् प्रभृतयः कंसजित् शब्दवत् । महानित्यस्य साधने क्रमो लक्षितव्यः ।

प्रथमतो नुमिकृते उद्धव विधातन्नहि त्रिविक्रमः सम्भवेदिति त्रिविक्रम एवादाविष्टः । प्रकृतावपि पूर्वस्य त्रिविक्रमस्यान्तरङ्गत्वात् । ननु महानित्यत्र नामान्तस्य नस्य हरो विष्णुपदान्त इति वक्ष्यमाणेन नरामहरः कथं न स्यादितिशङ्कायां समादधाति - तत्राकरणादित्यादि हेतुत्रयेण । यद्यत्र नस्यहरः स्यात्तदा नामान्तस्येत्यादि नरामहर विधायकं लक्षणमत्रैव विधीयेत, गङ्गास्तोवद् विधेः प्रवर्त्तनात् । तस्मादत्राकरणान्नेह नरामहरः । हेत्वन्तरं ववचिदिति - अन्तरंगे कार्यं क्रियमाणे तदनिमित्तं वहिरङ्गमसिद्धं स्यात् । अत्रनरामहरोऽन्तरङ्गम्, स्वल्पश्रितत्वात्; सत्सङ्गान्त हरो वहिरङ्गम्, वहाश्रितत्वात् । “नरामादिहरो नासिद्धस्तुगादि विधेरन्यत्र” इतिवक्ष्यते नामधातौ । तत्र तुगादीति आदिशब्देन सुपूर्विधौ, नरामादीति आदिना तरामादि हरश्च असिद्ध एवेति टीकायां व्यक्ती भविष्यति । तेनच सत्सङ्गान्त-तराम हरस्यात् असिद्धत्वात् नरामहर इत्याशयः ।

विवन्तस्य रूपम् । असमस्तस्येति न तु समाधाविति च यदुक्तम्, तदेव व्याचष्टे समस्तस्येति । युगिति युज् समाधावित्यस्य विवन्तस्य रूपम् ॥१०८॥

बाल० - रात् । रात् परस्य सत्सङ्गान्तस्य हरविधिर्भवन् सस्यैव भवति नान्यस्येत्यर्थः । नियमलक्षणमाह, - वहुत्रेति । संकोचनं स्थापनविशेषेण स्थानम् । ननु महानित्यत्र ‘नामान्तस्य नस्य हरो विष्णुपदान्ते बुद्धं विनेत्यनेन नस्य हरः कस्मात् स्यादिति चेतत्र सिद्धान्तमाह’ - अत्राकरणादित्यादि । तत्रात्रेति यद्यत्र नस्य हरः स्यात्, तदा नामान्तस्येति लक्षणमत्रैव विदध्यात् तस्मादत्राकरणात् नस्य हर इति । ववचिदिति ववचिदिति ववचिदिन्तरंगे कार्यं क्रियमाणे तदनिमित्तं वहिरङ्गमसिद्धं स्यादिति तत्रान्तरङ्ग-कार्यं नस्य हरः । वहिरङ्गं नुम्बिधानम् उभयाश्रितत्वात् । ‘ब्रह्मेशान्ता’ दिति । नुकि कृते

ज्ञापकेन सर्वेश्वरेण त्वागम नराम हराभावस्य नाम्नि निश्चयात् नस्य हरो न स्यात् । महान् महान्तौ महान्तः । महातन्म् महान्तौ महतः । महता-महदभ्याम्; हेमहन् ।

भगवतु ।

११०. अत्वसन्तोद्ववस्य त्रिविक्रमो बुद्धवर्जितसौ धातुं विना । भगवान् भगवन्तौ भगवन्तः । भगवन्तम् भगवन्तौ भगवतः । भगवता भगवदभ्याम् ।

१११. भगवतु अघवतु भवतूनां भगोस् अघोस् भोस् इति निपाता वा बुद्धे ।

पूर्वपरयोः सहैवादेशो निपातः ।

हेभगोः हेभगवन् । हेअघोः हेअघवन् । हेभोः हेभवन् । कथंभो

युक्तचन्तरच्चाह—ब्रह्मेशानांदिति । तत्र नुग्विधानसूत्रे परनिमित्तमनुक्त्वा नुक्ति कृतेऽपि विष्णुजनादि विष्णुभक्तौ विष्णुपदत्वाद् नामान्तस्येत्यादिना नरामहरे दधिभ्यामित्यादि सिद्ध्येतैव, तथापि तत्र यत्सर्वेश्वराइति परनिमित्तमुक्तं तेन सर्वेश्वर पदेन नाम्नि आः म नरामस्य हरो नहि भवेदिति ज्ञापितम् । तस्मादत्रापि नुम आग तत्वान्नहर इति फलितम् ।

किञ्च उद्धवस्य त्रिविक्रमविधानसूत्रे नान्तग्रहणेन हीष्टि सिद्धौ पृथक्तया महत्तद्वो पादानमेतज् ज्ञापयति—कृतसत्सङ्गान्तहरस्य नुमो नरामस्य नान्तत्वं न मन्तव्यमिति । अतएव भगवतुप्रभृतिशब्दानां नान्तेति सूत्रेण सौ त्रिविक्रमाप्राप्ति निश्चित्य पुनरत्वसन्तोद्वस्येति त्रिविक्रमाय पृथग् लक्षणं करोति, अन्यथा सुवर्ज कृष्णस्थाने तन्निषेध एव युज्येत । हेमहन्ति—बुद्धं विनेति निषेधान्नोद्ववस्य विविक्रमः ।

अमृतात्—११०. अत्वसन्तेति । बुद्धवर्जित सौ परे अतुअन्तस्य, धातुं विना असन्तस्य च शब्दस्योद्ववत्रिविक्रमो भवति । धातुं विनेति किम्—पीतवः । भगवानित्यत्र च नित्यमपि नुम वाधित्वादावेव त्रिविक्रमः; पूर्वस्थस्य त्रिविक्रमविधेरन्तरञ्जन्त्वात् । यतो नित्यादप्यन्तरञ्जस्य वलवत्वं सिद्धान्तितम्—तेषु चोत्तरोत्तर इत्यादिना । अन्यथा उद्धवविधातेन त्रिविक्रमवाद्यः स्यादिति ।

अमृतात्—१११. भगवत्विति । भगवतु अघवतु भवतु शब्दानां बुद्धे क्रमात् भगोस् अघोस् भोस् इतिवा निपात्यते । इह भवतुशब्दो मध्यमपुरुषवाची, [क्रियान्वयस्तु

नामान्तस्येत्यादिना तस्य हरे च कृते दधिभ्यामित्यादीनां सिद्धत्वात् सर्वेश्वरस्योदृतत्वमतो ज्ञापकत्वम् । निश्चयादित्यनन्तरं चशब्दप्रयोग उचितः ॥१०८॥

बाल०—अत्व । अत्वन्तस्य असन्तस्य च सम्बन्धिन उद्धवस्य त्रिविक्रमो भवति ॥११०॥

वैष्णवाः ? अव्ययत्वात् । भगवत् शब्दात् भगवानिवाचरति क्यदन्तात्
विवपि भगवत् । तस्मात् स्वादौ प्रकृतवदेव रूपं स्यात्, नामावस्थायां
चतुर्भुजानुवन्धत्वात् भगवान् । ददत् जक्षत् इत्यादि शब्दानान्तु कृत-
प्रकरणे नुमनिषधो वक्ष्यते । ददत् ददतौ ददतः । ददद्वयाम् । जक्षत्
जक्षतौ जक्षतः । जक्षदभ्याम् । ऋरामानुवन्धो भवत्, तत्पुंसि ।
भवान् भवन्तौ भवन्तः । भवदभ्याम् । हेभवत् ।
मुरं मथनातीति मुरमत् मुरमद् मुरमथौ ।
कृष्णं वेत्तीति कृष्णविद्, तत्पुंसि । कृष्णवित् कृष्णविद् कृष्णविदौ ।
सुपाच्छब्दस्य सुपात् सुपाद् ।

११२, पाच्छब्दस्य वामनो भगवति ।

सुपदः । एवंपादशब्दस्य पदादेशेऽपि पद इत्यादि ।

आमि नुटं वाधित्वा विरिञ्चिरेव, विरिञ्चितो विष्णुर्वलवान् विष्णुतः
सर्वविरिञ्चिरति न्यायेन । पदाम् ।

प्रथमपुरुष वोधिक्या सह] । अतु अन्तत्वादुद्ववस्य त्रिविक्रमः—भवान् । निपातलक्षणमाह—
पूर्वेति । पूर्वपरयो प्रकृति-प्रत्यययोः सहैव युगपद मिलित्वैव आदेशो निपात उच्यते ।
पक्षे बुद्धर्वजितेति निषेधान्त्रिविक्रमः—भगवत् इत्यादि । भो वैष्णवा इति—भोशब्दः
सम्बोधनद्योतकाव्ययम् । तथाच भाष्यम्—अव्ययमेष भो शब्दो नैव भवतप्रकृतिरिति ।
भूतपूर्वस्यापि अत्वन्तस्य त्रिविक्रमइष्ट इत्याह—भगवदिति । प्रकृतवत् मूलभगवच्छब्दवत् ।
तत्र हेतुः—नामावस्थायामित्यादिः । नुमनिषेधो वक्ष्यत इति—न नारायणाच्छतुर्नुम्
ब्रह्मणस्तु कृष्णस्थाने वेत्यनेन । तत्र ददत् प्रभृतीसां द्विर्वचनार्हवेन नारायणत्वात्
जक्षादीनां नारायणत्वातिदेशान्त्रुमिति भावः । एवं सुहृद् गोत्रभिद् दिविषद् तमोनुद
प्रभृतयः कृष्णविद्वत् । सुपादिति—शोभनौ पादौ यस्य सः । संव्यासूपमानेभ्यः
पादस्यान्त हर इत्यनेन समासे अन्त्यारामहरौ वक्ष्यते ।

अमृता०—११२. पाच्छब्दस्येति । भगवति परे समासे लुमान्तस्य पाच्छब्दस्य
उद्धवोवामनः स्यात् । इहवद्वमानेन विष्णुजने परे निशादीनां विरिञ्चित्वामावे यद

बाल०—भग । निपातलक्षणमाह—पूर्वेति । सहैवेति एकदैवेत्यर्थः । कथमिति ?
कथं भो वैष्णवा इति भवतु भवन्तो वैष्णवा इत्येव भवितुमर्हति । तत्र सिद्धान्तमाह,
अव्ययत्वादिति । तथाच भाष्यम् । अव्ययमेष भोः शब्दो नैव भवतप्रकृतिरिति ।
भगवत्शब्दादिति । स्वादादिति स्वादौ सतीत्यर्थः । प्रकृतवत् उत्तभगवच्छब्दरूपवत् ।
अत्र हेतुमाह,—नामेति । नुमनिषेधो वक्ष्यत इति ‘न नारायणाच्छतुर्नुम् ब्रह्मणस्तु कृष्ण-
स्थाने वेत्यनेन ॥१११॥

निशा हृदय मास यूष दोषाणां विष्णुजने विरच्चि नास्ति भाष्य-
चान्द्रादिष्वधृतत्वादिति वर्द्धमानः । विरच्चिसद्भावे तु षस्य डइति
वत् शस्य जो मन्तव्यः ।

छशो राजेत्यादिकञ्च धातुपरमेव । निजभ्याम् निक्षु निच्छु । कृष्ण-
पूर्वस्य बुधधातोः कृष्णं बुध्यते इति विवपि कृष्णबुध् तत्पुंसि,—

११३, जवर्ज हरिगदादेरेकसर्वेश्वरस्य धातो हरिघोषान्तस्यादौ
हरिघोषत्वं विष्णुपदान्ते सध्वोश्च ।

कृष्णभुत् कृष्णभुद् कृष्णबुधौ कृष्णबुधः । एवंतत्त्वबुधादयः । जवर्जेति
किम्—जभ् जप् जभौ जभः इत्यादि । एकसर्वेश्वरस्येति किम्—क्यन्
विवन्तस्य धातोर्दमिरुधः दामरुद् । धातुपदेन धात्ववयवोऽपि गृह्णते ।

भाष्यमतमुपन्यस्तं तत्र समीचीनं, तवशसादावपि तदादेशस्वीकारात् । तथाहि भाष्यम्—
शस् प्रभृतिष्वित्युच्यते, अशस् प्रभृतिष्वपि इश्यत इति । तेन वर्द्धमानमतं ग्रन्थकृतोऽ-
सम्मतमिति विरच्चिसद्भावे रूपाणि दर्शितानि ।

ननु विरच्चौ कृते छशोरित्यादिना शस्य यः कथंैन प्रवर्तते तत्राह—छशोराजेति ।
निच्शु इति यादवमात्रे हरिकमलम् । निच्छु इति—ततःशशोवेति छत्वं वा ।

अमृतां—११३. जवर्जेति । विष्णुपदान्तेविषये सध्वोश्च परयोः जवर्ज हरिगदादे
धातो हरिगदास्थाने हरिघोषो भवति । पुनः कथम् भूतस्य धातोः? हरिघोषान्तस्य, एक-
सर्वेश्वरविशिष्टस्य च । चतुर्णां विशेषणानां युगपदसद्भावे एवादेशः स्यादिति पदकृत्यं-
दर्शयति—जवर्जेति किमित्यादिभ्याम् । दामरुधमिच्छति तभिवाचरति वेत्यर्थं क्यन् ततः
विवपि यवयो हर्षो वले इति वचनो यलोपे विवप् लोपे च दामरुद् । हरिगदादेरितिकिम्—
कंसकृधः कंसकृत् । हरिघोषान्तस्येति किम्—कृष्णगुप् । गोविन्देन भातीति—
अकर्मण्यारामात् क इत्यनेन कप्रत्ययः कृत् । आरामहरः कंसारि सर्वेश्वररामधातुके इटि
उपि चेत्यारामहरः । ततो गोविन्दभमाचष्टे इत्यर्थं गोविन्दम् शब्दात् “अन्येभ्य स्तत्

बाल०—पाच्छब्दस्य । आमि नुटं वाधित्वा विरच्चिरेवेति अत्र हेतुमाह,—
विरच्चित इति । निशेति । नास्ति न भवति । अत्र वर्द्धमानमतन्तु नास्माकं मतम् ।
विरच्चीति । सद्ग्रावः सत्ता विद्यमानता विरच्चिविद्यमानतायामित्यर्थः । ननु विरच्चौ
कृते छशोराजेत्यादिना शस्य यः कस्मात्रस्यादिति चेत्तत्राह—छशोराजेत्यादिकञ्च धातु-
परमेवेति ॥११२॥

बाल०—जवर्ज । विष्णुपदान्ते विषये सध्वोश्च परयोः एकसर्वेश्वरस्य जवर्ज-
हरिगदादेर्हरिघोषान्तस्य धातोरादौ हरिघोषत्वं भवति । गोविन्दविति गोविन्देन भातीति

तेन गोविन्देन भातीति कप्रत्ययान्तो गोविन्दभः । तस्य णि विवन्तस्य गोविन्दभ् गोविन्दप् गोविन्दभौ गोविन्दभः । एवं पुण्ड्रभ् पुण्ड्रप् । अत्र प्रक्रिया कलाप काशिका वृत्तयो विचार्याः । किन्तु प्रक्रियायामधोक् गोविन्दप् च प्रश्नपदं भवेत् । कालापे दामरुज्जप् च । काशिकादौ नसंशयः ।

राजन् नान्तेति त्रिविक्रमः, सोर्हरः ।

करोति तदाचष्टे' इत्यनेन णिः, भू सनन्ताद्याधातव इति धातुत्वम् । अरामहरो रामधातुक इत्यरामहरः । ततः किवपि "गेहरोऽनिङ्गादौ रामधातुक" इति गेहरः । अत्र गोविन्दभ् धातोरवयवस्य दभ् इति भागस्य हरिगदादि लक्षणवृत्तवादादौ हरिघोषत्वम् । एवपुण्ड्रभिति—पुण्ड्रेण ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलकेन भातीति कप्रत्ययान्तः पुण्ड्रभ शब्दः । तस्मात् णिविवन्तेन पुण्ड्रभिति पूर्ववत् । अत्रापि पुण्ड्रभातोरवयवस्य इभ् इत्यंशस्य हरिगदादि-लक्षणान्वितत्वादाद्यस्य हरि घोषत्वम्—पुण्ड्रपिति ।

प्रक्रियायामधोक् गोविन्दप् च प्रश्नपदं भवेदिति—'एकाचोवशो भष् ज्ञपन्तस्य सध्वो'रिति पाणिनीय सूत्रे पूर्वतो धात्वयवेति पदान्त इतिचानुवर्तते । प्रक्रियायान्तु तत्तदनुवृत्ति न दर्शता । अती धात्वयव-ग्रहणाभावाद् गोविन्दप् इति तथा पदान्त-ग्रहणाभावात् अधोक् इति च पदद्वयस्य नहि सिद्धि र्भवेदित्यभिप्रायः ।

कालापे दामरुज्जप् चेति—प्रश्नपदं भवेदित्यनुपङ्गः । तत्र "हचतुर्थान्तस्य धातो स्तृतीयादे रादिचतुर्थत्वमकृतवदिति" सूत्रे एकसर्वेश्वरत्वस्य जवर्जत्वस्य चानुकृतिः पदद्वय-सिद्धौ संशय एवास्ति । काशिकायां सम्पूर्ण लक्षणसदभावात् कोऽपि सन्देह इत्यर्थः । आदिपदेन उक्ते तरव्याकरणानां ग्रहणम् ।

अधोगिति—दुहधातो दिप्-सिपो रूपम् । दादेस्तुधातोर्च इति दुध् स्थितम्, ततो विष्णुजनादिदिस्यो हरे विष्णु पदान्तत्वाद् जवर्जति लक्षणेनादौ हरिघोषत्वम् ।

'अकर्मण्यारामात् क' इत्यनेन कः । 'आरामहरः कंसारि सर्वेश्वर रामधातुके इटि उसि चेत्यनेन आरामहरः, ततो गोविन्दभमाचष्टे इत्यर्थं गोविन्दभशब्दात् मुण्डमिश्रेत्यादिना णिः 'अरामहरो रामधातुके' इत्यनेन अरामहरः, ततः 'किवपि गेहरोऽनिङ्गादौ रामधातुके' इत्यनेन गेहरः । अत्र किववन्तस्य गोविन्दभौ धातोरवयवस्य दभ आदौ हरिघोषत्वम् । पुण्ड्रविति पुण्ड्रेण भातीति क-प्रत्ययान्तः पुण्ड्रभस्तस्य णि विवन्तस्य पुण्ड्रभः पुण्ड्रविति पूर्ववत् । अत्रेति । अत्र हरिघोषत्वविधाने प्रक्रियाकलाप-काशिकावृत्तय इति प्रक्रिया-पूर्ववत् । काशिकावृत्तिश्चेत्यर्थः । पाठकंरेता विचार्याः । किन्तु प्रक्रियायां अधोगिति गोविन्दविति च प्रश्नपदं भवेद्भवति तस्मात् प्रक्रियायां संशयो वर्तते इत्यर्थः । कलापे दामुरुद जप् च प्रश्नपदं, तस्मात्तत्रापि संशयो वर्तते । काशिकादावित्यादिशब्देन वृत्तेन्नग्रहणम् । अधोगिति दुहप्रपुरणे भूतेश्वरभूतेशाजितेष्विति धातोः पर्वतम्, 'लवृद्धवस्य गोविन्द' इत्यनेन गोविन्दः, 'दादेस्तु धातो र्ध' इति हस्य घः, 'विष्णुजनात् दिस्योर्हर्ष'

११४. नामान्तस्य नस्य हरो विष्णुपदान्ते बुद्धं विना ।

प्रथमतो नलोपाभावः, पथिन्मथिन् इत्यादौ वक्ष्यमाण नलोपवैयर्थ्यात् ।
राजा राजानौ राजानः । राजानं राजानौ । वमसत्सङ्गंहीनस्य
इत्यरामहरः । तवर्गस्य कवर्गः । जग्नोः सत्संगे जः । राज्ञः, राज्ञा ।
कवचिदन्तरङ्गे कार्ये क्रियमाणे तदनिमित्तं वहिरङ्गमसिद्धं स्यादिति
न्यायेन नस्यहरासिद्धः कृष्णस्य त्रिविक्रमो गोपाल इत्यादिकं प्राप्नोती-
त्यर्थः । किञ्च न-वयोर्हरे कृष्णसंज्ञा न वाच्या । राजम्याम् राजभिः ।
राज्ञे राजभ्याम् राजभ्यः । राज्ञः राजभ्याम् राजभ्यः । राज्ञः राज्ञोः
राज्ञाम् । ईङ्ग्योस्तु वा, राज्ञि राजनि राज्ञोः राजसु । हेराजव ।

अमृताम्—११४. नामान्तस्येति । विष्णुपदान्ते विषये नाम्नोऽन्तेस्थितस्य नस्य
हरो भवति बुद्धेतु स न स्यात् । प्रथमतो नलोपाभाव इति—अत्रायमाशयः,—पथिन्
मथिन्नित्यादि वक्ष्यमाण लक्षणं विनापीष्टपदं साध्यतुं शक्यते । यथाह—पथ्यादीनामि-
रामस्यारामः, थातपूर्वं नुक् च; ततो नामान्तस्येति नस्य हरे, स-र-रामयोरिति विष्णुसर्गं
च पन्थाः । तदेवप्रथमतो नलोपमन्तरेणापीष्टरूपं नितरां सिध्यति । तथापि “पथिन्
मथिन्नित्यादि पृथक्लक्षणेन यत् प्रथमं नलोपः कृतस्तेनेदं ज्ञाप्यते—नान्तानां मध्ये पथ्यादि
त्रयाणामेव प्रथमतो नलोपोभवति, अन्येषां नान्तानान्तु पश्चादिति । अन्यथा सिद्धेऽपीष्टे
साधनप्रयासः । पिष्टेषणवन्निष्टकः स्यात् । अथान्येषां राजन् शार्ङ्गिन् प्रभृतीनां प्रथमं
नलोपेकृते तु विष्णुजनान्तत्वाभावात् सुलोपाभावे राजा: शार्ङ्गीः इत्येवमादि सविष्णुसर्गा-
निश्रूपमपतेदिति दोषएव ।

ननु राजभ्यामित्यादौ नरामहरे कृष्णस्य त्रिविक्रमो गोपाल इतिकथं न प्रवर्तते ?
तत्राह—कवचिदिति । अत्रोभयोः प्रकृत्याश्रितत्वेऽपि पूर्वस्थित कार्यस्य त्रिविक्रम-
स्यान्तरङ्गता । तदपरस्थितस्य नरामहरस्य वहिरङ्गतेति स्थिते त्रिविक्रम विद्धौ क्रियमाणे
तदनिमित्तं नरामहरः असिद्धः । सुप् विद्धौ नरामादिहरोऽसिद्ध एवेति भाविवचनानुसारात् ।
ततो नरामस्यासिद्धवेन स्यानिवत्त्वात् त्रिविक्रमस्य न हि प्रसङ्ग इति मर्म । सिद्धान्तएष

इत्यनेन दिपसिषोहरः, ततो ‘जवजेत्यादिना दस्य घः ‘विष्णुदासो विष्णुपदान्ते’त्यादिना
गरामः ‘विष्णुदासस्य हरिकमलं वे’त्यनेन करामः ॥११३॥

बालम्—नामान्तस्य । नामान्तस्य नाम्नोऽन्तेस्थितस्य । प्रथमतो न लोपाभाव
इति त्रिविक्रमानन्तरं प्रथमतो न लोपे सति न लोपस्य महाहरत्वात् राजा इति सविष्णु-
सर्गरूपं स्वात् । प्रथमतो नलोपाभावे वेतमाह पथिन्निति । ‘पथिन् मथिन् ऋभुक्षिन्नित्येष
नस्य हरः सा’वित्यस्मिन् लक्षणे वक्ष्यमाणस्य नलोपस्य वैयर्थ्यादिति तस्मात्तत्र प्रथमतो न
लोपः, अतः पन्था इत्यादि सविष्णुसर्गरूपं भवति । कवचिदिति अत्रान्तरङ्गकाय
त्रिविक्रमादि । वहिरङ्गं नस्य हरः । न प्राप्नोतीत्यर्थः । इति वदुषु पुस्तकेषु दृश्य-

यूष शब्दस्य यूषन्नादेशे आदेशः स्थानिवत् कवचित् । नामधातु प्रत्यय विष्णुपदानामादेशस्य तज्जातिवद्भावः सर्वत्रैव । वर्णनां तदव्यक्तिबद्भावश्च यत्र मंस्यते तत्रैवेत्यर्थः । तेन नामत्वे सत्यनोऽरामहरः । यूष्णः यूष्णा । एवं यज्वन् आत्मन् सुधर्मन् इत्यादयः । किन्तु वमसत्सङ्गहीनस्येति विशेषणादरामहरो नास्ति । यज्वनः यज्वना । एवं श्वन् युवन् मधवन् । कवचिद्विशेषः,—

११५. श्वर्युवन् मधवन् इत्येषां वस्य उर्भगवति ।

ईवर्जित-तद्विते तु न युवतीत्येतद्वर्जम् ॥४॥

वस्येति सरामनिदंशः । शुनः शुना श्वस्याम् श्वभिः ।

यूनः यूना युवस्याम् युवभिः । एवं मधोनः मधोना ।

कृष्णसंज्ञत्वमभ्युपगम्य ज्ञेयः । तदनङ्गीकारोऽपि सम्मत इत्याह—किञ्चेति । एकेनैव सिद्धेऽपि पक्षयुगलस्य प्रपञ्चश्छात्राणां वुद्दिवैचित्र्यर्थः । एवं प्रेमन् गरिमन् प्रभृत्यश्च आदेशः स्थानिवत् कवचिदित्यादिसन्दर्भे यूषन्नित्यादेशस्य नामत्वप्रतिपादनार्थः । अत्र-कवचित्पदं विशदयति—नामेत्यादिभिः । नाम्नो धातोः प्रत्ययस्य तथाविष्णुपदस्य चादेशस्य तत्ज्ञातिवद्भावोऽर्थात्नामत्व-धातुत्वादिकं सर्वत्रैव मन्यते । वर्णनामादेशस्य तु तदव्यक्तिवद्भावोऽर्थात्तद्वर्णत्वं कार्यनुरोधेन यत्रप्रयोजनं तत्रैवमंस्यते ननुसर्वत्र । तेन-यूष शब्दस्य यो यूषन्नादेशस्तस्यापि नामत्वात् नामविहितकार्यं भवतीतिदर्शयन्नाहफलम्—अनोऽरामहरइति ।

अमृतां—११५. इननिति । भगवति परे श्वन् युवन् मधवन् शब्दानां वरामस्य उराम आदिश्यते । ईवर्जित तद्वितेतु तेषां वस्य उर्भगवति । यथाहि—शौनवं यौवनं माधवानः । ईपि तु भवत्येव उरामः—शुनी यूनी मधोनी । तत्रपुनरीवन्तेषु युवतिशब्दो वर्जयितव्यः—

तत्तु लिपिकरप्रमादकृतम् । न प्राप्नोतीत्यन्य इत्येव ज्ञेयम् । अत्र कवचिदन्तरङ्ग इत्यादि न्यायाङ्गीकारमकृत्वा कृष्णसंज्ञात्वमेव निपिध्यते किन्तु यवयोर्हरे कृष्णसंज्ञा न वाच्येति । सूत्रे प्रत्ययरूपनिमित्तादन्यस्य हरोऽपि महाहर इति महाहरत्वात् त्रिविक्रमादिकं न स्यादिति ज्ञेयम् । आदेशः स्थानिवत् कवचिदिति अर्थमाह नामेति नाम्नोः धातोः प्रत्ययस्य विष्णुपदस्य च आदेशस्य तज्जातिवद्भावः नामादिस्वरूपवद्भावः सर्वत्रैव भवति । वर्णनामादेशस्य तद्वयक्तिवद्भाव आदेश-वर्णस्वरूपवद्भावश्च । यत्र मन्तव्यस्तत्रैव, न तु सर्वत्रैति । अतो अत्र युष्मन्नादेशस्यापि नामत्वं कवचिद्विशेष इति विशेषमाह ॥११४॥

बाल०—श्वन् युवन् ईवर्जित । युवती इति आदिर्येषां तान् वर्जयित्वा ईवर्जिततद्विते तु परे वस्य उर्भं भवति । ईवर्जिततद्विते निषेधात् नाम्नो ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि

* “युवतीत्यादिवर्जमिति”ति तु लिपकार प्रमाद, आदिपदस्यानर्थकृत्वम् ।

११४. नामान्तस्य नस्य हरे विष्णुपदान्ते बुद्धं विना ।

प्रथमतो नलोपाभावः, पथिनुमथिन् इत्यादौ वक्ष्यमाण नलोपवैयर्थ्यर्थति । राजा राजानौ राजानः । राजानं राजानौ । वमसत् सङ्गः हीनस्य इत्यरामहरः । तवर्गस्य कवर्गः । जबोः सत्संगे ज्ञः । राज्ञः, राजा । क्वचिदन्तरङ्गे कार्ये क्रियमाणे तदनिमित्तं वहिरङ्गमसिद्धं स्यादिति न्यायेन नस्यहरासिद्धेः कृष्णस्य त्रिविक्रमो गोपाल इत्यादिकं प्राप्नोतीत्यर्थः । किञ्च न-वयोर्हरे कृष्णसंज्ञा न वाच्या । राजम्याम् राजभिः । राज्ञे राजभ्याम् राजभ्यः । राज्ञः राजभ्याम् राजभ्यः । राज्ञः राज्ञोः राज्ञाम् । ईङ्ग्योस्तु वा, राज्ञि राजनि राज्ञोः राज्ञुः । हेराजन् ।

अमृता०—११४. नामान्तस्येति । विष्णुपदान्ते विषये नाम्नोऽन्तेस्थितस्य नस्य हरो भवति बुद्धेतु स न स्यात् । प्रथमतो नलोपाभाव इति—अत्रायमाशयः,—पथिनुमथिन्नित्यादि वक्ष्यमाण लक्षणं विनापीष्टपदं साधयितुं शक्यते । यथाह—पथ्यादीनामिरामस्यारामः, थातपूर्वं नुक् च; ततो नामान्तस्येति नस्य हरे, स-र-रामयोरिति विष्णुसर्गं च पन्थाः । तदेवं प्रथमतो नलोपमन्तरेणापीष्टरूपं नितरां सिध्यति । तथापि “पथिनुमथिन्नि”त्यादि पृथक्कलक्षणेन यत् प्रथमं नलोपः कृतस्तेनेदं ज्ञाप्यते—नान्तानां मध्ये पथ्यादित्रयाणामेव प्रथमतो नलोपोभवति, अन्येषां नान्तानान्तु पश्चादिति । अन्यथा सिद्धेऽपीष्टेऽसाधनप्रयासः । पिष्टपेषणवत्तिष्ठलः स्यात् । अथान्येषां राजन् शार्ङ्गिन् प्रभृतीनां प्रथमं नलोपेक्षते तु विष्णुजनान्तत्वाभावात् सुलोपाभावे राजाः शार्ङ्गीः इत्येवमादि सविष्णुसर्गं निश्चरूपमपेदिति दोषएव ।

ननु राजभ्यामित्यादौ नरामहरे कृष्णस्य त्रिविक्रमो गोपाल इतिकथं न प्रवर्तते ? तत्राह—क्वचिदिति । अत्रोभयोः प्रकृत्याश्रितत्वेऽपि पूर्वस्थित कार्यस्य त्रिविक्रमस्यान्तरङ्गता । तत्परस्थितस्य नरामहरस्य वहिरङ्गतेति स्थिते त्रिविक्रम विधौ क्रियमाणे तदनिमित्तं नरामहरः असिद्धः । सुपविधौ नरामादिहरोऽसिद्ध एवेति भाविवचनानुसारात् । ततो नरामस्यासिद्धत्वेन स्यानिवत्त्वात् त्रिविक्रमस्य न हि प्रसङ्ग इति मर्म । सिद्धान्तात् इत्यनेन दिपसिषोर्हरः; ततो ‘जवजेऽत्यादिना दस्य घः ‘विष्णुदासो विष्णुपदान्ते’त्यादिना गरामः ‘विष्णुदासस्य हरिकमलं वे’त्यनेन करामः ॥११३॥

बाल०—नामान्तस्य । नामान्तस्य नाम्नोऽन्तेस्थितस्य । प्रथमतो न लोपाभाव

इति त्रिविक्रमानन्तरं प्रथमतो न लोपे सति न लोपस्य महाहरत्वात् राजा इति सविष्णुसर्गरूपं स्वात् । प्रथमतो नलोपाभावे वेतमाह पथिन्निति । ‘पथिनुमथिन् ऋभुक्षिन्नित्येषां नस्य हरः सा’वित्यस्मिन् लक्षणे वक्ष्यमाणस्य नलोपस्य वैयर्थ्यादिति तस्मात्तत्र प्रथमतो न लोपः, अतः पन्था इत्यादि सविष्णुसर्गरूपं भवति । क्वचिदिति अत्रान्तरङ्गकार्यं त्रिविक्रमादि । वहिरङ्गं नस्य हरः । न प्राप्नोतीत्यर्थः । इति वदुषु पुस्तकेषु दृश्यते

यूष शबदस्य यूषवन्नादेशो आदेशः स्थानिवत् कवचित् । नामधातु प्रत्यय विष्णुपदानामादेशस्य तज्जातिवद्भावः सर्वत्रैव । वर्णनां तद्व्यक्तिबद्भावश्च यत्र मंस्यते तत्रैवेत्यर्थः । तेन नामत्वे सत्यनोऽरामहरः । यूष्णः यूष्णा । एवं यज्वन् आत्मन् सुधर्मन् इत्यादयः । किन्तु वमसत्सङ्ग-हीनस्येति विशेषणादरामहरो नास्ति । यज्वनः यज्वना । एवं श्वन् युवन् मघवन् । कवचिद्विशेषः,—

११५. श्वन् युवन् मघवन् इत्येषां वस्य उर्भगवति ।

ईवृजित-तद्विते तु न युवतीत्येतद्वर्जम् ॥१५॥

वस्येति सरामनिदेशः । शुनः शुना श्वस्याम् शुभिः ।

यूनः यूना युवस्याम् युवभिः । एवं मघोनः मघोना ।

कृष्णसंज्ञात्वमभ्युपगम्य ज्ञेयः । तदनङ्गीकारोऽपि सम्मत इत्याह—किञ्चेति । एकेनैव सिद्धेऽपि पक्षयुगलस्य प्रपञ्चश्छात्राणां बुद्धिवैचित्र्यर्थः । एवं प्रेमन् गरिमन् प्रभृतयश्च आदेशः स्थानिवत् कवचिदित्यादिसन्दर्भो यूषनित्यादेशस्य नामत्वप्रतिपादनार्थः । अत्र-कवचित्पदं विशदयति—नामेत्यादिभिः । नाम्नो धातोः प्रत्ययस्य तथाविष्णुपदस्य चादेशस्य तत्जातिवद्भावोऽर्थात्नामत्व-धातुत्वादिकं सर्वत्रैव मन्यते । वर्णनामादेशस्य तु तद्व्यक्तिवद्भावोऽर्थात्तद्वर्णत्वं कार्यानुरोधेन यत्रप्रयोजनं तत्रैवमंस्यते ननु सर्वत्र । तेन-यूषशब्दस्य यो यूषनादेशस्तस्यापि नामत्वात् नामविहितकार्यं भवतीतिदर्शयनाहकलम्—अनोऽरामहरइति ।

अमूला०—११५. इननिति । भगवति परे श्वन् युवन् मघवन् शब्दानां वरामस्य उराम आदिशयते । ईवृजित तद्वितेतु तेषां वस्य उर्भगवति । यथाहि—शौनकं यौवनं माघवानः । ईपि तु भवत्येव उरामः—शुनी यूनी मघोनी । तत्रपुनरीवन्तेषु युवतिशब्दो वर्जयितव्यः—

तत्तु लिपिकरप्रमादकृतम् । न प्राप्नोतीत्यन्य इत्येव ज्ञेयम् । अत्र कवचिदन्तरङ्ग इत्यादि न्यायाङ्गीकारमकृत्वा कृष्णसंज्ञात्वमेव निषिद्धयते किन्तु यवयोर्हरे कृष्णसंज्ञा न वाच्येति । सूत्रे प्रत्ययरूपनिमित्तादन्यस्य हरोऽपि महाहर इति महाहरत्वात् त्रिविकमादिकं न स्यादिति ज्ञेयम् । आदेशः स्थानिवत् कवचिदिति अर्थमाह नामेति नाम्नोः धातोः प्रत्ययस्य विष्णुपदस्य च आदेशस्य तज्जातिवद्भावः नामादिस्वरूपवद्भावः सर्वत्रैव भवति । वर्णनामादेशस्य तद्व्यक्तिवद्भाव आदेश-वर्णस्वरूपवद्भावश्च । यत्र मन्तव्यस्तत्रैव, न तु सर्वत्रैति । अतो अत्र युष्मन्नादेशस्यापि नामत्वं कवचिद्विशेष इति विशेषमाह ॥११४॥

बाल०—श्वन् युवन् ईवृजित । युवती इति आदिर्येषां तान् वर्जयित्वा ईवृजिततद्विते तु परे वस्य उर्भं भवति । ईवृजिततद्विते निषेधात् नाम्नो ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि

* “युवतीत्यादिवर्जमिति”ति तु लिपकार प्रमाद, आदिपदस्यानर्थकत्वम् ।

सौ मधवा । मधवानिति तु कालापा: ।

वहति स्वेच्छया वायुरुद्गच्छति च भास्करः ।

हर्विर्जक्षिति निःशङ्को मखेषु मधवानसौ ॥ इतिभट्टः ।

मधवतु शब्दोऽप्यस्ति । “मधवद् वज्रलज्जानिदानम्” “सएवमुवत्वा-
मधवन्तमि”त्यादि प्रयोगदर्शनात् । मधवान् मधवन्तौ मधवन्तः ।

मधवद्वाचाम् ।

अथ दिवस वाची प्रतिदिवन् शब्दः । प्रतिदिवा प्रतिदिवानौ प्रति-
दिवानः । प्रतिदिवानं प्रतिदिवानौ ।

११६. धातो रबप्रागिदुतोऽन्निविक्रमो, रवतो विष्णुजने; न कुर-
छुर-नामधातूनां नचतद्वितये ।

नाम्नो जातो धातु नामधातुरिति वक्ष्यते । अन्नपाठाद् विष्णुजनो दर्ण-

“यूनस्तु युवतिः सावृ” इति वक्ष्यमाणत्वात् । भगवतीति किम्—शवानौ युवध्यां मधवसु ।
कवचिद् ग्रहणादिह वराम स्थाने उरामादेशस्य तद्व्यक्तिवद्भायोऽर्थादि वरामभावो न,
ततो यून इत्यादौ त्रिविक्रमादिः सिद्धः । लूनीत्यादौ तरामस्थाने नरामादेशस्य तद्व्यक्ति-
वद्भावोऽर्थात् तरामभाव इष्टः । तेन हि ख्य-त्याभ्यामित्यादिना उसिडसोरस्य उच्च सिद्धः ।

मधवानिति तु कालापा इत्यत्र तु शब्दो मतभेदेन सारस्य द्योतकः । ननु भट्टि
प्रयोगेऽपि मधवानिति पददर्शनात् कथमसारस्यत्वमिति चेत्तत्र सङ्गति करोति—मधवतु
शब्दोऽप्यस्तीति । तस्यैव प्रयोगोऽयं भट्टौ नतु मधवन् शब्दस्य । उभावपीन्द्र वाचिनौ ।
तदेव द्रढयति प्राचीन प्रमाणः—मधवद् वज्रलज्जानिदानमित्यादिभिः । प्राचीन प्रमाणद्वये
मधवतुशब्दस्यैव प्रयोगो नतु मधवन् शब्दस्य, तत्र तराम-नुमोरप्रसङ्गात् ।

अमृता०—११६. धातोरिति । रवतउत्तरं विष्णुजने परे सति धातुसम्बन्धिनोः
रवाभ्यां पूर्वयोरिरामोरामयो ऽन्निविक्रमः स्यात् । यदि धातोरिदीतीः परस्यः ररामो

ग्रहणमिति न्यायाज्ञीकारेण युवतीत्यादिषु वस्य उः स्यादिति ज्ञेयम् । युवतीति ईवन्तम् ।
वस्येति तारामनिदेश इति तस्मादरामसहित वरामस्य उर्भवतीति । ननु यून इत्यत्र लुल-
वुप् इतिवदुरामे कृते धातुश्चतुःसनस्येयुवावित्यनेन उवादेशः कस्मान्नस्यादिति चेत्तत्रैवम्
आदेशः स्थानिवत् कवचिदिति न्यायेनात्र उरामस्य पूर्ववराम-व्यक्तिवद्वावो मन्तव्यस्तत्र
तु न सौ । अस्माकं मते मधवेति । मधवानिति तु कालापा वदन्तीति शेषः । मधवानिति
पदं न विश्वद्विमिति भट्टिप्रयोगं दर्शयति हरिर्जक्षितीति । मधवन् शब्द इन्द्रवाचकः । यदि
मधवानित्यविश्वदं, तर्हि अस्माकं मते तत्कथं भवत्विति चेत्तत्राह—मधवतुशब्दोऽप्यस्तीति
सोऽपीन्द्रवाचक एव । मधवतुशब्दसङ्गात्रे हेतुमाह मधवद्वज्जेति ॥११५॥

बाल०—धातोरव । रवतः पर्वत्तिनि विष्णुजने परे धातुः सम्बन्धिनोः रवाभ्यां

मात्रं गृह्णते न केवलस्वादयः । कुरादिनिवेधान्नाम्नोऽन्यत्रापि ज्ञेयम् ।
ततः शसि प्रतिदीवनः । प्रतिदीवना ।
अरामहरस्य निमित्तत्वं मत्वैवात्र त्रिविक्रम विधानम्, ततो नासिद्धत्वम् ।
प्रतिदिवभ्याम् । तदेतत् प्रक्रियाकौमुद्यादौ । अन्येतु प्रतिदीवनो नस्य
विष्णुसर्गे विष्णुपदान्ते इति मन्यन्ते । प्रतिदिवा प्रतिदिवोभ्याम् ।

वरामो वा विष्णुजनेन सह सत्सङ्गः स्यात्तदेव इरामस्य उरामस्य वा त्रिविक्रमो भवतीति
फलितार्थः । न कुर छरेत्यादि किम्—कुर्वः छुर्यते; नामधातौ—चतुर्यति गिर्यति; तद्वित ये—
धुर्य दिव्यमित्यादौ न त्रिविक्रमः । इसरोः अविष्णुपदार्थमेतत् । विष्णुपदान्तार्थमग्रे
वक्ष्यते । रवतो विष्णुजने इति किम्—प्रतिदिवा ।

अत्रेति—अत्रधातुसम्बन्धीयलक्षणे पाठाद विष्णुजन परत्वं नाम्नो धातो वा स्वादे-
स्तिवादे वा ज्ञेयम् । अतएव त्रिविक्रमनेनहि सेवस्यति । धातोस्तिवेव, तेन निर्गुणः
चतुर्द्वा इत्यादौ न त्रिविक्रमः ।

नासिद्धत्वमिति—ववचिदन्तरङ्गकार्ये क्रियमाणे तदनिमित्तं वहिरङ्गमसिद्धमिति
नासिद्ध ख्यविक्रमः, तं प्रति अरामहरस्य निमित्तत्यमननात् । अत्रोभयकार्यस्य प्रकृता-
श्रितत्वेऽपि पूर्वस्य कार्यस्य त्रिविक्रमस्य वलवत्ता, प्रकृतावपि पूर्वपूर्वमन्तरङ्गमित्युक्तेः ।
अनोऽरामहरासिद्धे तु स्थानिवत्त्वात् तदव्यवधाने त्रिविक्रमो नैव सिद्धेत् । नचैव स्थानि-
वत्त्वाभावे छस्यशो वस्य ऊठित्येव कथं न प्रवर्त्तत इति शङ्कचम्, उभयोः प्रकृताश्रितत्वेऽपि
वरामात् पूर्ववर्त्तिन इरामस्य त्रिविक्रमविवेरवान्तरङ्गत्वेन वलवत्त्वात् ।

पूर्वयोरिरामोरामयोख्यविक्रमो भवति । न कुर । कुर-छुर नामधातूनां त्रिविक्रमो न
भवति । अतः कुर्वः कुर्मः कुर्यादित्यादौ छुर्यत इत्यादौ नामधातौ दिव्यति चतुर्यतोत्यादौ ।
व्यतिरेकेण कुर्वकुरायत इत्यादौ च त्रिविक्रमो न भवति ।

न च । तद्वित ये च परे त्रिविक्रमो न भवति, अतः धुर्य इत्यादौ त्रिविक्रमाभावः ।
रवत इति स्पष्टार्थमन्यथा येन न व्यवधानं सम्भवति, तेना व्यवधानेऽपि स्यादिति न्याये-
नास्य व्यवधानेऽपीति प्रतिदिवानावित्यादौ त्रिविक्रमशङ्का स्यात् । किञ्च स्थान्यंशेऽनयोः
सङ्घावे एव निमित्तांशे सङ्घाव उचितो विपरीते तु विपरीतस्तदन्वय-व्यतिरेकानुविधानात् ।
एवं निमित्तांशेऽपि योजयं तस्मादनयोः परतः परवर्त्तनि विष्णुजने सति अनयोः पूर्वस्मिन्
धातोरिद्वितो ख्यविक्रमो भवति नान्यव्यवधानेन । रवप्रागिति कि विद्यति वृद्धयति । धातो-
रिति कि निर्गुणः चतुर्द्वा बलिव्यवसितिः गुरुव्यवस्थायुरित्यादौ न त्रिविक्रमेण भाव्यं
कुरादिगणपठनानुरोधात् तत् उवु क्रिप् उप् उभ्यां तृण-उञ्जितेत्यादौ च ररामसाहचर्यदि-
न्त्यस्थस्यैव ग्रहणादस्य त्वौष्ठत्वात् न विष्णुजन इति कि प्रतिदिवानौ । अत्रेति अत्र
धातुसम्बन्धीयलक्षणे विष्णुजनस्य पाठात् विष्णुजनवर्णमात्रं गृह्णते । नाम्नोऽन्यत्रापि
ज्ञेयमति दीव्यतीत्यादौ त्रिविक्रमो भवति अरामहरस्येति प्रतिदीव इत्यादौ अरामहरस्य
निमित्तत्वं मत्वैव त्रिविक्रमविधानं कृतमिति कवचिदन्तरङ्ग इत्यादि न्यायेन अरामहरस्य

११७. पथिन् मथिन् ऋभुक्षिन्नित्येषां नस्य हरः सौ ।

११८. पथ्यादीनामिरामस्यारामः कृष्णस्थाने, थातूपूर्वं नुक् च ।

अविष्णुपदान्तस्येति विष्णुचक्रस्य हरिवेणुरिति । अत्र नागरलिपावप्य-
विष्णुपदान्ते यद्विष्णुचक्रं तन्मोचितम् । पन्थाः पन्थानौ पन्थानः ।
पन्थानं पन्थानौ--

११९. पथ्यादीनां संसार हरो भगवति ।

पथः पथा । एवकारेणैव सर्वत्र नियमान्नामान्तस्य नस्य हरः । तेन
पथिभ्याम् पथिभिः । एवं मन्थाः मन्थानौ मन्थानः । ऋभुक्षा ऋभुक्षाणौ
ऋभुक्षाणः । अथ शार्ङ्गन्

अमृतां—११७. पथिनिति । सौपरे पथिन् ऋभुक्षिन् शब्दानां नरामस्य हरः
स्यात् । न च नामान्तस्येत्यादिनाहि सिद्धे व्यर्थमिदमिति वाच्यं, प्रक्रिया विपर्ययं दोषात् ।
कृतेतु सर्वत्र प्रथमं नलोपे राजन् शब्दस्य राजा: इत्येवं सविष्णुसर्गं रूपमपद्येत, तत्त
अनिष्टमिति प्रागुदिष्टम् ।

अमृतां—११८. पथ्यादीनामिति । कृष्णस्थाने परे पथ्यादि त्रयाणामिरामस्य
आरामः स्यात्, आद्योः थातूपूर्वं नुमागमश्च स्यात् । आगमदेन—आरामात् परं नुकि
प्राप्ते थातूपूर्वमिति विशेषोत्तिः । अविष्णुपदान्तस्येत्यादिना नस्य विष्णुचक्रं, ततो विष्णु
चक्रस्य हरिवेणुः, सररामयोरिति विष्णुसर्गं पन्थाः ।

अमृतां—११९. पथ्यादीनामिति । भगवति परे पथ्यादि त्रयाणां संसारहरः
स्यात् । ननु पथ्यादीनां सौ पृथक्लक्षणेन नलोपविधानात् तदन्यत्र तद्विधानवलादेव नस्य
लोपो न भवतु इति चेत्तत्र समाधत्ते—एवकारेणैवेति । एवकारेण हि सर्वत्र नियमो भवति,
अत इहसूत्रे एवकाराभावान्नियमाभावः । तेननामान्तस्येत्यादिसामान्यविधिना नरामहरः
स्यादेवेत्यर्थः । ऋभुक्षा इन्द्रः । मन्थाः मन्थनदण्डः । बुद्धेच हेपन्थाः ।

नासिद्धत्वम् । तदिति तदेतत् दर्शितं रूपं मतं वा प्रक्रियाकौमुद्यादौ सम्मतमिति शेषः ।
अन्ये तु प्रतिदीवनो नरय विष्णुसर्गं विष्णुपदान्ते इति मन्यन्ते । तन्मते प्रतिदिवा प्रति-
दिवोभ्यामिति प्रतिदिवा इति प्रथमतत्त्विकमस्ततः सोहरः ततो नस्य विष्णुसर्गः ॥११६॥

बाल०—पथिन् ॥११७॥

बाल०—पथ्या । अविष्णवति अविष्णुपदान्तस्य नस्य मस्य च विष्णुचक्रं वैष्णवे
इत्यनेन विहितस्य विष्णुचक्रस्य स्थाने विष्णुचक्रस्य हरिवेणुविष्णुवर्गं इत्यादिना हरिवेणु-
रिति । यत्रैति नागरलिपौ नागरालेखने ॥११८॥

बाल०—पथ्या । ननु पथिन् मथिन् इत्यादि लक्षणस्य पृथक्करणात् पथिभ्या-
मित्यादौ नामान्तस्येत्यादिना नलोपो न भवत्विति चेत्तत्राह—एवकारेणैवेति एवकारेणैव
सर्वत्र नियमः, अत एवकाराभावेन नियमाभावात् नामान्तस्येत्यादिना नस्य हरः स्यादेवेति ।

१२०. इन् हन् पूषन् अर्यमन् इत्येषामुद्ववस्य त्रिविक्रमः सुश्योरेव ।

शाङ्गीं शाङ्गिणौ शाङ्गिणः । शाङ्गिणम् शाङ्गिणौ शाङ्गिणः । शाङ्गिण-
भ्याम् हेशाङ्गिन् । एवं वनमालिन् हलिन् दण्डन् । हनिति हनधातुः ।
ततः कंसहन्—कंसहा कंसहनौ कंसहनः । कंसहनम् कंसहनौ; वमसत-
सङ्गहीनस्येत्यरामहरः ।

१२१. हनो हस्य घो णिन्नयोः ।

कंसधनः । कंसधना कंसहभ्याम् । डौ कंसहनि कंसधन । हेकंसहन् ।
एवं पूषा पूषणौ । पूष्णि पूषणि, पूषिचेत्येके । अर्यमा अर्यमणौ । संख्या
शब्दाः पञ्चन् प्रभृतयो नित्यवहुवचनान्ताः त्रिषुसरूपाः । षणान्त
संख्यातः कतेश्चेति । पञ्च पञ्च पञ्चभिः पञ्चभ्यः ।

१२२. रषणान्तसंख्याभ्यो नुडामि स्वार्थे ।

अमृतां—१२०. इनिति । इनन्तस्य, विवन्तहनधातोः, पूषन् अर्यमन् शब्दयोश्च
उद्ववस्य त्रिविक्रमः स्यात् सुश्योरेवपरयो नन्यत्र । नान्तेत्यादिना कृष्णस्थाने परे
त्रिविक्रमे प्राप्तेऽयं नियमः । इह नियमसूचनार्थ एवशब्दः । सौशौ चैत्यर्थः । तेन शाङ्गिणौ
इत्यादौ न त्रिविक्रमः । पूषा अर्यमा च सूर्यः । एवं इन् विन् प्रत्ययन्ताः गुणिन् स्मिन्
प्रभृतयः ।

अमृतां—१२१. हन इति । ण इत् यस्य सणित् । णिन्न नश्च णिन्नी तयोः । णिति
प्रत्यये नरामे वा परे हनधातो हंराम स्थाने घराम आदिशयते । हन् इति धातुग्रहणात्
शब्दस्य निरासः । तेन अहं इत्यादौ न अथवम् । णिति—आख्यातादौ जघनेत्यादि ।
हस्येति अराम उच्चारणार्थः । तेन वमसतसङ्गहीनस्येत्यादिना हन अरामहरे सतीह नराम-
परत्वम् । आख्यातादौ तृद्वादर्शनात् नरामपरतैव—धनतीत्यादौ । तस्मादराम व्यवधाने
तु न, हननमित्यादौ । तथा णिति चारामव्यवधाने न—वृत्र हनमाच्छेदे इत्यर्थं णौ वृत्र-
हयतीति । पूषि चेत्येक इति—तन्मते डौपक्षे अनएव लुग्भवति न तु तदरामस्य । पञ्चन्-
प्रभृतय स्त्रिषु लिङ्गेषु सरूपाः समानरूपाः । कतेश्चेतीति—जस्शसो मंहाहर इति शेषः ।

अमृतां—१२२. रणेति । संख्या वाचिभ्यो रषणान्तशब्देभ्यः स्वार्थे नुडागमः
स्यात् आन् प्रत्यये परे । तत्रान्तः चतुर्, पान्तः पष्, नान्ताः—पञ्चन् सप्तन् नवन् दशन्
शब्दाः । संख्याभ्य इति किम्—गिरां गुणिनाम् ।

बाल०—इन् हन् । नियमसूचनार्थमेवशब्दोपादानम् ॥१२०॥

बाल०—हनो हस्य । ण इत् । यस्य सणित् णिन्न नश्च णिन्नी तयोः परयोः । पूषि
चेत्येक इति तन्मते डौ परे अनो लुग् भवति । संख्याशब्दाइति त्रिषु लिङ्गेषु । सरूपाः
समानरूपाः । षणान्तेति जस्-शसोर्महाहरः ॥१२१॥

१२३, नान्तोद्ववस्य त्रिविक्रमो नामि ।

पञ्चानां पञ्चसु । एवं सप्तन् अष्टु नवन् दशन् ।

१२४, अष्टनाविष्णुभक्तिषु वा ।

१२५, तस्मात् जस् शसो रौश स्वार्थे ।

शइत् । शित् सर्वस्येति न्यायेन शिदादेशः सर्वादेशः । अष्टौ अष्टौ अष्टौ

अष्टाभिः अष्टाभिः अष्टाभ्यः अष्टाभ्यः अष्टाभ्यः अष्टाभ्यः । पक्षद्वयेऽप्यष्टानाम् ।

अष्टासु अष्टसु । एवं परमपञ्च परमाष्टौ इत्यादि । अस्वार्थेतु—प्रिय-

पञ्चां प्रियपञ्चानौ प्रियपञ्चानानः । भगवति—पियपञ्चमः इत्यादि ।

आमिप्रियपञ्चमाम् ।

अमृता०—१२३. नान्तेति । संख्यावाचिनां नान्तानामुद्ववस्य त्रिविक्रमः स्यात् नामि प्रत्यये परे । इह लोपानन्तरं वामनस्य त्रिविक्रमो नामीति नप्रवर्तते नलोपस्यासिद्धत्वात् । तस्मादद्वात्ते विधानमेतत् । नच संस्यानान्तोद्ववस्य त्रिविक्रमम् नामीति कृतेऽर्षीष्टसिद्धे नान्तानुङ्ग विधानं, पुनश्च नरामहर इत्येवंप्रक्रिया गौरवमिति वाच्यम्; अष्टानामित्यत्र “अष्टन आ” इत्यारामे कृते नुङ्गविधानाभावात् अष्टानामिति तथा अस्वार्थे प्रियपञ्चानामिति चानिष्ठरूपमापद्येत् । पञ्चानामिति—रणान्तेति नुङ्ग, नान्तोद्ववस्येति त्रिविक्रमः, पूर्वस्य विष्णु पदवत्त्वाभावातान्तस्येति नरामहरः । अत्र विष्णुजनादि प्रत्ययं ‘नाम’ निमित्ततया गृहीत्वैव नलोपः क्रियते अतो न तस्यासिद्धत्वमिति विवेच्यम् । अत्राकरणात् सन्धिपात लक्षण विधिस्तु नेष्टः ।

अमृता०—१२४. अष्टन इति । एकवर्णविधित्वादष्टनशब्दस्य नराम स्थाने आरामो वादिश्यते विष्णुभक्तौ परस्याम् । विष्णुभक्ताविति किम्—अष्टत्वम् ।

अमृता०—१२५. तस्मादिति । अष्टनशब्दस्य विहितारामादुत्तरयोर्जस्गसोः स्थाने औशं भवति स्वार्थे । पक्षद्वयेऽप्यष्टानामिति—ननुआदेशपद्ये तस्यनित्यत्वादन्तरज्ञत्वाद्व प्रागेवात्वेकृते नान्तत्वाभावानुटोऽप्रवृत्तेः “अष्टामि” त्येव रूपं भवितु मर्हतीति चेन्न, परिभाषा क्रमविपर्ययात् । यथाहि—विष्णुभक्तिस्विति समग्रव्यापीह्यारामादेश इत्यसौ सामान्यः, “नुङ्गामि” इत्येकदेशव्यापीति विशेषाणः । एवंस्थिते पूर्वपरयोः परविधि वंतवानित्यादौ—“तेषुचोत्तरोत्तर” इत्यनेन नित्यादन्तरज्ञादपि विशेष (अपवाद) विवे-

बाल०—रण ॥१२२॥

बाल०—नान्तौ । ननु मान्तात् कथं नुङ्गविधीयते पञ्चानामित्यादीनां संख्यानान्तोद्ववस्य त्रिविक्रम आमीति कृते सिद्धत्वादिति न वाच्यं अस्वार्थे प्रियपञ्चमामित्यत्र प्रियपञ्चानामित्यनिष्ठरूपं स्यात् । अष्टानामित्यत्र ‘अष्टन आ विष्णुभक्तिषु वे’ त्यनेनारामे कृते अष्टामिति च स्यात् ॥१२३॥

बाल०—अष्ट । एकवर्णो विधिरन्ते प्रवर्तते इति नरामस्यारामः ॥१२४॥

अतुरः परार्थत्वेऽप्यात्वं वा नत्वौश् । प्रियाष्टा प्रियाष्टौ प्रियाष्टाः ।
भगवति विश्वपा वदेव—प्रियाष्टः । आमि प्रियाष्टाम् । पक्षे प्रियाष्टा
प्रियाष्टानौ प्रियाष्टानः । भगवति—प्रियाष्टनः । आमि प्रियाष्टनाम् ।
अर्वत् अर्वा ।

१२६, अनन्तपूर्वस्यार्वणोऽर्वत् सुविना ।

चतुर्भूजानुवन्धानां नुम् ।

१२७, नवर्जतवर्गस्यस्य नस्य न णत्वम् ।

अर्वन्तौ अर्वन्तः । अर्वन्तम् अर्वन्तौ अर्वतः । अर्वता अर्वदभ्याम्, हे अर्वत् ।

वेलवत्त्वं निर्द्वारितमस्ति सन्धि प्रकरणे । तस्मादिह प्रथमं रपणान्तेति नुटि कृते, आत्वे
चाष्टानामित्येव सिद्धम् । अनादेशपक्षेऽपि नुट्, नान्तोद्ववस्येति त्रिविक्रम स्ततो नामान्तस्य
नस्यहरः । परमपञ्चेति—परमाश्रतेपञ्च चेति विग्रहः । इहसंख्यायाः प्राधान्यमिति
तदन्तविधिः । प्रियपञ्चेति—प्रियाः पञ्च यस्य सः । गौणत्वात् संख्याया अप्राधान्यमिति
अस्वार्थता । भगवति प्रियपञ्चत्रिग्रहिति—वमसत्वसङ्गहीनस्येति अनोऽरामे हरेतवर्गस्य
चवर्णः । प्रियपञ्चत्रामिति—अस्वार्थत्वान्नुम् । एतच्च काशिका सुपद्मादि सम्पत्म् ।
दीक्षित—दुर्गादासौ तु प्रियपञ्चां प्रियपञ्चानामिति साधयतः । अष्टनः परार्थत्वेष्ट्यात्वमिति—
आरामविधानसूत्रे स्वार्थशब्दाग्रहणात् । नत्वौशिति—औश् विधायक सूत्रे स्वार्थपद-
निवेशात् । भगवति प्रियाष्टत् इति—अत्राप्यनोऽरामहरः । इहतवर्गस्य (नस्य) टवर्ग
युक्तत्वेऽपि न टवर्गत्वम् अन्तरङ्गकार्ये क्रियमाणे वहिरङ्गस्यारामहरस्यासिद्धत्वात् ।
उभयाश्रितत्वेन अरामहरस्य वहिरङ्गता, केवलप्रकृत्याश्रितत्वेन णत्वत्यान्तरङ्गता ज्ञेया ।

अमृतात्—१२६. अनन्त्रिति । सुविनेतरप्रत्ययेषु नन्तपूर्वभिन्नस्यार्वत् शब्दस्य अर्वत्
इत्येवमादेशोभवति । ऋराम इति नुर्मर्थः । प्रत्ययेत्विति व्याख्यानात् तद्वितेऽपिस्यादेवा-
देशः, आर्वतमित्यादि प्रयोगसिद्धौ वामन-वोपदेव-दुर्गसिंहादीनांमतैक्यदर्शनात् । प्रत्यय
इति किम्—समासेमाभूत्; तेन “सहस्रग्रंबं इति नैषधे श्रीहर्षः ।

अमृतात्—१२७. नवर्जेति । वर्वगस्थस्य नस्य ररामादेहत्तरं प्राप्त णत्वं न स्यात् ।
तवगन्तो यो नराम स्तत्र स्थितस्य नरामस्य स्यादेवण्टवं क्षुण्णमित्यादौ । अर्वन् शब्दो

बाल०—तस्मात् । तस्मादरामात् परयोर्जसुशसोः स्थाने स्वार्थं औश् भवति ।
शिदित सर्वदिशः । परमपञ्चेति परमाश्रते पश्च चेति विग्रहः । एवं परमाष्टविति प्रिय-
पञ्चेति प्रियाः पञ्च यस्येति विग्रहः । अष्टन इति परार्थत्वेष्ट्यात्वं वेति आरामविधानसूत्रे
स्वार्थशब्दोपादानाभावादिति शेषः । न त्वौशिति औश् विधानसूत्रे स्वार्थशब्दोपादाना-
दिति शेषः ॥१२५॥

बाल०—अनन्त् । सुविना विष्णुभक्तिषु परासु अनन्तपूर्वस्य अर्वन् शब्दस्य स्थाने
अर्वत् भवति ॥१२६॥

न ग्रं पूर्वस्य तु अनर्वा अनर्वाणौ । कृष्णगुप्त तस्य पुंसि—कृष्णगुप्त
कृष्णगुव् कृष्णगुपौ । मान्तः प्रशाम् तस्य पुंसि—

१२८. धातोर्मो नो विष्णुपदान्ते भवयोश्च ।

अत्र फलि चेति तस्यां भ्रमः, संगस्यत इत्यादौ विधानवलान्नरामस्यैव
स्थितिः स्यात् । प्रशान् । प्रशानो नस्य चादाविति ज्ञापकान्नस्य हरो
नस्यात् । प्रशामौ प्रशामः । प्रशान्भ्याम् । चतुर् नित्यं वहृवचनान्त
स्तस्य पुंसि—

घोटकवाची । कृष्णं गोपायति रक्षतीति कृष्णगुप्त श्रीनन्दादिः । प्रशामिति—शमु उपरमे
धातोः विष्णुपदान्ते इत्यादिः । विष्णुपदान्ते विषये मवयोश्च परयो धातो मरामस्य

अमृतां—१२८. धातोरिति । विष्णुपदान्ते विषये मवयोश्च परयो धातो मरामस्य
नरामादेशः स्यात् । विष्णुपदान्ते इति किम्—प्रशामौ । मवयो यथा—जङ्गन्मि, जङ्गन्वः
कृति च कवसौ—जगन्वान् । मवयोः किम्—प्रशाम्यति । धातोरिति किम्—इदम् किम् ।
एवं तमु दमु धातोः प्रताम् प्रदामौ । तस्यां भ्रम इति सर्वेषाममतत्वात् । अत्रदोषमपि
दर्शयति—संगंस्यत इत्यादाविति । सम्पूर्वात् गम्लृ धातोः कल्कौ स्यते प्रत्ययान्तं पद-
मेतत् । अविष्णु पदान्तस्येत्यादिना मरामस्य विष्णुचक्रम् । प्रकपेण शाम्यतीति प्रशान्
भगवद्वाची ।

ननु प्रशानित्यत्र नामान्तस्येत्यादिना नस्य हरः कथं न स्यात् तत्रसिद्धान्तयति—
प्रशान् इत्यादि । प्रशानो नस्य चादौ हरिवेणुरिति सन्धिसूत्रम्—प्रशाम् शब्दस्य विष्णु-
पदान्ते विहित-नरामस्य हरभावं ज्ञापयति, अन्यथा नरामासदभावे विधानवैफल्यं स्यात् ।
वस्तुत आदेशः स्थानिवत् कवचिदित्यादौ वर्णनांतदव्यक्तिवदभावो यत्रमंस्यते तत्रैवेति
न्यायादिहैव (मराम) स्थानिवत्वस्य न्याय्यत्वाद् विधानसामर्थ्यात् नरामहरो न स्यात् ।

न च वाच्यं—मरामहरस्य लक्षणविधानाभावात्तल्लोप प्राप्त्यर्थं मेव नरामविधान-
मिति । विष्णुपदान्ते मरामहरस्य पृथग् विधाने कृतेहि तत्रसिद्धेः नरामं विधाय
तुनस्तल्लोपस्य प्रक्रियागौरवात् । “नत्वस्यासिद्धत्वान्न नकार लोपः” इति काशिका च ।
प्रशान्भ्यामित्यादौ पदान्तत्वान्नविष्णुचक्र-हरिवेणु ।

बाल०—नवर्ज । सुगमम् ॥१२७॥

बाल०—धातोः । विष्णुपदान्ते विषये मवयोश्च परयोः । अत्रेति ज्ञलि चेति तस्य
प्रक्रियाकौमुद्यां भ्रमः सर्वेषाममतम् । दोषमप्याह संगस्यत इत्यादाविति विधानवलान्न
विधानसामर्थ्यात् । गंस्यत इति गम्लृ सृप्लृ गतौ कन्किस्यते अविष्णुपदान्तस्येत्यादिना
नामस्य विष्णुचक्रम् । यद्यत्र नरामः स्यात्, तदा तस्यैव स्थितिः स्यात् अन्यथा ज्ञली
तद्विधानमनर्थकं भवतीति प्रशान्भ्यामित्यादीनां प्रक्रियाकौमुदीमतेऽपि विष्णुपदत्वेनै
सिद्धिरिति ज्ञेयम् । ननु प्रशानित्यत्र नामान्तस्येत्यादिना नस्य हरः कस्मान्त भवती

१२८. चतुरन्दुहोराम् कृष्णस्थाने बुद्धेत्वम् ।

मइत् । चत्वारः चतुरः । विष्णुसर्गं कृते पुनाररामः—चतुर्भिः चतुर्भ्यः ।

रघणान्तेति नुट् चतुर्णामि ।

१३०. ररामस्य नविष्णुसर्गः सुपि ।

चतुर्षु । प्रियचतुर्—प्रियचत्वारौ प्रियचत्वारः । अस्वार्थादामि न तुट् प्रियचतुराम्, हेप्रियचत्वः । हल् शब्दस्य सुपि हल्षु । अभ्रतीति किवपि अभ्र् शब्दात् सौ सतसङ्गान्त हरे अप् अव् । यणः प्रतिषेधो वाच्य इति तस्यां कल्पितम् ।

दैत्यवृश्चमाद्दटे इति ष्यन्तात् विवप् प्रत्ययः । दैत्यव् दैत्यवौ ।

अमृताऽ—१२८. चतुरिति । कृष्णस्थाने चतुर् अनंदुह् शब्दयोः आमागमः स्यात् । बुद्धस्य कृष्णस्थानत्वात् तत्राप्यामि प्राप्ते अमिति विशेष विद्यानम् । आमो मरामेत्वात् चतुर् इत्यस्य उरामात् परं स्थितिः । चतुर्भिरित्यादौ सररामयोरिति विष्णुसर्गेकृते, अनीश्वरादपि ररामज इत्यनेन पुनश्च ररामः । शामि—ररामात् सर्वेश्वरे तु हरिगोत्रं विनेतिद्वित्वेचतुर्णामि । अधातुत्वादुकारस्य न दीर्घता ।

अमृताऽ—१३०. ररामस्थेति । सुपि विष्णुभक्तौ स-र-ररामयोरित्यनेन प्राप्तो यो विष्णुसर्गः सतु नस्यात् । चतुर्भिति—ररामात्सर्वेश्वरे तु हरिगोत्रं विनेति निषेधात् पस्य न द्वित्वम् । हेप्रियचत्वरिति—बुद्धेअमृविद्यानात् । बहुवचनात्त्वाच्चतुर्शब्दस्य स्वार्थं तु बुद्धत्वं न सम्भवेदित्यस्वार्थं दर्शितम् । तदन्तविवेरिष्टत्वात् परमत्वा इत्यादि । आमितु नुडेव—परमचतुर्णामिति ।

हल्ष्विति—ईश्वरेत्यादिना पत्वम् । यणः प्रतिषेधो वाच्य इति-सतसङ्गान्यस्य हर इत्यत्र यणः (हरिमित्राणाम्) सतसङ्गान्तत्वे सति लोपस्य निषेध इति मतं प्रक्रियाकौमुद्यां स्वकल्पितम्, कुत्रायेवमदर्शनादिति भावः । अभ्रताति—मेघवाची अभ्रशब्दः । तस्मात् यद्वाचरतीत्यर्थं क्यडः किवप्; अराम हरोरामधातुके, पुनः कृत् किवपि अभ्र् शब्दो-निष्पन्नः । दैत्यविर्ति—अनेकसर्वेश्वरस्य संसार हर इतिणौ संसारहरे—दैत्यविद्यातोः किवप् । ततो जेहंरे किवपो लोपेच दैत्यव् । विरामे न हरिकमलं, विष्णुदासत्वाभावा-दन्तस्थवस्य ।

चेतत्राह प्राशान इति यद्यत्र नस्य हरः स्यात्तदा प्रशानो नस्य चादौ हरिवेणुरिति सूत्र-भन्धकं स्यात्स्मान्नात्र नस्य हरः ॥१२८॥

बाल०—पुनरराम इति अनीश्वरादपि ररामज इत्यनेन ॥१२८॥

बाल०—ररामस्य । सुपि परे हल्ष्विति । ईश्वर-हरिमित्रेत्यादिना पत्वम् । यत इति यलो हरिमित्रस्य लुक् प्रतिषेधो वाच्य इति अभ्रशब्दस्य ररामहरो न भवतीति तु मतं तस्यां कल्पितमेव, नतु पूर्वाचार्यस्य सम्मतम् । दैत्येति अनेकसर्वेश्वरस्य संसारहर

न वृत्तस्य तु अनर्वा अनवर्णौ । कृष्णगुप्त तस्य पुंसि—कृष्णगुप्त
कृष्णगुवृ कृष्णगुपौ । मान्तः प्रशाम् तस्य पुंसि—

१२८. धातोर्मो नो विष्णुपदान्ते भवयोश्च ।

अत्र फलि चेति तस्यां भ्रमः, संगस्यत इत्यादौ विधानवलान्नरामस्यैव
स्थितिः स्यात् । प्रशान् । प्रशानो नस्य चादाविति ज्ञापकान्नस्य हरो
नस्यात् । प्रशामौ प्रशामः । प्रशान्म्याम् । चतुर् नित्यं वहुवचनान्तं
स्तस्य पुंसि—

घोटकवाची । कृष्णं गोपायति रक्षतीति कृष्णगुप्त श्रीनन्दादिः । प्रशामिति—शमु उपरमे
धातोः विष्णुपदान्ते हरिवेण्वन्तोद्वस्येत्यादिना त्रिविक्रमः ।

अमृता०—१२८. धातोरिति । विष्णुपदान्ते विषये मवयोश्च परयो धर्तो मरामस्य
नरामादेशः स्यात् । विष्णुपदान्ते इति किम्—प्रशामौ । मवयो यंथा—जड़गन्मि, जड़न्वः
कृति च कवसौ—जगन्वान् । मवयोः किम्—प्रशाम्यति । धातोरिति किम्—इदम् किम् ।
एवं तमु दमु धात्वोः प्रताम् प्रदामौ । तस्यां भ्रम इति सर्वेषाममतत्वात् । अत्रदोषमपि
दर्शयति—संगस्यत इत्यादाविति । सम्पूर्वति गम्लृ धातोः कल्कौ स्यते प्रत्ययान्तं पद-
मेतत् । अविष्णु पदान्तस्येत्यादिना मरामस्य विष्णुचक्रम् । प्रकपेण शाम्यतीति प्रशान्
भगवद्वाची ।

ननु प्रशानित्यत्र नामान्तस्येत्यादिना नस्य हरः कथं न स्यात् तत्रसिद्धान्तयति—
प्रशान् इत्यादि । प्रशानो नस्य चादौ हरिवेणुरिति सन्धिसूत्रम्—प्रशाम् शब्दस्य विष्णु-
पदान्ते विहित-नरामस्य हराभावं ज्ञापयति, अन्यथा नरामासदभावे विधानवैफल्यं स्यात् ।
वस्तुत आदेशः स्थानिवत् कवचिदित्यादौ वर्णनांतद्व्यक्तिवदभावो यत्रमंस्यते तत्रैवेति
न्यायादिहैव (मराम) स्थानिवत्वस्य न्याय्यत्वाद् विधानसामर्थ्याच्च नरामहरो न स्यात् ।

न च वाच्यं—मरामहरस्य लक्षणविधानाभावात्तल्लोप प्राप्तचर्थं मेव नरामविधान-
मिति । विष्णुपदान्ते मरामहरस्य पृथग्विधाने कृतेहि तत्रसिद्धेः नराम विधाय
तुनस्तल्लोपस्य प्रक्रियागौरवात् । “नत्वस्यासिद्धत्वान्न नकार लोपः” इति काशिका च ।
प्रशान्म्यामित्यादौ पदान्तत्वान्नविष्णुचक्र-हरिवेणु ।

बाल०—नवर्ज । सुगमम् ॥१२७॥

बाल०—धातोः । विष्णुपदान्ते विषये मवयोश्च परयोः । अत्रेति ज्ञलि चेति तस्यां
प्रक्रियाकौमुदीं भ्रमः सर्वेषाममतम् । दोषमध्याह संगस्यत इत्यादाविति विधानवलात्
विधानसामर्थ्यति । गंस्यत इति गम्लृ सृप्लृ गतौ कन्त्रकिस्यते अविष्णुपदान्तस्येत्यादि-
नामस्य विष्णुचक्रम् । यद्यत्र नरामः स्यात्, तदा तस्यैव स्थितिः स्यात् अन्यथा ज्ञलीति
तद्विधानमनर्थकं भवतीति प्रशान्म्यामित्यादीनां प्रक्रियाकौमुदीमतेऽपि विष्णुपदवेनैव
सिद्धिरिति द्येयम् । ननु प्रशानित्यत्र नामान्तस्येत्यादिना नस्य हरः कस्मान्त भवतीति

१२८. चतुरनदुहोराम् कृष्णस्थाने बुद्धेत्वम् ।

मइत् । चत्वारः चतुरः । विष्णुसर्गे कृते पुनाररामः—चतुर्भिः चतुर्भ्यः ।
रघणान्तेति नुट् चतुर्णाम् ।

१३०. ररामस्य नविष्णुसर्गः सुषि ।

चतुर्षु । प्रियचतुर्—प्रियचत्वारौ प्रियचत्वारः । अस्वार्थादामि न नुट्
प्रियचतुराम्, हेप्रियचत्वः । हल् शब्दस्य सुषि हल्षु । अभ्रतीति किवपि
अभ्रे शब्दात् सौ सतसङ्गान्त हरे अप् अव् । यणः प्रतिषेधो वाच्य इति
तस्यां कल्पितम् ।

दैत्यघृश्चमाचर्ष्टे इति व्यन्तात् विवप् प्रत्ययः । दैत्यव् दैत्यवौ ।

अमृतां—१२८. चतुरिति । कृष्णस्थाने चतुर् अनदुह् शब्दयोः आमागमः स्यात् ।
बुद्धस्य कृष्णस्थानत्वात् तत्राप्यामि प्राप्ते अभिति विशेष विद्यानम् । आमो मरामेत्वात्
चतुर् इत्यस्य उरामात् परं स्थितिः । चतुर्भिरित्यादौ सररामयोरिति विष्णुसर्गेन्कृते,
अनीश्वरादपि ररामज इत्यनेन पुनश्च ररामः । शामि—ररामात् सर्वेश्वरे तु हरिगोत्रं
विनेतिद्वित्वेचतुर्णाम् । अधातुत्वादुकारस्य न दीर्घता ।

अमृतां—१३०. ररामस्येति । सुषि विष्णुभक्तौ स-र-ररामयोरित्यनेन प्राप्तो यो
विष्णुसर्गः सतु नस्यात् । चतुर्ष्विति—ररामात् सर्वेश्वरे तु हरिगोत्रं विनेति निषेधात् पस्य
न द्वित्वम् । हेप्रिपचत्वरिति—बुद्धेअभ्रविद्यानात् । बहुवचनातत्वाच्चतुरशब्दस्य स्वार्थं तु
बुद्धत्वं न सम्भवेदित्यस्वार्थं दर्शितम् । तदन्तविधेरिष्टत्वात् परमचत्वा इत्यादि । आमितु
नुडेव—परमचतुर्णामिति ।

हल्ष्विति—ईश्वरेत्यादिना पत्वम् । यणः प्रतिषेधो वाच्य इति-सतसङ्गान्यस्य हर
इत्यत्र यणः (हरिमित्राणाम्) सतसङ्गान्तत्वे सति लोपस्य निषेध इति मतं प्रक्रियाकौमुद्यां
स्वकल्पितम्, कुत्रायेवमदर्शनादिति भावः । अभ्रतांति—मेघवाची अभ्रशब्दः । तस्मात्
यद्वाचरतीत्यर्थं क्यडः: किवप्; अराम हरोरामधातुके, पुनः कृत् किवपि अभ्रे शब्दो-
निष्पन्नः । दैत्यविर्वाति—अनेकसर्वेश्वरस्य संसार हर इतिणी संसारहरे—दैत्यविधातोः
किवप् । ततो ऐर्हेरे क्विपो लोपेच दैत्यव् । विरामे न हरिकमलं, विष्णुदासत्वाभावा-
दन्तस्थवस्य ।

चेतत्राह प्राशान इति यद्यत्र नस्य हरः स्यात्तदा प्रशानो नस्य चादौ हरिवेणुरिति सूत्र-
मनर्थकं स्यात्तस्मान्नात्र नस्य हरः ॥१२८॥

बाल०—पुनरराम इति अनीश्वरादपि ररामज इत्यनेन ॥१२८॥

बाल०—ररामस्य । सुषि परे हल्ष्विति । ईश्वर-हरिमित्रेत्यादिना पत्वम् । यत्
इति यतो हरिमित्रस्य लुक् प्रतिषेधो वाच्य इति अभ्रशब्दस्य ररामहरो न भवतीति तु
मतं तस्यां कल्पितमेव, नतु पूर्वाचार्यस्य सम्मतम् । दैत्येति अनेकसर्वेश्वरस्य संसारहर

१३१. यवयो विष्णुपदान्तयोर्हरो गोपाले ।

नवयो हरं इति दैत्यभ्यां दैत्यभिः दैत्यवृषु ।

१३२. सर्वेश्वरे तु विकल्पः; हरेसति पुनर्न सन्धिश्च ।

दैत्यआयाति दैत्यवायाति । प्रच्छधातोः क्रिववन्तः शरामान्तः कृष्ण-
प्राश् । कृष्णप्राट् कृष्णप्राशौ कृष्णप्राच्छावित्येके । एवं वाऽन्तेवान्तश् ।
हरविधेनित्यत्वात् वान्, वांशौ वांशः । वाऽन्तावित्येके । कृष्णस्पृश्,
कृष्णस्पृक् कृष्णस्पृशौ ।

उदकपूर्वत्वेतु—उदकस्पृट् । षरामान्तो दधृष् । दधृक् दधृशौ । कंस-
द्विष् । षस्यडः, कंसद्विट् कंसद्विड् कंसद्विषौ ।

षष् नित्यंवहुवचनान्तः । षणान्तेति,—षट् षट् षड् षड्भिः षड्भ्यः ।
रषणान्तेति नुट्, षस्यडः ।

अमृताऽ—१३१. यवयोरिति । गोपालेपरे विष्णुपदान्तस्थितयोर्यंरामवरामयोर्हरः
स्यात् । विष्णु पदान्तयोरिति किम्—अय्यते मव्यते । नवयोर्हरं इति कृष्णसंज्ञा न
वाच्येति शेषः । तेन दैत्यभ्यामित्यादौ न त्रिविक्रमः । दैत्यवृष्विति हरिमित्रात् पत्वम् ।
गोपालपरत्वाभावान्नहि वलोपः ।

अमृताऽ—१३२. सर्वेश्वर इति । सर्वेश्वरे परेतु विष्णुपदान्तयो यवयो हरो वा
भवति, हरपक्षे सन्धि निषेधश्च भवति । कृष्णप्राशिति—प्रच्छधातोः क्रिप् प्रच्छादीनां
त्रिविक्रमः, छस्यशो वस्य ऊठित्यादिना छस्य शत्वे कृष्णप्राश् शब्दः । सौ कृष्णप्राडिति—
छशोराजेत्यादिना शस्य षः, ततः षस्य डोविष्णु पदान्त इति षस्य डः, पक्षे हरिकमलच्च
कृष्णप्राट् । एवंविश् प्रभृतिः । वानशिति—वाञ्छिइच्छायाम् धातोः क्रिप् । इरामेद्वातो
नुम्, छस्यशोवस्य ऊठित्यादिना छरामस्य शरामः । हर विधेनित्यत्वादिति—वानश्-
शब्दस्य शरामस्य छशो रित्यादिना पत्वे कृते न कृतेच सत्सङ्गान्तस्य हरो भवत्येवेति तस्य
नित्यता । कृष्णस्पृगिति—सञ्जदिशित्यादिना शस्य कः । एवं दधृक् । षणान्तेति—
जस्शसो मंहाहर इतिशेषः ।

इत्यनेन संसारहरः । दैत्यवित्यत्र वरामस्य विष्णुदासत्वाभावात् पक्षे हरिकमलत्वाभाव
इति ॥१३०॥

बाल०—यव । सुगमम् । यवयोर्हर इतीति । यवयोर्हरे कृष्णसंज्ञा न वाच्येति दैत्य-
भ्यामित्यादौ न त्रिविक्रमादि । दैत्यवृष्विति ईश्वर-हरिमित्रेत्यादिना पत्वम् ॥१३१॥

बाल०—सर्वे । विष्णुपदान्तयोर्यवयोः सर्वेश्वरे तु परे हरो भवति । हरे कृष्ण-
प्राशिति प्रच्छधातोः क्रिप् प्रच्छादीनां त्रिविक्रमो न च सङ्कर्षण इति त्रिविक्रमं सङ्कर्षण-
निषेधश्च । 'छस्य शो वस्य उट् हरिवेणौ क्वौ कंसारि वैष्णवे च' इति छस्य शः ।

१३३. नित्यं हरिवेणुविधिः प्रत्ययहरिवेणौ ।

मयद्येवेति तस्यां भ्रमः ।

१३४. षात् परस्य टवर्ग्युक्तस्य च तवर्गस्य टवर्गः, नतु विष्णु-
पदान्तादृवर्गादिनाम-नवति-नगरीणाम् ।

तेननामष्टवर्गत्वं—षणां षट् सु । नवति-नगर्योष्टवर्गत्वम् षणदति
षड् णवति; षणगर्यः षड् णगर्यः ।

अमृतां—१३३. नित्यमिति । प्रत्ययहरिवेणौ परे हरिवेणुविधि नित्यंभवति ।
हरिवेणौ हरिवेणु वेत्यनेन विकल्पे प्राप्ते नित्यतार्थमिदम् । अनेन डरामस्य णरामः ।
तस्यां भ्रमइति—मयटि प्रत्यये एव नित्यत्वविधानेन सुपिअव्यातेरत्र षड् णामिति
पाक्षिकतायां दोष इत्याशयः ।

अमृतां—१३४. पातपरस्येति । षात् परस्य तवर्गस्य, टवर्ग्युक्तस्य च तवर्गस्य
टवर्गोभवति । विष्णुपदान्तादुत्तरस्य नाम-नवति-नगरीभिन्नस्य तु तवर्गस्य टवर्गो न
भवति । नामिति नुटासहामो निर्देशः । तेनविष्णुपदान्ते नामादिवर्जस्यैव निषेधात् तेषां
तु टवर्गत्वं स्यादेव । तत्र षातपरस्य तवर्गस्य टवर्गोयथा—पेष्टा कृष्ण इत्यादि । टवर्ग-
युक्तस्य यथा—अड्डति, कंसजिट्रीकर्ते, अग्निचिद्गीनः, चक्रिष्टौकर्क्षे इत्यादि । विष्णु
पदान्तादृवर्गत्तु नानादि त्रयाणामेव टवर्गत्वं नान्येषाम् । षणमिति—पस्य डत्वे, टवर्ग-
युक्तस्य नामो नस्य णत्वे च नित्यं हरि वेणुविधिरिति पूर्वं डरामस्य णत्वम् । नवति-नगर्योः
प्रत्ययत्वाभावाद् विभाषयैव हतिवेणुविधिः । षणनरः षट् नर इति—षट् च ते नरश्चेति
श्यामरामः । नर इति नृशब्दस्य जसो रूपम् । विष्णु पदान्तत्वात् नामादिभिन्नत्वाच्च
नरइत्यत्र न णत्वम् । प्रत्ययाभावान्नापि नित्यं हरिवेणुविधिः । अत्र षणनरः स्थले षणनव
षड् नवेति पाठश्च क्वचित्; तदा षड् गुणिता नव षणनवेति विग्रहः ।

कृष्णप्राडिति छशोराजे'त्यादिना शस्य षः, 'पस्य ड' इत्यादिना पस्य डः 'विष्णुदासे'
त्यादिना डस्य टः । वानूशिति वाठि इच्छयोः इरामेत्यान्नुम् 'छस्य श' इत्यादिना छस्य
शः । वानिति 'छशोराजे'त्यादिना शस्य षे कृतेष्पि पस्य हरो भवतीति षविधानात् पूर्वमेव
'सतसङ्गान्तस्ये'त्यादिना शस्य हरो भवति । कृष्णस्पृगिति 'स्त्रज् दिश् दृशे'त्यादिना शस्य
कः । दधृगित्यत्रापि तेनैव पस्य कः । 'वनान्ते'ति जस्-शसोर्महाहरः ॥१३२॥

बाल०—नित्यम् । प्रत्ययहरिवेणौ परे हरिवेणुविधिनित्यं भवति । 'हरिवेणौ
हरिवेणुर्वे'त्यनेन विकल्पे प्राप्ते नित्यतार्थं सूत्रमिदम् । अत्रानेन डरामस्य णरामः ॥१३३॥

बाल०—षात् परस्य । षात् परस्य तवर्गस्य टवर्गं भूतस्य तवर्गस्य च स्थाने टवर्गो
भवति । न तु । विष्णुपदान्तादृवर्गति परस्य नाम-नथति नगरीभिन्नानां तवर्गस्य टवर्गो
न भवति । तेनेति नसहित आम् नाम् तस्य नामः । षणव इति नाम-नवति-नगरीभिन्न-
त्वान्त टवर्गत्वम् । ननु यद्यत्र टवर्ग्युक्तस्येति कृतं, तर्हि कंसजिट्रीकर्त इत्सादीनि

नेह—षण्नरः षड्नरः । दतौ परवर्णं इत्यादीनि तु सन्धिमात्रं सुखोधाय-
पृथगुक्तानि । नतुविष्णुपदेत्यादौ विष्णुपदान्तग्रहणं प.लं घट्टिरित्यादौ
दर्शयिष्यते । अस्वार्थत्वात् प्रियषषः प्रियषषाम् सजुष् ।

१३५. सजुष् आशिष् इत्यनयोरिसुसन्तधातोश्चरो विष्णुपदान्ते,
तस्य विष्णुसर्गश्च सुषि ।

धातुग्रहणफलं समासकार्यं सषविधाने सर्पिष्काम्यतीत्यत्र वक्ष्यते ।

ननु पातपरस्येत्यादि लक्षणेनैव सिद्धेः कथं मन्धौ कंसजिटीकते चक्रिण्डौकसे
इत्यादि सिद्धये दतौपरवर्णौ इत्यादि लक्षणप्रपञ्च इतिचेत्तत्राह—दताविति । आदिशब्देन—
“डढणेषु णरामः”, “प्रशानोनस्य चादौ हरिवेणु” रित्येतयोग्रहणम् । उक्त लक्षणत्रयं
प्रथमतः सुकोमलभतीनां विद्यार्थिनां सन्धिमात्रं सुखोधाय तत्रपृथगुक्तं, वस्तुतस्तु तत्सर्व-
मनेनैव सिद्धतीत्यर्थः । घट्टिरिति—घट चेष्टायांधातोः—“क्तिलक्ष्म्यां भाव” इति
क्तिप्रत्ययः । सूत्रे विष्णुपदान्तादेव टवर्गति तवर्गस्य टवर्गत्वं निषेधेन इहाविष्णुपदान्तात्
टवर्गत्वमित्यर्थः । अस्वार्थत्वादिति—प्रिया: पट् येषां ते प्रियषषः, गौणत्वान्नं जस-शसो-
र्महाहरः । एवंमामि रघणान्तेत्यनेन नुट् च न । सजुषिति—जुष प्रीतिसेवनयो धातोः
क्विपि जुष्, ततो जुषा सह वर्तत इति सजुष् ।

अमृतात्—१३५. सजुषिति । विष्णुपदान्ते सजुष् आशिष् शब्दयो स्तथा इसुसन्त-
धातोश्चान्तवर्णं स्थाने रःस्यात् । सजुषाशिषोर्धातुत्वेऽपि मूर्द्धण्यान्तत्वात् पृथगुक्तिः । तस्य
ररामस्य सुषि परे विष्णुसर्गश्च स्यात् । ररामस्य न विष्णुसर्गः सुषीति निषेधे प्राप्तेऽप्यं
विधिः । तत्र सहजररामस्येवं विष्णुसर्गं निषेधः चतुर्षु प्रभृतिषु । कृत्रिमत्वादिह तु
स्यादेवेतिभावः । सजुषाशिषोः पस्य डो विष्णुपदान्त इतिप्राप्ते तदपवादार्थं रविधानम्,
इसुसन्तधातोस्मृद्धवस्य त्रिविक्रमार्थं ज्ञेयम् । सर्पिष्काम्यतीति—सर्पिरच्छतीत्यर्थं काम्य-
प्रत्ययः । उक्तार्थानामित्यादि न्यायेन इच्छतेरप्रयोगः, ततः सर्पिस्काम्य इतिस्थिते
विष्णुपदान्तत्वात् सरामस्य ररामः स्याद् यद्यत्रसूत्रे धातु ग्रहणं कियेत । इह तु सरामस्य
विष्णुसर्गं स्तस्युपुनः “काम्ये तु न-ररामजविष्णुसर्गं विनेति परामः । सनादन्तानाच्च
धातुत्वात् तिप् शवादयः ।

प्रशाण्टीकत इत्यादीनि गरुत्मण्डयसे चक्रिण्डौकस इत्यादीनि चानेनैव सिद्धयन्ति, तत्
किमर्थं तत्रसिद्धयर्थं सन्धिप्रकरणे लक्षणं कृतमिति चेत्तत्राह दताविति । टवर्गं परे दतौ
परवर्णाविति । टठे परे प्रशानो नरामस्य हरिवेणुरिति । डढणेषु णराम इति लक्षणञ्च
सन्धिमात्रसुखोधाय पृथगुक्तम् । वस्तुतस्तु अनेनैव सिद्धयन्तीति । न त्विति । न तु विष्णु-
पदान्ताट्वर्गदिनाम-नवति-नगरीणामिति सूत्रे । घट्टिरिति घट चेष्टायाम् । ‘क्तिलक्ष्म्यां
भाव’ इति क्तिः । यदि विष्णुपदान्तादिति न कृतं स्वात्तदात्रापि टवर्गो न स्यादिति ।
प्रियषष् इति प्रिया पट् येषां ते इति अस्वार्थत्वात् षणान्तेत्यादिना न जसशसोर्महाहरः ।
प्रियदपामिति अस्वार्थत्वात् रघणान्तेत्यादिना न नुट् ॥१३४॥

१३६. इरुन्तधातोरुद्धवस्य त्रिविक्रमो विष्णुपदान्ते ।

सज्जः सज्जुषौ सज्जभ्यामि सज्जःषु, शौरित्वं सज्जःषु । सनन्तधातोः क्रिवप्,—
पिपठिष् । विष्णुपदान्तत्वान्निमित्तत्वं निवृत्तेः पत्वापायः । पिपठीः
पिपठीभ्यामि पिपठीःषु ।
एवं विश्वचिकीर्ष् । रात्सस्यैवेति—विश्वचिकीः विश्वचिकीर्षौ विश्व-
चिकीभ्यामि विश्वचिकीर्षु ।

अमृता०—१३६. इरुन्तेति । विष्णुपदान्ते विषये इरुन्तधातोरुद्धवस्य त्रिविक्रमः
स्यात् । न धातोरवप्रागिदुतोरित्यादिना इरुद्धवस्य यस्त्रिविक्रमो विहितस्तेनैवेष्टसिद्धः
किमनेनेति वाच्यम्; विष्णुजन सामान्यनिमित्तग्रहणादपदान्तं एवासौ त्रिविक्रमइष्टः, इह
तुपदान्तं एवेति विशेषः । किञ्च सौ सज्जः पिपठीः प्रभृति स्थले ह्यस्य सम्यक् चरितार्थता,
एवमादिस्थले तस्याविषयत्वात् । सनन्तधातोरिति—पठितुमिच्छतीति वाक्ये सनन्त
पिपठिष धातोः क्रिवपि अरामहरे पिपठिष् शब्दः । तदाअविष्णुपदान्तत्वादीश्वरहरिमित्रे-
त्यादिना सनः सरामस्य पत्वं जातम् । अथ विष्णुपदान्ते तनिमितापायात् नैमित्तिकस्य
पत्वस्यापाये पुनः सरामः, ततश्च रविधानं त्रिविक्रमश्च पिपठीः ।

विश्वचिकीर्ष्—अयच्च शब्दः सनन्त विश्वचिकीर्ष् धातोः क्रिवपि सिद्धः । इहापि
विष्णुपदान्तत्वेन पत्वापायात् विश्वचिकीर्ष् इति पूर्ववत्; सौरात्सस्यैवेति सस्य हरः ।
ततो यावत्सम्भव स्तावद्विधिरिति न्यायेन धातो रवप्रागिदुतो रित्यादिना भूतपूर्वस्य
त्रिविक्रमस्यापायः, विष्णुजनरूप निमित्तापायात् । पुनरिरुन्तधातो रित्युद्धवस्य त्रिविक्रमो
ररामस्यविष्णुसर्गश्च—विश्वचिकीः ।

बाल०—सज्जुष् । एकवर्णो विधिरन्ते प्रवर्तते इति अन्ते ररामो भवतीति । तस्य ।
तस्य ररामस्य स्थाने सुपि परे विष्णुसर्गः स्यात् । ररामस्य न विष्णुसर्गः, सु-पीत्यनेन
प्रतिषेधे प्राप्ते विधानम् । सर्पिष्काम्यतीति सर्पिरिच्छतीत्यर्थं काम्यप्रत्यये कृते उक्तार्थ-
नामप्रयोग इति न्यायेन इच्छतेरप्रयोगः । अन्तरङ्गेत्यादिना अमो महाहरः, ततः
सर्पिष्काम्य इति स्थिते विष्णुपदान्तत्वात् सरामस्य ररामे प्राप्ते धातुग्रहणात् न तत्
प्राप्तिस्ततः सरामस्य विष्णुसर्गः, काम्ये तु न ररामजविष्णुसर्गं विनेत्यनेन विष्णुसर्गस्य
परामः । ततो धातुसञ्जत्वात् तिप् शप् ॥१३५॥

बाल०—इरुन्त । शौरित्वमिति ‘शौरिषु शौरिवे’त्यनेन । सनन्तेति सनन्तधातोः
पिपठिषः क्रिवन्तः पिपठिष शब्द इति । विष्णिति निमित्तत्वमविष्णुपदान्तत्वम् । विश्व-
चिकीरिति विष्णुपदान्तत्वात् पत्वापायः, रात्सस्यैवेति सर्वसञ्जान्तस्य सस्य हरः,
इरुन्तेन त्रिविक्रमः, ररामस्य विष्णुसर्गः । विश्वचिकीर्षिति ररामस्य न विष्णुसर्गः
सुपीत्यनेन विष्णुसर्गनिषेधः ॥१३६॥

१३७. सहजस्य मूर्द्धन्यजातकरामसम्बन्धिनश्च क्षरामस्य सत्-
संगादिहरे डः अन्यस्य तु को वक्तव्यः, दिशिदृश्यनुदक
पूर्वस्पृशि जातस्य च ।

तत्र सहजे गोरक्षः । गोरट् गोरड् गोरक्षौ गोरक्षः । गोरड्भ्याम् गोरट्सु ।

१३८. रक्षे वर्त क इति केचित् ।

गोरक्षः । मूर्द्धन्यजे विश्विष्ट्लृ धात्वोः सनि विविक्ष—विविट् विविड्
विविक्षौ विविक्षः । वह धातोर्वोद्गमिच्छति विवक्ष—विवट् विवट्
विवक्षौ विवक्षः । अन्यस्य तु—वच धातो विवक्ष—विवक् विवग्
विवक्षौ । दहधातो दिधक्ष—दिधक् दिधग् दिधक्षौ दिधक्षः । दिश्या-
दीनाम् दिदिक् दिट्क् पिस्पृक् । मन्यन्ते च तदिदं पाणिनीयाः ।

अमृता०—१३७. सहजस्येति । सहजस्य स्वाभाविकस्य क्षरामस्य, मूर्द्धन्य वर्णजात
करामसम्बन्धिनश्च क्षरामस्य सत्सङ्गादिहरे सति शेषस्व परामस्य स्थाने डरामो भवति ।
तदन्यक्षरामस्य तु सत्सङ्गादिहरे परामस्य करामो वाच्यः । दिश्यादिजात क्षरामस्य च
सत्सङ्गादिहरे शेषस्य करामो वक्तव्यः । दिश्यादीनां मूर्द्धन्यजातक्षरामत्वात् डरामेप्राप्ते
करामार्थं पुनर्ग्रहणम् ।

अमृता०—१३८. रक्षेरिति । रक्षे: सत्सङ्गादिहरे शेष परामस्य करामो वा स्या-
दिति केचिदाहुः । पक्षे डरामश्च । अयमत्रविमर्शः—रक्षि तक्षिभ्यां प्यन्ताभ्यां किपि तु
स्कोरिति नप्रवर्त्तते, णिलोपस्य स्थानिवद्भावादित्युक्त्वा केचित् सत्सङ्गान्तलोपं
कुर्वन्ति । केचित् पुनः सहजत्वात् स्कोरित्यादिना सत्सङ्गादिलोपमेव मन्यन्ते । तदे-
तन्मतभेदे केचिद्विकल्पमिच्छन्तीति मतान्तरं दर्शितम् । नात्रस्वमतत्वेन भ्रमितव्यम्,
सहजत्वेनोदाहृतत्वात् ।

विविक्षिति—विश प्रवेशने सनि द्विर्वचनं, छशोरित्यादिना शस्य षः, षढोः कः से
इति षस्य कः । ततः सनः सस्य पत्वं, कषसंयोगेक्षः । एवं विष्ट्लृ व्याप्तिव्यस्यापि ।
विवक्षिति—सनि द्विर्वचने नरारामस्येरामः सनीति नरारामस्य इरामः अन्यत् पूर्ववत् ।
वचधातोर्वक्तुमिच्छतीत्यर्थं विवक्षः चवर्गस्येत्यादिना चस्य कः, पत्वमिति विशेषः ।

बाल०—सहजस्य स्वभावसिद्धस्य मूर्द्धन्यवर्णजातकरामसम्बन्धिनश्च क्षरामस्य
सत्सङ्गादि हरे सति डो भवति । परामस्य स्थाने डो भवतीत्यर्थः । अन्यस्य । अन्यस्य
तु क्षरामस्य सत्सङ्गादि हरे सति को वक्तव्यः । दिशि । दिश्यादि जातस्य क्षरामस्य च
सत्सङ्गादिहरे को वक्तव्यः ॥१३७॥

बाल०—रक्षेर्वेति रक्षधातोः क्षरामस्य सत्सङ्गादि हरे को वा भवतीति
केचिन्मन्यन्ते । मन्मते गोरगित्यपि । विविक्षिति विश प्रवेशने सन् द्विर्वचनं छशोराजे-

कालापास्तु घकार चर्वर्ग स्थानिकादन्यस्य षडादि—स्थानिकस्यापि
कस्य लोपमाहुः । तेन विवीरित्याहुः । पिस् धातोः सरामान्तः सुपिस् ,
तुस्धातोः सुत्रस् । सुपीः सुपिसौ सुपिसः । सुत्रः सुत्रसौ सुत्रेः । षत्वं
सुपीः षु, सुत्रः षु ।

उरुश्वरस् । अत्वसन्तोद्धवस्येति त्रिविक्रमः, उरुश्वराः उरुश्वरसौ उरु-
श्वरसः । उरुश्वरोऽयां उरुश्वरः सु, हे उरुश्वरः । एवंविष्टरश्वरस् वेधस्
इत्यादिः ।* अथ दोष उणादि प्रत्ययान्तः । दोः दोषौ दोषः । दोषम्
दोषो ।

दिधक्षिति—दहभस्मी करणे द्विर्वनादि पूर्ववत्; दादेस्वधातोर्ध इतिहस्य घत्वं, जवर्ज हरि-
गदादे रित्यादिना दस्यधः, यादवमात्रे हरिकमलमिति घस्य क पत्वम् । दिधक्षिति—
दृशिर प्रेक्षण इत्यस्य । नरऋरामस्याराम स्ततो नरारामस्येराम इतिविशेषः । पिस्तुक्षिति
—स्पृश संस्पर्शे इत्यस्य पूर्ववत् । उदकपूर्वत्वेनु—उदकस्पृडिति । एतानि पाणिनि-
सम्मतानि ।

कालापास्तु षडादि स्थानिकस्य—मूर्द्धन्य जातस्येत्यर्थः; अपिकारात् सहजक्षराम-
श्चित्करामस्य च लोपमेवाहुर्नत्वविशिष्टरामस्य डरामादिविधानम् । तेन तन्मते
विवीरिति हि सिध्यति । यथा हि—विष्टलृधातोः सन् किववन्तात् विविक्ष शब्दात् सु;
परामस्थानीयस्य कस्य लोपे निमित्तापायाद् नैमित्तिकस्य पत्वस्यापायः सुलोपः, ततो
विविक्ष इति स्थिते इसुसन्तधातोरिति सस्य रः, इरुरन्तधातोरुद्धवस्य त्रिविक्रमे ररामस्य
विष्णुसर्गः—विवीः । सुष्टु पेषति गच्छति चूर्णयति वेति सुपीः । एवं सुष्टु तोसति
खण्डयतीति सुत्रः । सुपीः ष्वति—सजुषाशीषित्यादिना सस्यरः, इरुरन्तधातोरित्युद्धव-
त्रिविक्रमः, तस्य विष्णुसर्गं श्रु सुपीति ररामस्य विष्णुसर्गः । नुमविष्णुसर्गं व्यवधाने ५ पि पत्वमित्यर्थः । दोरिति—विष्णुपदान्तत्वात् पत्वापाये सस्य
विष्णुसर्गः ।

त्यादिना शस्य पः, षटो कः से इत्यनेन पस्य कः, शत्वं क प संयोगे तु क्षः विष्टलृ
व्याप्तावित्यस्मादपि सन्, द्विर्वचनं, 'षटोः कः से' इति पस्य कः, पत्वम् । विवक्षिति वह
प्रापणे सन् द्विर्वचनं 'नरारामस्येरामः सनी' त्यनेन नरारामस्येरामः । 'हस्य ढ' इत्यादिना
हस्य ढः, 'षटोः कः स' इति ढस्य कः पत्वम् । विविक्षिति वचपरिभाषणे सन्, द्विर्वचनं,
नरारामस्येरामः, चर्वर्गस्येत्यादिना चस्य कः, पत्वम् । दिधक्षिति दह भष्मीकरणे सन्,
द्विर्वचनं नरारामस्येरामः, दादेस्तु डातोर्धः इति हस्य घः, जर्वजहरिगदादेरित्यादिनादस्य
घः, यादवमात्रे हरिकमलमिति घस्य कः, पत्वम् । दिदिगिति दिदिक्षशब्दस्य रूपं
दिदिक्षिति । दिग्ं अतिसर्जने सन्, द्विर्वचनं, छशोराजेत्यादिना शस्य पः, षटोः कः स इति

* एवं चन्द्रमस् प्रचेतस् दिवौकस् दुर्मनस् प्रभृतयो वेधस् शब्दवत् ।

१३८. दोषो दोषन् यदुषु वा ।

वमसत्सङ्गेति अरामहरः । दोषः दोषः, दोषा दोषा दोष्यामि
दोषभ्यामित्यादि ।

पीतं वस्ते परिद्धाति पीतवस् । धातुं विनेति त्रिविक्रमाभावः—
पीतवः पीतवसौ । कंसंहिनस्तीति कंसर्हिस् । अन्तरालपाठाद् विष्णु-
चक्र-विष्णुसर्गयोः सर्वेश्वरत्वं विष्णुजनत्वश्चास्तीति सतसङ्गान्तत्वात्
सस्य हरः । निमित्तापायान्नराम एव । धातु वर्जितेति विशेषणान्नात्र
त्रिविक्रमः । कंसहिन् कंसहिसौ कंसहिनभ्याम् । षत्वविधौ नुमा
विष्णु चक्रमेव गृह्णते, ततो नेह षत्वं-कंसहिनसु ।

वैकुण्ठवस्

अमृता०—१३८. दोष इति । सुगभम् । पीतमिति पीतंवस्त्रमित्यर्थः । वस्ते इति
वसआच्छादने धातुरदादिः । अन्तरालपाठात् मध्ये पाठात् सर्वेश्वर-विष्णुजनयोरिति शेषः ।
सतसङ्गान्तत्वात् सस्यहर इति—विष्णुचक्रस्यात्रविष्णुजनत्व मननात् सतसङ्गान्तस्य सस्य
हर इत्यर्थः । धातुवर्जितेति विशेषात्—नात्त धातुवर्जित जान्तसत्सङ्गेत्यादि लक्षणे इति
शेषः । ननु कंसहिनसु इत्यत्र नुमा व्यवधानेन कस्मात् पत्वं न ल्यादिति चेतत्र समाद-
धाति—पत्वविधावित्यादिना । तत्र नुम शब्देन विष्णुचक्रमेव लक्ष्यत इत्यर्थः अत्रतु
विष्णुपदान्तस्य नुमो विष्णुचक्रत्वाभावान्न पत्वमिति मर्म ।

पस्य कः पत्वम् । दिव्यगिति दिव्यक्ष शब्दस्य रूपं दिव्यक्षिति द्विशिर् प्रेक्षणे सन्, द्विर्वचनं,
नर ऋरामस्य राम इति नरऋरामस्यारामः, नरारामस्येरामः, छशोराजेत्यादिना शस्य
षः, तनः पस्य कः, पत्वम् । पिस्पृगिति पिस्पृक्षशब्दस्य रूपं पिस्पृक्षिति स्पृश संस्पर्शे सन्,
द्विर्वचनं नरऋरामस्यारामः, वरारामस्येरामः, शस्त पः पस्य कः, पत्वं मन्यन्ते चेति
तदिदं मतं पाणिनीयाश्च मन्यन्ते इति । कालापास्त्विति घकारचवर्गं स्थानीयात् ककारा-
दन्यस्य षडादि स्थानीयस्यापि ककारस्य लोपम् आहुः, न तु क्षइत्यस्य संयोगादि लोपे
डकारकारविधानं तेन ते विवीरित्याहुः । विवीरिति विशविष्णुलृधात्वोः सनन्तस्य
विविक्षधातोः क्विवन्तस्य रूपम् अत्र ककारः यकारस्थानीयः । तन्मते कलोपे कृते सनः
सस्य पूर्वं यत् सत्वं विहितं तस्य पदान्तत्वश्चिवृत्तिर्भवति । ततः सस्य रः, ततो दीर्घः
रस्य विसर्गः । पत्वमिति विष्णुसर्गव्यवधाने ईश्वर-हरिमित्रेत्यादिनेति शेषः । दोरिति
विष्णुपदान्तत्वात् पत्वापायः ॥१३८॥

बाल०—दोषो । पीतमिति पीतवस्त्रमित्यर्थः । वस्तु इति वस आच्छादने अदादि ।
अन्तरालेति वर्णक्षमे अंश इति द्वौ सर्वेश्वर-विष्णुजनयोर्मध्ये पठितौ, अत एतयोः सर्वेश्वरत्वं
विष्णुजनत्वश्चास्तीति । अत्र विष्णुचक्रस्य विष्णुजनत्वम् अतः हतसङ्गान्तत्वात् सस्य हर
इति । धात्विति धातुवर्जितेति विशेषणात् नात्त-धातुवर्जित-सान्तसत्सङ्गेत्यादिना नात्र

१४०. ध्वंसुलं सु वस्वनद्दुहां दो विष्णुपदान्ते ।

अत्र ज्ञलि चेति तस्यां भ्रमः; ध्वस्त इत्यादौ दोषश्च । ध्वंसुलं सुधातू । चतुर्भुजानुवन्धत्वं नामावस्थायामेवगृहीतम् अच उपादानात् । तेनात्र न नुम्—वैकुण्ठध्वद् वैकुण्ठध्वत् वैकुण्ठध्वसौ वैकुण्ठध्वदभ्याम् । एवं-वैकुण्ठश्चत् । अत्र वसु प्रत्ययः, विद्वसु । उदित्त्वाच्चतुर्भुजानुवन्धानाश्च नुम्, नान्तेति त्रिविक्रमः, सत्सङ्गान्तहरः—विद्वान् विद्वांसौ विद्वांसः । विद्वांसम् विद्वांसौ ।

अमृतां—१४०. ध्वंसिति । विष्णुपदान्ते ध्वंसादीनामन्तवर्णस्य स्थाने दरामादेशः स्यात् । ध्वंसादि त्रयाणां विष्णुसर्गपिवादः, अनुद्गहस्तु दराम वाधकः । प्रक्रियाकैमुदीमतं दूषयति—ध्वस्त इत्यादौ दोषश्चेति । ध्वन्सुधातो विष्णुनिष्ठा क्तप्रत्यये अनिरामेतामित्यादि वक्ष्यमाण सूत्रेणोद्भवनरामहरः । तरामस्य फलत्वात् (वैष्णवत्वात्) सरामस्य दरामप्रसङ्गः स्यादिति दोषः । ननु वैकुण्ठध्वदिति चतुर्भुजानुवन्धत्वेषि कथं नुमाभावः ? तत्र सङ्गतिमाह—नामावस्थायामेवेति । तत्रच हेतुः—अच उपादानादिति । चतुर्भुजानुवन्धत्वमन्तचु इत्यस्याप्यस्ति तथापि तत्र यत् अच इति पृथग् ग्रहणं कृतं तेन धात्ववस्थायां चतुर्भुजानुवन्धत्वस्य न नुम् प्रसङ्गः किन्तु नामावस्थायामेवेति ज्ञापितमिति विशदः । ननु च विद्वस् शब्दस्यसौ नुमि सति विद्वन् स् इत्यवस्थायां सान्तसत्सङ्गत्वेऽप्युद्धव स्थाने नुमो विद्यमानत्वात् कथमुद्धव त्रिविक्रम इतिचेतु ? सत्यमत्रेदमवधेयम्,—त्रिविक्रम लक्षणस्य वृत्तौ—“धातुर्विजितसान्त सत्सङ्गस्येति” एकवचननिर्देशतः, तथा “सान्तरूपेण यः सत्सङ्गः” इत्यैव व्याख्यानतश्च सत्सङ्गस्य तत्रैकवर्णत्वमभिप्रेतम्, अन्यथा तत्पूर्वस्थस्य सर्वेश्वरस्य उद्धवत्वासम्भवालक्षणे असम्भव नाम दोषआपत्तेत् । तस्मात् सान्तसत्सङ्गेति त्रिविक्रमः, ततो हर विद्धे नित्यत्वात् दराम वाधित्वा सत्सङ्गान्तहरः । वसु प्रत्ययान्ते दविद्धेः सार्थक्यन्तु भ्यामादौ हि शेयम् । नचात्र सत्सङ्गान्तहरे नान्तत्वेन हि त्रिविक्रमे सिद्धे कथमनया कष्टकल्पनया व्याख्ययेति वक्तव्यम्,—कृतसत्सङ्गान्तहर आगम नरामान्तो नान्तत्वेन नहिन्नाहः; नान्ततयैवेष्टसिद्वावपि त्रिविक्रमसूत्रे महच्छब्दस्य पृथगुपादान ज्ञापकादिति प्रागेवमहतु शब्दप्रसंगे प्रपञ्चितमस्ति ।

त्रिविक्रम इति । ननु कंसहिंस्वत्यत्र नुमव्यवधाने पत्वं कथं न स्यादिति चेत्तत्राह पत्वविद्धो न्विति नुम् स्थाने विहितस्य विष्णुचक्रस्यैव व्यवधाने पत्वं भवतीति नात्र पत्वम् । विष्णुपदान्तत्वात् नात्र नस्य विष्णुचक्रम् ॥१३८॥

बाल०—ध्वंसु । विष्णुपदान्ते विषये ध्वंसवादिनाम् अन्तस्य दो भवति । अत्रैति । दोषमव्याह ध्वस्त इत्यादौ दोषश्चेति । ध्वस्त इति ध्वन्सु अधःपतने क्तः । अनिरामेतां विष्णुजनान्तानामुद्धवनरामो हरः कंसारावित्यनेन नरामोहरः । ननु वैकुण्ठध्वदित्यत्र चतुर्भुजानुवन्धत्वात् अच इत्यादिना नुम् कस्मान्नस्यादिति चेत्तत्राह चतुर्भुजानुवन्धत्वमिति हि नामावस्थायां यस्य चतुर्भुजानुवन्धत्वं तस्य नुम् भवति, अस्य तु धात्ववस्थायां

१४१. वसोर्वस्य उर्भगवति ।

वस्येति सारामनिर्देशः । षत्वम्, विदुषः विदुषा दिद्वद्भ्यां विद्वद्भिः । विदुषे हेविद्वन् ।

आदिवस् प्रभृतयः कृतप्रकरणे साधयिष्यन्ते । रूपाणि यथा—आदिवान् आदिवांसौ आदिवांसः । आदिवांसं आदिवांसौ आदुषः । आदुषा आदिवद्भ्याम् । एवं जक्षिवस् । अथ जग्मिवस् । जग्मिवान् जग्मिवांसौ जग्मिवांसः । जग्मिवांसं जग्मिवांसौ । तथा जगन्वस् । जगन्वान् जगन्वांसौ जगन्वांसः । उभयत्रभगवति जग्मुषः इत्यादि । पुंस् ।

१४२. पुंसः पुमसुः कृष्णस्थाने ।

अत्र च सुटीति तस्यां भ्रमः; गौणत्वे ब्रह्मणि दोषश्च । उराम इत् । पुमान् पुमांसौ पुमांसः । पुमांसं पुमांसौ पुंसः । पुंसा पुंभ्यां पुभ्याम् ।

अमृताऽ—१४१. वसोरिति । भगवति परे वसोर्वस्य उः स्यात् । साराम निर्देश इति—अराम सहितस्य वरामस्य स्थाने उरामो भवतीत्यर्थः । वसोरिति सामान्येन ग्रहणं कवसोरपि प्राप्तचर्थम् । तेनकृतप्रकरणे ये आदि वस्प्रभृतयो वक्ष्यन्ते तेषामपि वरामस्य उरामो भवतीति दर्शयति—रूपाणि यथेति । आदुष इति—निमित्स्य वसो वरामस्यापायादिटा निवृत्तौ षत्वम् । उभयत्रेति—कवसौ विहित-विकल्पितेटो गम्लृधातो जर्ति जग्मिवस् जगन्वस् शब्दद्वयेऽपीत्यर्थः । जग्मिवस् शब्दस्य तु वस्योरामे कृते निमित्स्य वरामस्यापायात् पुनर्नरामस्य मरामः । ततो गमहनजनेत्यादि वक्ष्यमाणसूत्रेणोद्वादर्शने जग्मुष इति । एवं चतुर्भुजानुवन्धादीयसु प्रत्ययान्तानां श्रेयसप्रभृतोनां श्रेयान् श्रेयांसावित्यादि ।

अमृताऽ—१४२. पुंस इति । कृष्णस्थाने परे पुमस् शब्दस्य पुमसु रित्यादेशः स्यात् । गौणत्वे ब्रह्मणि दोषश्चेति—तत्रपाण्डवस्यहि सुटसज्जत्वेन ब्रह्मणिअतिपुमस् शब्दस्य द्वितीया बहुत्वे शौ त्वव्याप्ते:—‘अतिपुंसि’ इत्यनिष्टरूपं स्यादिति दोषः; यत स्तत्र

चतुर्भुजानुवन्धत्वम् अतो न तुम् । अत्र हेतुमाह,—अच उपादानादिति अन्यथा अच इति न कृतं स्यात् ॥१४०॥

बाल०—वसोर्वस्य । सारामनिर्देश इति अरामसहितस्म वरामस्य स्थाने उर्भवतीत्यर्थः । आदुष इति निमित्स्यापायादिटो निवृत्तिः । उभयत्रेति उभयत्र जग्मिवस् जगन्वस् इति शब्दद्वये । जग्मिवस् शब्दे वस्य उरामे कृते निमित्स्यापायादिटो निवृत्या जग्मुष इत्यादि भवति । जगन्वस् शब्दे तु वस्य उरामे कृते निमित्स्यापायान्नरामस्य मरामः । ततो गम्ह हन् जन् खन् घसामुद्धादर्शने कंसारि सर्वेश्वरे इः विनेत्यनेन उद्धवादर्शनमिति जग्मुष इत्यादि अत्र असिद्धरूपं न त्याज्यमिति प्रतिज्ञाया व्यभिचारो जात इति ज्ञेयम् ॥१४१॥

नुमा सर्वोऽप्यनुस्वारो लक्ष्यते इति भागवृत्तिकारादयः । अत औंणादिक-
सस्यास्य पुंस इत्यादौ तत्वं निषेधो वाच्यः । अत्रतु षत्वम्—पुंषु ।
नेत्यन्ये—पुंसु । उशनस्, उशना उशनसौ उशनसः ।

१४३. उशनसो नान्तत्वं सलोपित्वं विष्णुसर्गत्वच्च बुद्धे ।
हेउशनन् हेउशन हेउशनः । एवं अनेहा अनेहसौ । पुरदंशा पुरदंशौ ।

‘अतिपुमांसि’ इत्येवं भवितव्यम् । पुमानिति—चतुर्भुजानुबन्धत्वान्तुम्, नान्त धातुर्वर्जितेति
त्रिविक्रमः, सत्सङ्गान्तहरः, सोर्हरश्च । पुंम्यामित्यादि—सत्सङ्गान्तहरे मोविष्णुचकं,
ततो विष्णुपदान्त त्वाद् विष्णुचकस्य वा हरिवेणुः ।

नुमेति—षत्वविधौ “नुम् विष्णु सर्गं व्यवधानेऽपि” इत्यत्र नुमशब्देन सर्वविधोऽ-
प्यनुस्वारो लक्ष्यते; अर्थादिविष्णु पदान्तस्य नस्य मस्य च वैष्णवइति विधानानुसारतो
नराम स्थानिकं मरामस्थानिकच्च विष्णुचकं नुमशब्देन लक्ष्यीक्रियत इत्याहुर्भागवृत्ति-
कारादयः । अतः पुंसः पुंसा इत्यादौ मरामस्थानिकानुस्वार व्यवधानेऽपि षत्वं प्राप्तमिति
तत्त्विषिध्यति—औंणादिकप्रस्येति । अस्य पुंमस् शब्दस्य औंणादिक सस्य षत्वं निषेधो
वाच्यः, वक्तुमुचित इत्यर्थः । अन्येषामौणादिकसरामाणान्तु भवत्येव षत्वं—दोषः
हर्वींपीत्यादौ ।

पुंचिति—सत्सङ्गान्त सरामस्य हरे निमित्तापाये नैमित्तिक विष्णुचकस्यापाये च
पुनः “मो विष्णुचकं विष्णुजन” इति विष्णुचकम्, सुपः सस्य षत्वच्च । नेत्यन्य इति
पाणिनि-क्रमदीश्वरादयः । उशनेति—ऋरामसखिभ्यामिति सोराच् संसारहरश्च । उशना
शुक्रः । शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य उशना भार्गवः कवि रित्यमरः ।

अमृता०—१४३. उशनसइति । बुद्धेष्वे उशनसो नान्तत्वं—सरामस्थाने नरामः
सलोपित्वं—सरामस्य लोपः, तथा विष्णुसर्गत्वं—सरामस्य विष्णुसर्गच्च भवतीत्यर्थः । हे
उशनेति सलोपे कृते एओवामनेभ्यो बुद्धस्यादर्शनम् । हेउशन इति—सस्य विष्णुसर्गेकृते

बाल०—पुंसः । अत्र चेति । दोषमप्याह गौणत्वे ब्रह्मणि दोषश्चेति तथाहि अति-
पुम् इत्यादौ पुमसः स्यात् । नुमेति यस्य कस्यापि स्थाने योऽनुस्वारो विधीयते, नुमा स
सर्वोऽपि लक्ष्यते । षत्वविधाविति शेषः इति भाषावृत्तिकारादयो वदन्तीति शेषः । ननु
तर्हि पुंस इत्यादौ षत्वं कर्त्तव्याह अत इति अस्य औंणादिकस्येति सरामस्य
प्रत्ययत्वमूर्चनार्थमौणादिकसस्येव षत्वनिषेधज्ञापनार्थचोक्तम् । अत्र तु षत्वं पुंचिति यतः
स्वादिसरामोऽप्यम् । नेत्यन्य इति अन्ये क्रमदीश्वरादयः । उशनेति ऋरामसखिभ्यामुशनस्
इत्यादिना सोराच् । संसारस्य हरश्चिति इत्यमहरः ॥१४२॥

बाल०—उशः । बुद्धे परे उशनसो नान्तत्वं भवति । सरामस्य स्थाने नरामो
भवतीत्यर्थः । सलोपित्वमिति सरामस्य लोपो भवतीत्यर्थः । विष्णुसर्गन्तत्वच्चेति
सरामस्य विष्णुसर्गो भवतीत्यर्थः । हे उशनेति सलोपे कृते ‘एओवामनेभ्य’ इत्यादिना

हेअनेहः हेपुरदंशः । श्वेतवाह् पुरोडास् उक्थशास् प्रभृतयस्तु छान्दसाः ।
कृष्णवाह् ।

१४४. हस्य ढः नहो धः दादेस्तु धातोर्धः, द्वुह मुह नश स्तुह
स्निहां वा विष्णु पदान्ते वैष्णवे च ।

एते सर्वेऽपि धातवः । कृष्णवाट् कृष्णवाड् कृष्णवाहौ कृष्णवाहः ।

१४५. वाहो वा ऊऽ भगवति ।

१४६. अद्व्यादूठो वृष्णीन्द्रः ।

कृष्णौहः । कृष्णौहा कृष्णवाड् भ्यां कृष्णवाट् सु ।

अत्र कंसद्विदसु इत्यत्रच षष्ठोः कःसे इति नप्राप्नोति, अत्राकरशेन केवल-

अन्तरालपाठाद् विष्णुसर्गस्य विष्णुजनत्वस्वीकारेण राधाविष्णुजताभ्यामिति सोहंरः ।
अनेहा कालः ।

अमृता०—१४४. हस्येति । विष्णुपदान्ते विषये वैष्णवे च परे धातो हंरामस्य
द्वरामः स्यात्, नह बन्धने धातो हंस्य धः स्यात्, द्वरामादिधातोस्तु हस्य धः स्यात् । द्रुहादि
पञ्चानां धातूनामन्तवर्णः धरामो वा स्यात्, पक्षे यथासम्भवं द्वरामादयः । ननुहरामान्त-
धातूनामिह दृत्वे धत्वे विहिते, नशेस्तु हरामान्तत्वामावात् दृत्वमपि न सिध्यति कुतः
पुन धंत्वम् । अतएतैः सह नशे: पाठ उभयोऽन्नासम्भवादप्रासङ्गिक इति चेत् ? सत्यं
श्रयताम् । नशे धंत्वं वेति लक्षणेन पृथगारम्भेगौरवं स्यादिति यावत् सम्भवविद्वेरनुसरणे-
नेत्थं विवरणीयम्—द्रुहो दादित्वान्नित्यं धत्वे प्राप्ते पाक्षिकदृत्वम्, नशे: छशो रित्यनेन
नित्यंपत्वे प्राप्ते पाक्षिकधत्वम्, अन्येषां नित्यं धत्वे प्राप्ते पाक्षिक धत्वमनेन विहितमिति ।
अन्येषामुदाहरणानि वक्ष्यन्ते । नणः—नक् नग् नट् नग्भ्यां नड्भ्यां नक्षु नट्मु ।
कृष्णवाट् वासुटेवः ।

अमृता०—१४५. वाह इति । भगवति परे वाह् इत्यस्य वा स्थाने ऊऽ भवति ।
वा इति लुप्तपष्ठीकः ।

अमृता०—१४६. अद्व्यादिति । अद्व्यात् परस्य ऊठो वृष्णीन्द्रः स्यात् । पुनः
सन्धिना कृष्णौहः । अत्र कृष्णवाट्मु इत्यत्र । अकरणेऽपि हेतुः—केवलधातु विषयत्वादिति ।

बुद्धस्यादर्शनम् । हे उशन इति सस्य विष्णुसर्गे कृते अन्तरालपाठद्विष्णुसर्गस्य विष्णु-
जनत्वात् राधाविष्णुजनाभ्यामित्यादिना सोहंरः ॥१४३॥

बाल०—हस्य ढः । हस्य स्थाने ढो भवति, नहो हस्य स्थाने धो भवति, दादे-
धातोस्तु हस्य स्थाने धो भवति, द्रुहमुहादीनामन्तस्य धो वा भवति विष्णुपदान्ते वैष्णवे
चेति सर्वत्र योज्यं सर्वेऽपीति सर्व एवेत्यर्थः ॥१४४॥

बाल०—वाहो वा । वेति सूत्रबलेन लुप्तपष्ठी ॥१४५॥

धातु विषयत्वात् । ततश्च कृष्णवाट् सादिभवतीत्यादौ कृदन्तधातो स्तद्वितोऽपि नस्यात् । सम्मत रूपत्वात् । पाणिनीयैरपि समाधेय-मेवेदम् । असुपीत्युक्त्वापि क्रमदीश्वर-पद्मनाभाभ्यां तद्विते तु समाधेय मेव। कृष्णपण्डित स्त्वपदान्त इत्युक्त्वा सर्वमेव समाधेय।

अथ अनङ्गुह् । चतुरनङ्गुहो राम् ।

१४७. अनङ्गुहो नुम् च सौ ।

सतसङ्गान्त हरः । असिद्धत्वान्ननस्यहरः । अनङ्गवान् अनङ्गवाहौ अनङ्गवाहः । अनङ्गवाहम् अनङ्गवाहौ अनङ्गुहः । अनङ्गुहा अनङ्गुदभ्याम् । बुद्धेत्वम् हेअनङ्गवन् ।

विववन्तस्य धातुत्वेऽपि नामत्वविद्यमानत्वान्न केवल धातुत्वम्; शुद्धधातुत्वाभाव इत्यर्थः । कृष्णवाट्सादिति—देये अधीने च सातिप्रत्यय स्तद्वितः । पाणिनीयैरपि कृष्णवाट् सादिति रूपं समा धातुत्वम् । अत्र च समात्र निमित्तत्वेन तद्वित साति प्रत्ययेऽपि व्याप्तेः समाधान-मावश्यकमित्यर्थः । असुपीत्युक्तेऽपि सुवृभिन्ने तद्विते अतिप्रसङ्गः स्यादिति तत्र च समाधानं कर्तव्यं क्रमदीश्वर-पद्मनाभाभ्याम् । कृष्णपण्डितः प्रक्रिया कौमुदी टीकाकारः । तेन खलु “पढोः कः सेऽपदान्ते” इत्येवं व्याख्यातम् । तेन॑ धातुविषयत्व मेवायातम् । कृष्णवाट्सु कृष्णवाट्सादित्यादौ पदान्तत्वान्न कत्व प्रसङ्ग इति सम्यक् समाहितं तेन ।

अमृतां—१४७. अनङ्गुह इति । असिद्धत्वादिति—क्वचिदन्तरङ्गे कार्ये क्रियमाणे इत्यादि न्यायेन नस्य हरो न भवति । अत्रान्तरङ्गकार्यं नरामहरः, स्वल्पाश्रितत्वात् । वहिरङ्गं सतसङ्गान्तहरः, वह्वाश्रितत्वात् । अनः शक्तं वहतीति अनङ्गवान् वृषभः । अनङ्गुदभ्यामिति—ध्वंसु स्तं सु इत्यादिना हरामस्य दरामः । गोधुगिति—दादेस्तु धातो धं इति हस्य घत्वम् । विष्णुदास इत्यादिना घरामस्य गरामः ।

बाल०—अद्व । अत्रेति अत्र कृष्णवाट् सु इत्यत्र च । हेतुमाह अत्रेति अत्र नामज-विष्णुपदप्रकरणे अकरणेन तस्य लक्षणस्य केवलं धातुविषयत्वादिति । ततश्चेति ततः केवलधातुविषयत्वादेतोः कृष्णवाट् सादिति साति प्रत्ययस्तद्वितः । तद्वितेऽपि न स्यादिति । यतः अत्र केवलधातुविषयत्वाभावः । सम्मतेति कृष्णवाट् सादित्यादेः सर्व-सम्मतरूपत्वात् पाणिनीयैरपि इदं कृष्णवाट् सादित्यादिकं रूपं समाधेयमेव, तेषामत्र स्पष्टं समाधानं नास्तीति तैरप्यत्र समाधानं कर्तव्यमित्यर्थः । असुपीति क्रमदीश्वर-पद्मनाभाभ्यामसुपीत्युक्त्वा कृष्णवाट्स्वित्यादिकं समाहितं तद्विते कृष्णवाट् सादित्यादिकन्तु ताभ्यां समाधेयमेव भवति, न तु समाहितम् । कृष्णेति कृष्णपण्डितः प्रक्रियाटीकाकारः । अपदान्त इत्युक्त्वेति करामविधानसूत्रे इति शेषः । कृष्णवाट् सादित्यादौ च पदान्तत्वादसमाधेय-परो न भवतीति ॥१४६॥

बाल०—अन । असिद्धत्वादिति क्वचिदन्तरङ्ग इत्यादि न्यायेनेति शेषः । गोधुगिति

गोदुह । जवर्जहरिगदादेरित्यादि; गोधुक् गोधुग् गोदुहौ गोधुग्भ्यां
गोधुक्षु । घत्वे धातोरित्यौपदेशिकत्वमेव गृह्यते, तेनदामलिङ्गिवाचरतीति
क्विवन्तात् क्विपि दामलिट् ।

कंसद्रुह् । कंसधुक् कंसधुग् कंसधुट् कंसधुड् कंसद्रुहौ । कंसधुग्-
भ्याम् कंसधुड् भ्याम् । एवं कृष्णमुह् कृष्णस्त्विह् इत्यादयः । कृष्णा-
डिग्रिलिह् । हस्य ढः, कृष्णाडिग्रिलिट् कृष्णाडिग्रिलिड् कृष्णाडिग्रिलिहौ ।
तुरासाह् ।

१४८. साढः षाट् ।

तुराषाट् तुराषाड् तुरासाहौ तुरासाहः । तुराषाड् भ्याम् ।

॥ इति विष्णुजनान्ताः पुंलिङ्गाः ॥

घत्वे इति—घत्वविधान सूत्रे धातो रिति औपदेशिकत्वं आद्योद्वारण सिद्ध धातुत्वं
नतु कृत्रिमम्; गण पठितधातुरेव गृह्यत इति फलितार्थः । तेनेति—दामलिहातीति क्विपि
दामलिट् शब्दः । ततो दामलिङ्गिवाचरतीत्यर्थं क्वचित् क्यडः क्विविति नामधातौ
दामलिट् पुनस्तस्मात् कृतक्विपि दामलिट् शब्दः । इहनामधातो धर्तित्वेऽपि न हि
स्वाभाविकधातुत्वं, नाम्न उत्तरे प्रत्ययान्तरेण तद्विधानात् । अतो हस्थानिकस्य टरामस्य
न हि घत्वमित्यभिप्रायः । एवं कृष्णस्त्विक् कृष्णस्त्विट् कृष्णस्त्विग्भ्यां कृष्णस्त्विड्भ्यां
कृष्णस्त्विक्षु कृष्णस्त्विट्म् ।

अमृता०—१४८. साढ इति । साढः स्थाने साट् स्याद् विष्णुपदान्त इति शेषः ।
हस्य स्थाने ढेकृतेसति घत्वं भवतीत्यर्थः । तुरं वेगं सहत इति तुराषाट् देवराजः ।

॥ इतिव्याख्याता विष्णुजनान्ताः पुलिङ्गाः ॥

दादेस्तु धातोर्ध इति हस्य घः, विष्णुदास इत्यादिना घस्य गः, विष्णुदासस्य हरिकमल-
मित्यादिना गस्य कः, पक्षे गरामस्यैव स्थितिः । घत्व इति घरामविधाने धातोरित्यस्य
औपदेशिकत्वमेव गृह्यते । उपदेशे उद्वारणमात्रे यो दादिधातस्तस्य हरामस्य स्थाने घो
भवतीत्यर्थः । गणपठित-धातोरेव ग्रहणमिति फलितार्थः । तेनेति दामलिङ्गिवाचरतीति
य इवाचरति तस्मात् क्यडिति क्यड्, क्वचित् क्यड क्विप्, ततः कृत् क्विप् क्विविति
क्यड क्विप् । कंसधुगिति द्रुहमुहेत्यादिना हस्य घः, पक्षे हस्य ढः कंसधुडिति ॥१४८॥

बाल०—साढः । साढः स्थाने षाट् स्यात्, हस्य स्थाने ढे सति घत्वं भव-
तीत्यर्थः ॥१४८॥

॥ इति विष्णुजनान्ताः पुलिङ्गाः ॥

अथविष्णुजनान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

तत्र चरामान्त ऋच् । चवर्गस्येति ऋक् ऋग् ऋचौ ऋचः । ऋग्भ्यां
ऋक्षु । एवंत्वच् वाच् ।*

स्त्रज् दिशदृश् इत्यादि-स्त्रक् स्त्रग् स्त्रजौ स्त्रजः । समिध् समित् समिद् ।
सीमन्—सीमा सीमानौ सीमानः । सीम्नः सीम्ना । ईड्योस्तु वा
सीम्नि सीमनि ।

अप् नित्यं वहुवचनान्तः । नान्तेति त्रिविक्रमः—आपः अपः ।

१४८. अपो दोभे ।

अद्विः अप् सु । हे आपः । तदन्तत्वात् स्वद्विरित्यादि । ककुभ्—ककुप्
ककुव् ककुभौ ककुव्भ्यां ककुप्सु । गिर,—इरुरन्तधातोः । गीः गिरौ
गिरः । गीर्भ्याम् गीर्षु । एवं पुर्—पूः पुरौ पुरः । चतुर्—द्वियां
चतस्रादेशः । चतस्रः चतस्रः चतस्रूभिः चतस्रृभ्यः चतस्रृणां चतस्रृषु ।
लक्ष्मीस्थयोरिति विशेषणात् समस्तस्यान्यलिङ्गत्वेऽपि तत्तदादेशः ।
प्रियास्तिस्रो यस्य सप्रियतिसा प्रियतिस्रौ प्रियतिस्रः । प्रियचतसा
प्रियघतस्रौ प्रियचतस्रः । डसिडःसोः प्रियतिस्रः प्रियचतस्रः । प्रिय-

ऋच्यते स्तूयतेऽनया ऋक् वेदोमन्त्रश्च । क्षुत तडित् सरित् प्रभृतयः कंसजित्
शब्दवत् । उषनिषद् सम्पद् सम्बिद् शरद् दृष्टद् मृद् प्रभृतयः कृष्णविद् वत् । समित्
तृणकाष्ठादीन्धनम् । पामम् शब्दो रोगवाची सीमन् वत् । आप्नुवन्तीति आपः जलानि ।

अमृतां—१४८. अप इति । भरामे परे अपोऽन्तस्य दराम आदिश्यते । भे इति
किम्—अप्सु । ककुभ्शब्दो दिग्वाची । इरुरन्त धातोरित्यादिना उद्वस्य त्रिविक्रम
इतिशेषः ।

गृणातीति गी वर्क् । प्रियचतसेति—प्रियाश्रतस्रो यस्येति विग्रहः । प्रियतिस्र इति

अथ विष्णुजनान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

बाल०—अपो । भे परे अपोऽन्तस्य दो भवति । इरुरन्तधातोरित्यादिना उद्वस्य
त्रिविक्रमः । प्रियचतस्येति प्रियाश्रतस्रो यस्येति विग्रहः प्रियतिरिति प्रियाख्यः प्रियाणि
त्रीणि वा यस्याः सेति अत्र समस्तस्यैव लक्ष्मीत्व न तु त्रिशब्दस्येति न तिस्रादेशः ॥१४८॥

* एवं सत्र शुच् प्रभृतयश्च । रुज्शब्दो व्याधिवाची स्त्रज् वत् ।

१ एवं क्षुध् युध् वीर्यादयश्च ।

तिसृणाम् । समस्तमात्रस्य लक्ष्मीत्वेतु प्रियत्रिः प्रियत्री प्रियत्रयः । दिव् ।

१५०. दिव ओसौ ।

द्यौः दिवौ दिवः । दिवं दिवौ दिवः । दिवा

१५१. दिव उविष्णुपदान्ते ।

द्युभ्यां द्युषु । दिश्—दिक्दिग् दिशौ दिग्भ्याम् दिक्षु । एवं दृश् अथ-
द्विष् कंसद्विष्वत् । एवंविप्रुष् । अथाशिष्—सजुषित्यादिना रः ।
आशीः आशिषौ आशिषः । आशीभ्याम् आशीषु । उष्णह्—उष्णिक्
उष्णिग् उष्णिहौ । उपानह्—नहोधः—उपानत् उपानद् उपानहौ ।

॥ इति विष्णुजनान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥

—तिस चतस्रो रिति रः । प्रियत्रिरिति—प्रिया स्त्रयः प्रियाणि त्रीणि वा यस्या इति
विग्रहः ।

अमृताऽ—१५०. दिव इति । सौपरे दिवः अन्तस्य औरामादेशः स्यात् । द्यौः
स्वर्गः । सुरलोको द्यौ दिवौ द्वेष्मियां कलीवे त्रिपिष्ठपमित्यमरः ।

अमृताऽ—१५१. दिव उरिति । विष्णु पदान्ते विषये दिवोऽन्तस्य उरामादेशो
भवति । द्युभ्यामिति—वरामस्योरामे सति इद्यमेव यः सर्वेश्वर इति यरामः । विप्रुड्
विन्दुः । पृष्ठन्ति विन्दु पृष्ठताः पुमांसो विप्रुषेष्मियामित्यमरः । एवं रूष् तृष् त्विष्
प्रभृतयः । त्विट् कन्तिः । तथा सरामान्ता अप्सरस् सुमनस् प्रभृतयो वेदस् शब्दवज्
ज्ञेयाः । उष्णिक् सप्ताक्षरचरणं छन्दः । सज्जदिष्मित्यादिना करामः । उपनह्यति पाद-
मित्युपानत् पादुकेत्यर्थः ।

॥ इति व्याख्याता विष्णुजनान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥

बाल०—दिवः सौ परे दिवोऽन्तस्य और्भवति ॥१५०॥

बाल०—दिवः । विष्णुपदान्ते विषये दिवोऽस्य उर्भवति ॥१५१॥

॥ इति विष्णुजनान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥



अथ विष्णुजनान्ताः नपुंसकलिङ्गाः ।

तत्रापि प्रत्यच् । प्रत्यक् प्रतीची प्रत्यश्चि । २ । प्रतीचा प्रत्यग्भ्याम् ।
एवंप्राच् । प्रत्यञ्च् प्राञ्च् शब्दयोस्तु—प्रत्यड् प्रत्यश्ची प्रत्यश्चि । २ ।
शौडरामद्वयंलेख्यं किन्तु मितः स्थाने नरामसदभावे नुम् न दृश्यते । यथा
कंसहिसो ब्रह्मणि—कंसहिसीति केवलं विष्णुचक्रं स्यात् ।

तिर्यच्—तिर्यक् तिरश्ची तिर्यश्चि । २ । ऊर्ज—ऊर्क् ऊर्ग् ऊर्जो ऊर्जि । २

१५२. वहूर्जो नुम् प्रतिषेधः ।

वहूर्जि । अन्त्यात् पूर्वं नुमिच्छन्त्येके । वहूर्जीति ।

जगत् जगती जगन्ति । २ ।

अथ शत् प्रत्ययान्तभवत्—भवत् । ईप्रत्यये नुम् कृत् प्रकरणे वक्ष्यते—
भवन्ती भवन्ति ।

प्रतीची इति—अचोडरामहरो भगवतीत्यरामहरे निमित्तापाये नैमित्तिकस्य
यरामस्येराम स्तत स्तस्य त्रिविक्रम्य । प्रत्यश्चि इति—शैःकृष्णस्थानसंज्ञत्वेन तस्मिन् परे
सर्वेश्वर वैष्णवान्तयोरिति नुम्, तवर्गस्य चर्वग इति नरामस्य ब्ररामः । टादौ पुरुषोत्तम-
वत् । शौडरामद्वयं लेख्यमिति—पूजार्थवाचिनां प्रत्यञ्चादिशब्दानां शौ—सर्वेश्वर
वैष्णवान्तयोरित्यनेन नुमि कृतेभ्रामद्वयं लेख्यं, नुमोऽपरिहार्यत्वात् । किन्तु मितः स्थाने
अर्थादिन्त्यसर्वेश्वरातपरे नरामे विद्यमाने सति नुम् न दृश्यते, नतिष्ठतीत्यर्थः । अन्यदप्युदा-
हरति—यथेति । कंसहिसीत्यत्र केवलविष्णुचक्रमेव तिष्ठति नतु नुम् । धातोः सरामत्वादिह
नष्टत्वम् । तिरश्चीति—तिर्यच स्तिरश्चिरिति तिरश्चादेशः । शोणित वाची असृज शब्द
ऊर्ज वत् ।

अमृता०—१५२. वहूर्ज इति । सर्वेश्वर वैष्णवान्तयोरिति शौ प्राप्नुम्—वहूर्ज्
शब्दस्यनिषिद्धः स्यात् । अन्त्यादिति—जरामात् पूर्वं ररामात् परम् । तथाहि वार्त्तिकं—
अन्त्यात् पूर्वं नुममेक इति । भाष्यमते तु नुम् न प्राप्नोति । “अचः परो यो फल् तदन्तस्य

अथ विष्णुजनान्ताः नपुंसकलिङ्गाः ।

प्रतीची इति अचोडराम हर इत्यादिना अरामहरः । निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्य-
पाय इति न्यायेन यरामस्य इरामस्ततस्त्रिविक्रमश्च । शाविति शौ ब्रराम द्वयं लेख्यं भवति
सर्वेश्वर-वैष्णवान्तयोर्नुम् शावित्यनेन विहितस्यनुमोऽपरिहार्यत्वादिति शेषः, किन्तु मितः
स्थाने अन्त्यसर्वेश्वरात् परे नरामसद्वावे नरामविद्यमानतायां सुम् न दृश्यते नुम् न तिष्ठ-
तीत्यर्थः । यथेति कंसहिसो ब्रह्मणि शौ कंसहिसीति भवति । अत्र केवलं विष्णुचक्रं भवति,
न तु नुम् तिष्ठतीति । तिरश्ची इति तिर्यचस्तिरश्चित्यादिना तिर्यचस्तिरश्चि ।

बाल०—वहूर्जो । अन्त्यादिति अन्त्यात् जरामात् । ईप्रत्यये नुम् कृतप्रकरणे

तुदत् भात् करिष्यत् प्रभृतीनां विकल्पः । तुदत् तुदत् तुदती तुदन्ती
तुदन्ति । एवं भात् भाती भान्ती । करिष्यत् करिष्यती करिष्यन्ती ।
महच्छब्दः—महत् महती महान्ति ॥२॥ ब्रह्मन्—ब्रह्म । वमसत्सङ्ग-
हीनस्येति विशेषणादरामहराभावः । ब्रह्मणी ब्रह्माणि ॥२॥ ब्रह्मणा
ब्रह्मभ्याम् ।

१५३. नस्य हरो वा ब्रह्मणि बुद्धे ।

हेब्रह्म हेब्रह्मन् । एवं चर्मन् वर्मन् शर्मन् ।

अथ अहन् ।

१५४, अहो विष्णुसर्गां विष्णुपदान्ते ।

न समासे पुंसीति वाच्यम् ।

अहः । ईड्योस्तु वा, धातुत्वाभावाद् धत्वाभावः ।

अहो अहानि ॥२॥ अहो ।

१५५, अस्य स्वाद्यभावेव रविधि वर्च्यः ।

अहोभ्याम् । बुद्धेऽपि हेअहः । समासेपुंसि तु दीर्घाहा निदाघः । बुद्धेतु

नुम्” इत्येवं व्याख्यानात् । तुमुकुदप्रकरणे वक्ष्यत इति—शप् शाभ्यां शतु नुम् ईप्रत्यये
इत्यनेन । तुदत् प्रभृतीनां विकल्प इति—तत्रैव शेषाद्वयात् वेत्यनेन । महान्तीति—
नान्तत्यादि लक्षणे महदपामित्यनेनोद्भवस्य त्रिविक्रमः । ब्रह्मभ्यामिति—नामान्तस्येति
नस्य हरः ।

अमृताऽ—१५३. नस्येति नपुंसक लिङ्गे बुद्धे परे नस्य हरो वा स्यात् । नामान्तस्य
नस्य हरो बुद्धं विनेति नित्यं हराभावे प्राप्ते विकल्प वचनम् । नामन् शब्दस्य नाम
नामनी नामनी नामानि । ठादौ पुरुषोत्तमवत् । एवंप्रेमन् धामन् व्योमन् प्रभृतयो नामन्
वत् । तथा जन्मन् कर्मन् मर्मन् वर्तमन् भस्मन् छदमन् सद्यन् प्रभृतयश्च ब्रह्मनवत् ।

अमृताऽ—१५४. अहो इति । विष्णुपदान्ते विषये अहन् शब्दस्य नरामस्य विष्णु
सर्ग आदिश्यते । समासे पुंसि तु स न भवति । धातुत्वाभावादिति—हनो हस्य घो
णिन्नयोरित्यनेन घरामो नभवति, यतस्तलक्षणं हनधातुपरमेव ।

अमृताऽ—१५५. अस्येति । अहन् शब्दसम्बन्धीय-विष्णुसर्गस्य स्वादिप्रत्ययाभावे

वस्यत इति ‘शप् शाभ्यां शतु नुम् ईप्रत्यये’ इत्यनेनेति शेषः । तुदत् भातृकरिष्यतप्रभृतीनां
विकल्प इति शेषाद्वयात् वेत्यनेनेति शेषः ॥१५२॥

बाल०—नस्य । सुगमम् ॥१५३॥

बाल०—अहो । विष्णुपदान्ते विषये अहोऽन्तस्य विष्णुसर्गो भवति । न समासे ।
धातुत्वाभावात् । हनो हस्य घो निन्नयोरित्यनेन घो न भवति ॥१५४॥

हेदीर्घाहन् । अत्रणत्वं वाच्यम्—दीर्घाहाणौ दीर्घाहाणः दीर्घाह्लः । सुपथिन्—सुपथि सुपथी सुपन्थानि । शसि च सुपन्थानि । पथ्यादीनां सुटि नुमिति तस्यां ध्रमः ।

दृष्टशार्ज्जन्—दृष्टशार्ज्जः दृष्टशार्ज्जणी दृष्टशार्ज्जर्णि । एवं दृष्टकंसह दृष्टकंसहनी दृष्टकंसधनी दृष्टकंसहानि । २। दृष्ट पूष्ट दृष्टार्यमन् ।

स्वप् स्वपी, नान्तधातुवर्जितेति त्रिविक्रमः स्वाम्पि । २। स्वद्वच्याम् । वार्—वा: वारी वारि । २। अनीश्वरादपि ररामजः—वाभ्याम् ।

अत्रापि चतुर्—चत्वारि । २।

पयस्—पयः पयसी पयांसि । २। पयोभ्याम् । (१)

एव रविधिर्वाच्यः; “अहो विष्णुसर्गस्य रः” इत्यादिना विहितो रविधि रित्यर्थः । तेनात्र स्वादित्वात् अहोभ्यामिति नरामः किन्तु “आदरामगोपालयो” रिति सन्धिरेव । दीर्घा—हेति—दीर्घाणि अहानि यत्रेति पीताम्बरः । तस्यान्यपदार्थवाचित्वात् पुरुषोत्तमता । निदाघो ग्रीष्मकालः । दीर्घाहिति—समासे पुस्त्वान्न विष्णुसर्गः । णत्वं वाच्यमिति—समासे पूर्वं पदावस्य णोवक्ष्यते । सुन्दरः पन्था यत्र तत् सुपथि नगरम् । सुपथि इति—नामान्तस्य नस्य हरः । सुपथी इति—पथ्यादीनां संसारहरो भगवतीति संसारहरः । सुपन्थासीति—पथ्यादीनामिरामस्थारामः कृष्णस्थाने, थात् पूर्वं नुक् च । पथ्यादीनां सुटिनुमिति—तथा सति शसः स्थाने शेः सुट्वाभावात्तत्र नुमः (तन्मते नुकः) प्राप्ति नं स्यादिति दोष एव ।

दृष्टशार्ज्जर्णिति—इन्द्रहन्तियादिना शौ उद्धवस्य त्रिविक्रमः । दृष्टकंसधनी इति—अनोऽरामहरे हनो हस्य धः । ईङ्गचोस्तु वेति अरामहराभावपक्षे दृष्ट कंसहनी इति । सुषु आपो यस्मिन् तत् स्वप् सरः । स्वद्वच्यामिति—“अपो दो भे” इति परामस्य दरामः । पयः क्षीरं पयोऽम्बुचेत्यमरः । घृतमाज्यं हविः सर्पिरिति चामरः । हविषी इति—प्रत्ययसरामत्वादीश्वरात् पत्वम् । हविषु इति—सररामयो रिति विष्णुसर्गः, ततस्तद व्यवधाने इपि पत्वमित्यर्थः ।

अतिपुमिति—अतिक्रान्तं पुमांसमितिविग्रहः । अन्तरालं पाठाद् विष्णुचकस्य

बाल०—अस्य । अस्य विष्णुसर्गस्य स्थाने रविधिः स्वाद्यभाव एव वाच्यः, तेन अहोभ्यामित्यादौ अहो विष्णुसर्गस्य र इत्यादिना ररामो न भवति दीर्घाहेदि दीर्घानि अहानि यत्रेति विग्रहः । पथ्यादीनामिति अस्माभिः कृष्णस्थाने थात् पूर्वं लुभिवधीयते, अतः सुपथीत्यादौ न लुग्म भवति । सुटि परे थात् पूर्वं नुम् भवतीति प्रक्रियाकौमुदीमतं तत्तु भ्रम एवेति । दृष्टकंसधनी इति हनोदस्य धो निन्नयोरिति हस्य धः । स्वद्वयामिति

१. एवं अभ्स् अर्स् आग्स् उर्स् एन्स् ओजस् तप्स् तेजस् तमस् नमस् मनस् यशस् रहस् वचस् वत्स् वासस् शिरस् श्रेयस् सरस् सदसादयः ।

हविस्—हविः । औणादिकसरामोऽयं प्रत्ययः । अतः षत्वम्—हविषी
हवीषि । २। हविर्धर्मम्, विष्णुसर्गः षत्वं—हविःषु । शौरित्वं हविष्षु ।
एवं धनुस् । (१)
अतिपुंस्—अतिपुम् अतिपुंसी अतिपुंमासि । २।
स्वनडुह्—स्वनडुत् स्वनडुही स्वनड्वांहि । २।

॥ इति नपुंसकलिङ्गाः ॥
॥*॥ इति लिङ्गन्त्रयं दर्शितम् ॥*॥

सर्वेश्वरत्वं विष्णुजनत्वच्च स्वीकारादिहतुविष्णुजनत्वमनेन सत्सङ्गान्तस्य सस्य हरः,
अथ निमित्तापायात् विष्णुचक्रस्य पुनर्मरामः । अतिपुमांसीति—पुंसः पुमसुरिति पुमसादेशो
विष्णुचक्रेण सान्तसत्सङ्गत्वादुद्वस्य त्रिविकमः । पत्वन्तु निषिद्धं पुलिङ्गप्रकरणे ।
स्वनडुदिति—ध्वंसु सु वस्वनडुहमिति हरामस्य दरामः । अनडुवांहीति—चतुरनडुहो-
रित्याम्, सर्वेश्वरवैष्णवान्तयोरिति नुम् । न चामः प्रागेव नुमि कृतेऽपि तुल्यमेव रूपमिति
किमनयासाधनरीत्येति वक्तव्यम् । नुम् विधिर्वहाश्रितत्वाद् वहिरङ्गम्, आमृविधिस्तु
स्वल्पाश्रितत्वेनान्तरङ्गम् । अतो वलवत्त्वादादौ हि आमः प्रवृत्ति स्ततो नुम इति ।

॥ इति व्याख्यातं लिङ्गन्त्रयम् ॥

अपोदोभे इत्यनेन परामस्य दः । अतिपुमिति सत्सङ्गान्तस्य हर इत्यादिनासराम-
हरः ॥१५५॥

॥*॥ इतिन पुंसकालिङ्गाः ॥*॥



